UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186494

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—707—25-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H100 S56V Accession No. PG.11635

Author शुक्ल, रामचन्द्र

Title विश्वप्रपंच · 1962

This book should be returned on or before the date last marked below

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, काशी
द्वितीय संस्करण : ११०० प्रतियाँ, सं० २०१६ वि०
मूल्य ~~ि~~ रु०

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी स्थापना के साथ ही साथ हिंदी वाङ्मय की समृद्धि के लिए योजनाबद्ध रूप से कार्य करने का जो संकल्प मूर्त किया उसकी प्रतिष्ठा सार्वलौकिक है। उसके ऐसे प्रयत्नों में 'मनोरंजन पुस्तकमाला' की योजना हिंदी को संपन्न करने की दृष्टि से अभूतपूर्व एवं अनन्य है। सभा ने सन् १९१३ ई० में ही स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास के संपादकत्व में विविध विषयों से युक्त इस ग्रंथमाला का आयोजन किया जिसमें १०० ग्रंथों के प्रकाशित करने का संकल्प था। इस ग्रंथमाला को अपने युग के सभी श्रेष्ठ साहित्यस्रष्टाओं का योग प्राप्त हुआ। इसे इतने अल्प मूल्य में भी निकालने का संकल्प किया गया था कि हिंदी में श्रेष्ठ पुस्तकें सर्वजन-सुलभ हो सकें। आज हिंदी में जेबी पुस्तकों का जो प्रसार दीख पड़ रहा है उसकी मूल प्रेरणाभूमि यह ग्रंथमाला है। इसमें प्रकाशित ग्रंथों के विषय का चयन भी अत्यंत गुरुता एवं व्यापकता के साथ किया गया। इसमें अबतक ६१ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ भी इसी ग्रंथमाला का एक अनुपम रत्न है। जगद्विख्यात प्राणितत्ववेत्ता एवं अनात्मवादी आधिभौतिक दर्शन के विश्रुत दार्शनिक हैकेल की महान कृति 'रिडल आफ दी यूनिवर्स' का यह स्वतंत्र अनुवाद है। यह हैकल के अनन्य अंग्रेज समर्थक अनुयायी मेसकैब के सन् १९०० में जर्मन से किए गए अंग्रेजी अनुवाद पर आधृत है। यह ग्रंथ अपने विषय के आधारग्रंथ के रूप में विश्व में समादृत है। विश्व की प्रायः सभी संपन्न भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

यह ग्रंथ पहले दो खण्डों में संवत् १९७७ में प्रकाशित हुआ था और इसे अब उपयोगिता की दृष्टि से एक खंड में कर दिया गया है। इसके साथ ही शुक्ल जी ने यथास्थान भारतीय दृष्टि का संकेत भी पादटिप्पणी में आधिकारिक ढंग से किया है। दर्शन के क्षेत्र में शुक्ल जी के कृतित्व का यह ग्रंथ आख्याता है। अनुवाद कला की दृष्टि से यह ग्रंथ प्रतिमान का आदर्श है। उपयोगिता की दृष्टि से इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि केवल हिंदी और संस्कृत जाननेवाले भी इसका उपयोग अत्यंत सहजतापूर्वक बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। अपने क्षेत्र में सभी दृष्टियों से इस ग्रंथ का सनातन गौरव है।

इस ग्रंथ में छापे की जो भूलें आ गयीं थीं उनका परिष्कार भी कर दिया गया है। आशा है इससे इसकी उपयोगिता में और भी वृद्धि होगी।

चैत्र नवरात्र,
सं० २०१९ वि०

सुधाकर पांडेय
प्रकाशन मंत्री

प्रथम संस्करण का वक्तव्य

आज जर्मनी के जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकल की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडल् आव् द यूनिवर्स' हिंदी पढ़नेवालों के सामने रखी जाती है। यह अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत ग्रंथ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ योरप में इसकी धूम सी मच गई। अकेले जर्मनी में दो महीने के भीतर इसकी ६००० प्रतियाँ खप गईं। योरप की सब भाषाओं में इसके अनुवाद निकले। अँगरेजी की तो लाखों कापियाँ पृथ्वी के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक पहुँच गईं। इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकलीं।

पुस्तक में आधुनिक दर्शन और विज्ञान से संबंध रखनेवाली जिन जिन बातों का उल्लेख है उन सब की थोड़ी बहुत चर्चा भूमिका में इसलिये कर दी गई है जिसमें अभिप्राय समझने में सुबीता हो। पुस्तक के भीतर भी स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं।

भाषा के संबंध में इतना कह देना अनुचित न होगा कि उसे केवल हिंदी या संस्कृत जाननेवाले भी अपनी विचार-पद्धति के प्रायः अनुरूप पायेंगे। कौन सा वाक्य किस अँगरेजी वाक्य का अक्षरशः अनुवाद है इसका पता लगाने की जरूरत किसी को न होगी।

रामचंद्र शुक्ल

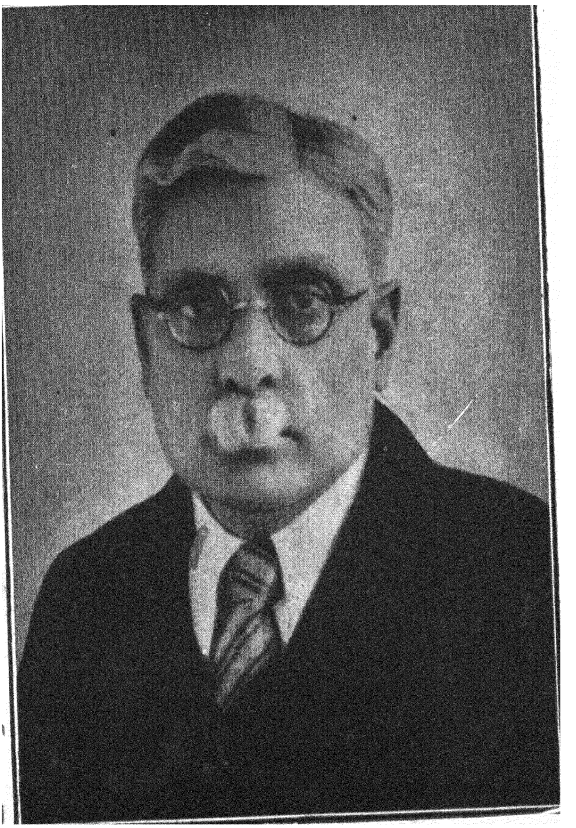

आचार्य रामचंद्र शुक्ल
(सं० १९४१-१९९८)

विषयसूची

विषय	...	पृष्ठ
भूमिका	...	१–१२६
पहला प्रकरण : जिज्ञासा	...	१–१३
दूसरा प्रकरण : हमारा शरीर	...	१४–२३
तीसरा प्रकरण : हमारा जीवन	...	२४–३०
चौथा प्रकरण : गर्भविधान	...	३१–४१
पाँचवाँ प्रकरण : मनुष्य की उत्पत्ति	...	४२–५२
छठा प्रकरण : आत्मा का स्वरूप	...	५३–६८
सातवाँ प्रकरण : मनोविधान की श्रेणियाँ	...	६९–८९
आठवाँ प्रकरण : आत्मा का गर्भविकास	...	९०–९८
नवाँ प्रकरण : आत्मा का विकास	...	९९–११४
दसवाँ प्रकरण : चेतना	...	११५–१२४
ग्यारहवाँ प्रकरण : आत्मा का अमरत्व	...	१२५–१३५
बारहवाँ प्रकरण : मूल प्रकृति की व्यवस्था	...	१३६–१५०
तेरहवाँ प्रकरण : जगत् का विकास	...	१५१–१६७
चौदहवाँ प्रकरण : प्रकृति की अद्वैत सत्ता	...	१६८–१८४
पंद्रहवाँ प्रकरण : ईश्वर और जगत्	...	१८५–१९६
सोलहवाँ प्रकरण : ज्ञान और विश्वास	...	१९७–२११
सत्रहवाँ प्रकरण : विज्ञान और ईसाई मत	...	२१२–२२३
अट्ठारहवाँ प्रकरण : ज्ञानतत्वोपासना	...	२२४–२३१
उन्नीसवाँ प्रकरण : तत्वाद्वैत दृष्टि से धर्म	...	२३२–२४४
बीसवाँ प्रकरण : जगत् के रहस्यों का उद्घाटन	...	२४५२–५६

भूमिका

गत शताब्दी में योरप में ज्यों ज्यों भौतिक विज्ञान, रसायन, भूगर्भविद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान इत्यादि के अंतर्गत नई नई बातों का पता लगने लगा और नए नए सिद्धांत स्थिर होने लगे त्यों त्यों जगत् के संबंध में लोगों की जो भावनाएँ थीं वे बदलने लगीं। जहाँ पहले लोग छोटी से छोटी बात के कारण को न पाकर उसे ईश्वर की कृति मान संतोष कर लेते थे वहाँ चारो ओर नाना विज्ञानों[1] के द्वारा कार्य कारण की ऐसी विस्तृत शृंखला उपस्थित कर दी गई कि किसी को बीच ही में ठिठकने की आवश्यकता न रह गई। ज्ञान दृष्टि को बहुत दूर तक बढ़ाने के लिये मार्ग खुल गया। दूरदर्शक

१ विज्ञान ऐसे विषयों का ज्ञान है जो किसी न किसी प्रकार हमारी इंद्रियों को प्रत्यक्ष होते हैं। यह शब्द हमारे शास्त्रों में कई अर्थों में आया है। बौद्ध लोग विज्ञान का अर्थ प्रत्यय या भाव लेते हैं जो क्षण क्षण पर उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। गीता में ज्ञान और विज्ञान शब्द कई जगह साथ साथ आए हैं। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' अर्थात् 'विज्ञान' समेत इस पूरे ज्ञान को मैं तुझसे कहता हूँ। रामानुज ने अपने भाष्य में 'ज्ञानम्' का अर्थ किया है 'मद्विषयमिदं ज्ञानम्' और विज्ञानम् का अर्थ किया है 'विविक्ताकार विषयज्ञानम्।' प्रकृति के नाना रूपों का जो ज्ञान है वही विज्ञान है। आगे चलकर भगवान् ने मन, बुद्धि और अहंकार के सहित पाँचों भूतों को गिना कर कहा है कि यह मेरी अपरा प्रकृति है इससे भिन्न जगत् को धारण करनेवाली जीवस्वरूपिणी मेरी परा प्रकृति है। इसी अपरा प्रकृति की व्याख्या आधुनिक विज्ञानों का विषय है जिसके अंतर्गत भौतिक विज्ञान, रसानक, मनोविज्ञान आदि सब हैं। परा प्रकृति परा विद्या या परदर्शन (मेटाफिजिक्स) का विषय है।

सूक्ष्मदर्शक, रश्मिविश्लेषक[1] आदि यंत्रों की सहायता से हमारी दृष्टि अत्यंत विस्तृत और सूक्ष्म हो गई। दूरदर्शक यंत्रों द्वारा अंतरिक्ष के बीच अनंत लोकपिंडों का पता लगा, उनकी स्थिति के क्रम का आभास मिला और रश्मिविश्लेषक यंत्र द्वारा यह प्रत्यक्ष हो गया कि जिन मूलभूतों या द्रव्यों से हमारी पृथ्वी बनी है उन्हीं द्रव्यों से सब लोक-पिंड बने हैं, उनमें कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। पहले पृथ्वी, जल, वायु आदि के आगे लोगों की दृष्टि नहीं जाती थी अब रसायन शास्त्र के विश्लेषणों द्वारा जल और वायु आदि की योजना करनेवाले मूल-भूतों या द्रव्यों तक हमारी पहुँच हो गई है। भौतिक विज्ञान ने समस्त जड़ जगत् को द्रव्य और गति शक्ति का कार्य सिद्ध कर दिया है।

---

१ ईथर में उत्पन्न आलोकतरंग छोटाई बड़ाई के हिसाब से अनेक प्रकार के होते हैं। इसी छोटाई बड़ाई के हिसाब से आलोक रेखाएँ अनेक रंगों की होती हैं। किसी ओर से आते हुए प्रकाश की किरनों को यदि हम झाड़ के लटकन के तिकोने शीशे में देखें तो उसमें अनेक रंग दिखाई पड़ते हैं। बात यह है कि उसके कोनों पर किरनें विकीर्ण हो जाती हैं जिससे भिन्न भिन्न रंगों की आलोक रेखाएँ अलग अलग दिखाई देने लगती हैं। रश्मिविश्लेषक यंत्र में भी किरनें इसी प्रकार विकीर्ण की जाती हैं जिससे भिन्न भिन्न रंगों की रेखाएँ पड़ जाती हैं। किस प्रकार के द्रव्य से किस प्रकार की रेखाएँ आती हैं और किस प्रकार के द्रव्य किस प्रकार की रेखाओं को लीन कर लेते हैं यह मालूम होने से वैज्ञानिक इन रेखाओं की परीक्षा द्वारा इसका पता लगा लेते हैं कि यह आनेवाला प्रकाश किस द्रव्य से होकर आ रहा है। इसी युक्ति से दूर से दूर के ग्रहों, नक्षत्रों आदि से आते हुए प्रकाश की परीक्षा करके वे बताते हैं कि उनमें कौन कौन से मूल द्रव्य हैं। सूर्य के वायुमंडल में चाँदी, लोहा, सीसा, राँगा, जस्ता, अलुमीनम, सोडियम, पोटासियम, कारबन (अंगारक), हाइड्रोजन आदि ३६ मूल द्रव्यों का होना स्थिर किया गया है। इसी प्रकार ग्रहों के संबंध में समझिए जो सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक निकट हैं।

द्रव्य[1] को नाना रूपों में हम अपने चारों ओर देखते हैं। हवा, पानी, पत्थर, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र इत्यादि सब द्रव्य के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। द्रव्य में हम गति भी देखते हैं। हवा का चलना, पानी का बहना, पत्थर का लुढ़कना, पत्ते का गिरना, लपेटी हुई कमानी का खुलना, कोयले का दहकना, बारूद का भड़कना सब गति के ही नाना रूप हैं। द्रव्य और गतिशक्ति इन्हीं दो को लेकर अपनी सूक्ष्म परीक्षाओं द्वारा वैज्ञानिक समस्त व्यापारों के कारण आदि की व्याख्या करते हैं। जिस प्रकार द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में—ठोस से द्रव, द्रव से वायव्य, वायव्य से द्रव, द्रव से ठोस अवस्था में—लाया जा सकता है उसी प्रकार गतिशक्ति भी एक रूप से दूसरे रूप में लाई जा सकती है। गति ताप के रूप में परिवर्तित हो सकती है, ताप विद्युत् के रूप में, विद्युत् ताप और प्रकाश के रूप में। राँगे और ताँबे को जोड़कर अगर एक कोना गरम करें और दूसरे को ठंढा रखें तो बिजली पैदा हो जायगी। चकमक के क्षेत्र में किसी धातु को घुमाने से भी बिजली उत्पन्न होती है। यदि वेग से आते हुए पत्थर के गोले को हम दूसरे पत्थर से बीच ही में रोक लें तो पहले पत्थर की गतिशक्ति रुकने से क्या हुई? क्या नष्ट हो गई? नहीं, वह ताप के रूप में परिवर्तित हो गई। दो वस्तुओं की रगड़ से जो गरमी पैदा होती है उसका अनुभव हमें नित्य होता है। इस गरमी के पैदा होने का मतलब यही है कि रगड़ की जो गति है उसने ताप का रूप धारण कर लिया। कोई शक्ति क्रियमाण होकर एक द्रव्यखंड से दूसरे खंड में जाते जाते अंत में ताप के रूप में होकर आकाश द्रव्य में लय को प्राप्त हो जाती है।

---

१ द्रव्य शब्द का अर्थ केवल भूतसमष्टि के अर्थ में समझिए। वैशेषिक में द्रव्य के अंतर्गत काल, दिक्, आत्मा और मन भी हैं, पर इसके अंतर्गत नहीं।

शक्ति या तो निहित वा अव्यक्त रूप में रहती है अथवा व्यक्त वा क्रियमाण रूप में। दोनों छोर मिलाकर पकड़े हुए बेत, पहाड़ की ढाल पर अड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, सूखने के लिये फैलाए हुए कोयले, बोर में कसी हुई बारूद में जो छटकने, चलने, दहकने और भड़कने की शक्ति है वह अव्यक्त वा निहित है। बेत के छटकने, पत्थर के लुढ़कने, घड़ी के चलने, कोयले के दहकने और बारूद के भड़कने पर वही शक्ति व्यक्त वा क्रियमाण कहलावेगी। गति-शक्ति दो प्रकार की क्रियाएँ करती है। यह द्रव्य के पिंडों, अणुओं और परमाणुओं को एक दूसरे की ओर खींचती है अथवा उनको एक दूसरे से हटाकर अलग अलग करती है। पिंडों की एक दूसरे को खींचने की शक्ति लोहे और चुंबक तथा सूर्य और ग्रहपिंडों आदि के आकर्षण में देखी जाती है। अणुओं के परस्पर मिलने से पिंड, परमाणुओं के परस्पर मिलने से अणु और विद्युदणुओं के परस्पर मिलने से परमाणु बनते हैं। इसी प्रकार जहाँ ठोस वस्तु द्रव के रूप में आ रही हो, या द्रव वस्तु वाष्प वा वायव्य रूप में आ रही हो वहाँ यह समझना चाहिए कि विश्लेषण शक्ति अर्थात् अलग करनेवाली शक्ति कार्य कर रही है। शक्ति के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि यद्यपि द्रव्य के समान उसमें गुरुत्व नहीं होता पर उसके वेग की मात्रा का हिसाब होता है। सेर भर पत्थर उठाने में जितनी शक्ति लगती है दो सेर बोझ उठाने में उससे दूनी शक्ति लगेगी। चलती हुई वस्तुओं का धीमा और तेज होना, गरमी का घटना बढ़ना हम नित्य ही देखते हैं।

द्रव्य के अंतर्गत कोई ७८ मूल द्रव्य या मूलभूत माने गए हैं जिनमें कुछ धातुएँ हैं जैसे, सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा, राँगा, पारा, निकल, जस्ता, अलुमीनम कुछ और खनिज हैं जैसे, गंधक, साखिया, सुरमा, मगनीशिया, और कुछ वायव्य द्रव्य हैं जैसे,

आक्सिजन, हाइड्रोजिन, नाइट्रोजन इत्यादि । ये ही ७८ मूल द्रव्य आधुनिक रसायन शास्त्र के अनुसार मूल उपादान हैं जिनके परमाणुओं के योग से जगत् के नाना प्रकार के पदार्थ बने हैं। अतः जितने ये मूल द्रव्य हैं उतने ही प्रकार के परमाणु हुए। एक प्रकार के परमाणु के साथ दूसरे प्रकार के परमाणु के मिलने से एक तीसरे रूप के द्रव्य का आविर्भाव होता है—जैसे आक्सिजन और हाइड्रोजन नामक मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से जल की उत्पत्ति होती है। पर ध्यान रखना चाहिए कि यह परिणाम एक विशिष्ट मात्रा में परमाणुओं के मिलने से होता है। जैसे जल का यदि हम रासायनिक विश्लेषण करें तो उसमें हमें १६ भाग आक्सिजन गैस और २ भाग हाइड्रोजन गैस[1] मिलेगा। इसी प्रकार यदि हम नमक का विश्लेषण करें तो हमें ३५½ भाग क्लोराइन और २३ भाग सोडियम मिलेगा। परमाणुओं का मिश्रण ही रासायनिक मिश्रण कहलाता है।[2] परमाणुओं के मिलने से ही रासायनिक क्रिया होती है। भिन्न भिन्न परमाणुओं की भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है जिसके अनुसार कुछ परमाणु कुछ परमाणुओं के साथ मिलते हैं और कुछ के साथ नहीं। इसी को रासायनिक प्रवृत्ति या राग कहते हैं।

---

१ जस्ते को तेजाब में गला कर यह गैस निकाली जा सकती है।

२ साधारण मिश्रण से रासायनिक मिश्रण भिन्न होता है। साधारण मिश्रण में दो पदार्थों के अणु ही देखने में मिले मालूम होते हैं, पर दोनों पदार्थ अलग अलग पहचाने जा सकते हैं। पर रासायनिक मिश्रण में एक के अणुओं के परमाणु निकल निकल कर दूसरे के अणुओं के निकले हुए परमाणुओं से मिल जाते हैं जिससे एक तीसरे पदार्थ की उत्पत्ति होती है। जैसे, गंधक के चूर्ण के साथ लोहचूर्ण मिला कर यों ही रख दें तो यह साधारण मिश्रण होगा। इसी मिश्रण को यदि खूब तपावें जिससे अणु टूट जायँ और परमाणु अलग अलग हो जायँ तो दोनों के परमाणुओं के मिलने से एक नए प्रकार के पदार्थ की उत्पत्ति होगी। यह मिश्रण रासायनिक होगा।

परमाणु हैं क्या ? नमक का एक टुकड़ा लीजिए और देखिए तो वह अत्यंत सूक्ष्म कणों से मिलकर बना हुआ पाया जायगा। इन कणों के तब तक और टुकड़े करते जाइए जब तक टुकड़ों में नमकपन बना रहे। इस प्रकार जब टुकड़े अंतिम दशा को पहुँच जायँ अर्थात् ऐसे टुकड़े हो जायँ जिनके और टुकड़े करने से उनमें नमक का गुण न रह जायगा तब हम ऐसे टुकड़ों को अणु कहेंगे। ये अणु नमक ही रहेंगे। फिर इन अणुओं के भी यदि हम और टुकड़े करेंगे तो वे परमाणु होंगे और नमक न रह जायँगे अर्थात् उनमें से कुछ क्लोराइन के परमाणु होंगे और कुछ सोडियम के। इसी से कहा जाता है कि क्लोराइन और सोडियम के रासायनिक मिश्रण से—अर्थात् परमाणुओं के मिश्रण से—नमक बनता है। अतः नमक एक यौगिक पदार्थ है, मूल द्रव्य नहीं। पर यदि हम मूलद्रव्यों में से कोई एक लेकर उसका परमाणुओं तक विश्लेषण करें तो हमें उसी द्रव्य के परमाणु मिलेंगे और किसी द्रव्य के साथ दूसरे मूल द्रव्य किस प्रकार और किस परिमाण में मिलते हैं तथा मिलने से क्या परिणाम होते हैं इन सब बातों का विचार करनेवाला शास्त्र रसायनशास्त्र कहलाता है। भौतिक विज्ञान द्रव्य के सामान्य गुण तथा गतिशक्ति के नियमों और विधानों का निरूपण करता है। इस प्रकार आजकल प्राकृतिक विज्ञान की दो प्रधान शाखाएँ हैं।

परमाणु नाम पड़ा क्यों ? पहले लोगों की धारणा थी कि परमाणु द्रव्य के सूक्ष्मत्व की चरम सीमा है। परमाणु के और टुकड़े हो ही नहीं सकते। परमाणु अखंड तथा नित्य हैं। दार्शनिकों ने तो परमाणु की कल्पना अनवस्था से बचने के लिए ही की थी। पहले लोगों को परमाणुओं के बनने बिगड़ने या खंड खंड होने के प्रमाण नहीं मिले थे। पर इधर युरेनियम, रेडियम आदि कई नए मूल द्रव्यों के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए। उनके परमाणुओं की परीक्षा से पता चला कि भारी परमाणु के कण अत्यंत वेग से उड़ते जाते हैं और फिर

मिलकर हलके परमाणु बनाते जाते हैं। ये कण विद्युदणु कहलाते हैं। इन्हीं के मिलने से परमाणुओं की योजना होती है।

मूलभूत और परमाणु की कल्पना इसी रीति पर हमारे यहाँ के वैशेषिक दर्शन में भी हुई है। द्रव्यखंड के टुकड़े करते करते हम ऐसे टुकड़ों तक पहुँचेंगे जिनके और टुकड़े यदि हम करें तो वे अगोचर हो जायँगे। ये ही अगोचर टुकड़े परमाणु होंगे तथा इनके और टुकड़े न हो सकेंगे। वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य और अक्षर हैं। इन्हीं की योजना से सब पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है। आकाश को छोड़ जितने प्रकार के भूत होते हैं उतने ही प्रकार के परमाणु होते हैं– यथा, पृथ्वीपरमाणु, जलपरमाणु, तेजपरमाणु और वायुपरमाणु। परमाणु रूप में, आकाश के समान, शेष चारो भूत भी नित्य है। आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी, जल और वायु को द्रव्य का अवस्थाभेद सिद्ध किया और तेज को गतिशक्ति का एक रूप मात्र। अतः परमाणु भी चार प्रकार के नहीं, ७८ प्रकार के ठहराए गए। कुछ लोग नई बातों के साथ पुरानी बातों का अविरोध सिद्ध करने के लिये भूतों को ठोस, द्रव, वायव्य और अतिवायव्य अवस्थाओं के सूचक मात्र कहने लगे हैं। पर परमाणुओं के वर्गीकरण की ओर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो सकता है कि वैशेषिक का अभिप्राय अवस्थाभेद नहीं है गुणभेद के अनुसार द्रव्यभेद ही है–जैसे, जल में सांसिद्धिक या स्वाभाविक द्रवत्व का गुण है अतः वह एक मूल द्रव्य है। पर आधुनिक रसायन शास्त्र ने जल को किस प्रकार यौगिक सिद्ध किया है यह ऊपर कहा जा चुका है। मूलभूतों और परमाणुओं का संबंध वैशेषिक ने उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायनशास्त्र ने किया है। यह हमारे लिये कम गौरव की बात नहीं है। ब्योरा ठीक न मिलने के कारण इस पर परदा डालने की जरूरत नहीं।

वैशषिक में दो परमाणुओं के योग को द्वयणुक कहते हैं। आगे चल कर ये ही द्वयणुक अधिक संख्या में मिलते जाते हैं जिससे नाना प्रकार के पदार्थ बनते हैं—जैसे, तीन द्वयणुकों से त्रसरेणु, चार द्वयणुकों से चतुरणुक इत्यादि। कारणगुणपूर्वक ही कार्य के गुण होते हैं अतः जिस गुण के परमाणु होंगे उसी गुण के उनसे बने पदार्थ होंगे। पदार्थों में जो नाना भेद दिखाई पड़ते हैं वे सन्निवेश भेद से होते हैं। तेज के संबंध से वस्तुओं के गुण में बहुत कुछ फेरफार हो जाता है—जैसे, कच्चा घड़ा पकने पर लाल हो जाता है।

परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए, अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्मदर्शक यंत्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्यों द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो इंच के ७०००,०००,००० वें भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की योजना करनेवाले परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसीसे अंदाजा कर लीजिए। विद्युदणु तो उनसे भी सूक्ष्म हैं। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १६००० और रेडियम के एक परमाणु में १६००,० विद्युदणु होते हैं। इन विद्युदणुओं के बीच का अंतर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब से बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौरजगत् के ग्रहों के बीच होता है[1]। अपने परमाणु-जगत् के अंतरिक्ष में ये परस्पर शक्ति-

---

१. परमाणुओं के बीच अंतर की धारणा न होने के कारण वैशेषिक को 'पीलुपाक' नाम का विलक्षण मत ग्रहण करना पड़ा। इस मत के अनुसार घड़ा आग में पड़कर लाल इस प्रकार होता है कि अग्नि के तेज से घड़े के परमाणु अलग अलग हो जाते हैं, फिर लाल होकर मिल जाते हैं। घड़े का यह बिगड़ना और बनना इतने सूक्ष्म काल में होता है कि कोई देख नहीं सकता। न्याय वाले परमाणुओं के बीच अंतर मान कर ऐसी कल्पना नहीं करते।

संबद्ध होकर निरंतर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते हैं जिस प्रकार सौर जगत् में ग्रह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है भवचक्र। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है जो ब्रह्मांड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए। जो गतिशक्ति आकर्षण और अपसारण के रूप में छोटे से द्रव्यखंड के परमाणुओं को परस्पर संबद्ध रखकर भ्रमण कराती है वही समस्त जगत् में नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों को अपने पथ पर रखकर चक्कर खिलाती है। शक्ति की इसी दोमुहीं चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति अपने एक ही रूप में कार्य करती तो जगत् की यह अनेकरूपता न रहती, या यों कहिये कि जगत् ही न रहता। यदि आकर्षण-क्रिया ही स्वतंत्र रूप से चलती, उसे बाधा देनेवाली अपसारिणी क्रिया न होती तो अखिल विश्व के समस्त परमाणु खिंच कर एक केंद्र पर मिल जाते और विश्व एक ऐसा अचल, जड़ और ठोस गोला होता जिस पर न नाना प्रकार के पदार्थ होते, न जीवजंतु और पेड़, पौधे होते और न कोई व्यापार होता। इसी प्रकार यदि केवल अपसारिणी क्रिया ही होती तो विश्व के समस्त परमाणु अलग अलग बिखरे होते, मिलकर जगत् की योजना न करते।

द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य संबंध है। एक की भावना दूसरे के बिना हो नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य कर सकती है। अपने चारो ओर जो कुछ हम देखते हैं वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है। कोई द्रव्यखंड लीजिए, शक्ति ही से उसकी स्थिति ठहरेगी। जमीन पर पड़ा हुआ एक ढेला ही लीजिए। आप के देखने में तो वह महा जड़ और निष्क्रिय है। पर विचार कर देखिए तो गतिशक्ति की क्रिया बराबर उसमें हो रही है, बल्कि यों कहिए कि उसी क्रिया से ही उसकी स्थिति है। वह जमीन पर पड़ा क्यों है ? पृथ्वी की

आकर्षणशक्ति से। वह ढेले के रूप में क्यों है ? उसके अणु आकर्षण-शक्ति द्वारा परस्पर संबद्ध हैं।

द्रव्य और शक्ति दोनों अक्षर और अविनाशी हैं। वे अपने एक रूप से दूसरे रूप में जा सकते हैं, पर नष्ट [illegible] सकते। उनका अभाव नहीं हो सकता। सिद्धांत यह कि विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है, और सदा रहेगा—उतने से न घट सकता है, न बढ़ सकता है। इसी प्रकार शक्ति को भी समझिए जो द्रव्य में समवेत है। यह दार्शनिक अनुमान नहीं है, परीक्षासिद्ध सत्य है। मोमबत्ती जल कर नष्ट नहीं हो जाती, धुएँ के रूप में अर्थात् वायव्य रूप में हो जाती है। यदि इस वायव्य पदार्थ को लेकर हम तौलें तो उसकी तौल मोमबत्ती की तौल के बराबर होगी। शक्ति की अक्षरता की परीक्षा इस प्रकार हो सकती है कि किसी बोझ के उठाने में हम कुछ शक्ति व्यय करें और उस शक्ति को ताप के रूप में लाकर ताप की मात्रा नाप लें। फिर कभी उसी बोझ को उठाने में उतनी ही शक्ति लगा कर और उसे ताप के रूप में परिवर्तित करके ताप की मात्रा नापें। ताप की दोनों मात्राएँ समान होंगी।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी एक दूसरे को आकर्षित कर रहे हैं और ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि विशाल लोकपिंड भी। उनके बीच आकर्षण शक्ति बराबर कार्य कर रही है। ग्रहों, नक्षत्रों आदि के बीच जो भारी अंतर है वह प्रत्यक्ष ही है। अणुओं, परमाणुओं आदि के बीच कितना अंतर रहता है, यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है। यह अंतर क्या शून्य है ? यदि शून्य है तो आकर्षणशक्ति की क्रिया होती किस प्रकार है ? क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति कार्य ही नहीं कर सकती। न्यूटन भी, जिसने योरप में पहले पहल आकर्षण शक्ति का पता पाया था, इस असमंजस में पड़ा था। अंतरिक्ष के बीच केवल आकर्षणशक्ति कार्य करती हो सो भी नहीं। सूर्य की

गरमी और सूर्य का प्रकाश बराबर हम तक पहुँचता है। ताप और प्रकाश भी गतिशक्ति के ही रूप हैं। अतः क्या ये भी शून्य से ही होकर गमन करते हैं। यह हो नहीं सकता। शक्ति के कार्य करने के लिए कोई मध्यस्थ द्रव्य अवश्य चाहिए। इसलिए वैज्ञानिकों को द्रव्य के ऐसे रूप का आरोप करना पड़ा जो अखंड, अनंत, विभु और विश्वव्यापक हो, जो अणवात्मक न हो। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अखंड और व्यापक द्रव्य का नाम उन्होंने ईथर रखा। आप आकाश द्रव्य कह लीजिए[1] क्योंकि प्रकाश के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है भी। यह सीसे के गोले के परमाणुओं के बीच भी फैला है और ग्रहों नक्षत्रों के बीच के अंतरिक्ष में भी। इससे खाली कोई जगह नहीं। यह सर्वत्र अखंड और एकरस है।

ईथर को दिक् के समान एक शून्य कल्पना न समझना चाहिए। इसमें घनत्व है, यह भूतद्रव्य का ही एक सूक्ष्म रूप है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि इसका घनत्व

---

१. वैशेषिक ने आकाश को दिक् (स्पेस) से अलग माना है और उसे भूतों के अंतर्गत किया है। दिक् किसी वस्तु का समवायिकारण नहीं हो सकता, पर आकाश शब्द का समवायि कारण है। न्याय में उपादान को ही समवायि कारण कहा है, जैसे कपड़े के लिये सूत और कुंडल के लिये सोना। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी कहा है कि द्रव्यों में जो समवाय रहता है वह तादात्म्य रूप से ही। अतः 'आकाश शब्द का समवायि कारण है' इस बात को यदि आधुनिक भौतिक विज्ञान के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'आकाश द्रव्य की तरंगों से ही शब्द बनते हैं'। आधुनिक भौतिक विज्ञान में शब्द वायुतरंग रूप सिद्ध हुए हैं, क्योंकि आकाश के रहते भी वायु के बिना शब्द नहीं होता। आकाशद्रव्य के तरंगों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। आजकल की इस बात को यदि हम अपने दर्शन के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'आकाश प्रकाश का समवायिकारण है'।

जल के घनत्व का $\frac{१}{१००,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००}$ है। १०५ कोस की ऊँचाई पर वायुमंडल भी इतना ही पतला है। उसके आगे वह और भी पतला है[1]। ईथर उसकी अपेक्षा कम पतला है। यह सारा हिसाब किताब ऊपर ही ऊपर से प्रकाश और ताप के व्यापार से लगाया गया है। ईथर पकड़ में आनेवाला द्रव्य नहीं, यह एक अग्राह्य पदार्थ है। वैज्ञानिकों ने इसकी परीक्षा केवल प्रकाश के वाहक के रूप में की है। प्रकाश और ताप का प्रवाह तरंगों के रूप में चलता है। यदि कोई मध्यस्थ नहीं तो ये तरंगें कैसी? विद्युदाकर्षण और अपसारण की व्याख्या भी इस प्रकार के मध्यवर्ती द्रव्य के बीच किसी स्थान पर दबाव मानने से ही अच्छी तरह होती है। विद्युत्प्रवाह की समस्या का समाधान भी मध्यस्थ द्रव्य का स्पंदन माने बिना ठीक ठीक नहीं हो सकता। चुंबक की क्रिया भी किसी मध्यस्थ द्रव्य में भँवर या मरोड़ पड़ने के कारण मालूम होती है। सारांश यह कि यह मानना पड़ता है कि प्रकाश और ताप आदि का वहन करनेवाला कोई एकरस प्रवाह रूप पदार्थ अवश्य है जिसमें तरंगें उठती हैं, भँवर पड़ते हैं। जिस प्रकार जल में किसी ठोस पदार्थ के पड़ने पर किनारे हटने और फिर आ जाने का गुण है उसी प्रकार ईथर में भी है। पर यह साधर्म्य होते हुए भी जल में और इसमें बहुत अंतर है। जल अणुमय है, यह अखंड और सर्वगत है। जल ही क्या ग्राह्य द्रव्य मात्र से इसके गुण भिन्न हैं। यद्यपि घनत्व, लचक, अखंडत्व आदि इसके गुण प्रकाश और ताप आदि के व्यापारों द्वारा निरूपित हुए हैं पर यह है किस प्रकार का अभी तो ठीक ठीक समझ में नहीं आया है, आगे की नहीं कह सकते।

---

१. पृथ्वी से १२ योजन के आगे जो वायु है उसका हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रंथों में 'प्रवह' नाम है। १२ योजन तक 'आवह' वायु है।

लार्ड केलविन ने इसी ईथर को जगत् का उपादान ठहराया है उन्होंने कहा कि समस्त ग्राह्य द्रव्यखंड इसी ईथर के भँवर मात्र हैं[1]। सर विलियम कुक्स ने भी सब प्रकार के द्रव्यों या परमाणुओं का आधारभूत एक ही महाभूत माना है जिसके और सब परिणाम हैं। इस प्रकार जगत् के मूल प्राकृतिक उपादान की एकता विज्ञान में स्वीकृत हुई। हैकल ने जिस रूप में इस सिद्धांत को लिया है उसके अनुसार ईथर महाभूत की साम्यावस्था के प्रथम भंग का परिणाम है अर्थात् साम्यावस्था भंग होने पर कुछ द्रव्य तो अणवात्मक ग्राह्य रूप में आ जाता है और शेष कुछ और सूक्ष्म होकर अपने अग्राह्य और अखंड रूप में ही रहता है जिसे ईथर कहते हैं। पर किस प्रकार ईथर में भँवर पड़ते हैं और पहले पहल अणुओं का विधान होता है, किस प्रकार एक निर्विशेष महाभूत विशेषत्व की ओर प्रवृत्त होता है, किस प्रकार प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। यह एक समस्या रह सी जाती है। रहने दीजिए, यह औरों के काम की है।

विज्ञान की दृष्टि से जगत् की उत्पत्ति इस प्रकार निरूपित हुई है। अपनी साम्यावस्था भंग होने के पीछे द्रव्य अत्यंत सूक्ष्म नीहारिका के रूप में बहुत दूर तक फैला रहा। संयोजक शक्ति द्वारा द्रव्य-विस्तार के अणु खिंच कर परस्पर मिलने लगे जिससे संचित वियोजक या अपसारिणी शक्ति छूट पड़ी और दो रूपों में व्यक्त होकर कार्य करने लगी—अणुचालक और पिंडचालक। अणुचालक गति द्वारा अणुओं में एक प्रकार का स्पंदन या दोलन सा होने लगा। यह गति ताप और प्रकाश

१. तैत्तिरीयोपनिषद् में भी परमात्मा से पहले पहल आकाश की उत्पत्ति कही गई है, फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। "आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"।

के रूप में व्यक्त होकर फैली। पिंडचालक गति द्वारा अणुओं से बने हुए पिंड लट्टू की तरह घूमते हुए गोल परिधि या मंडल बाँधकर चक्कर लगाने लगे। इसी प्रकार नक्षत्रों, ग्रहों, उपग्रहों आदि की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। सौर जगत् की उत्पत्ति का विधान इसी रूप में निश्चित किया गया है। इस विधान को अब अपने सौर जगत् पर घटा कर देखिए कि नीहारिकामंडल से सूर्य और नाना ग्रहों उपग्रहों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

ज्योतिष्क नीहारिकामंडल पहले अत्यंत वेग से घूमता हुआ गोला था। अणुओं के केंद्र की ओर आकर्षित होने से वह क्रमशः भीतर की ओर सिमट कर जमने लगा जिससे उसके किनारे घूमते हुए नीहारिका के वलय या छल्ले रह गए। केंद्र की ओर सिमटा हुआ द्रव्य हमारा सूर्य हुआ। नीहारिकावलय भी क्रमशः जमकर गोलों के रूप में हुए और केंद्रस्थ द्रव्य (सूर्य) से अलग होकर उसके चारो ओर वेग से घूमने लगे। ये ही पृथ्वी, मंगल, बुध आदि ग्रह हुए। इनके जमने पर भी किनारे छल्ले रह गए जो क्रमशः जम कर इन ग्रहों के उपग्रह हुए—जैसा कि चंद्रमा हमारी पृथ्वी का है। जो छल्ला केंद्रस्थ द्रव्य से जितनी दूरी पर था उससे जम कर बना हुआ पिंड उतनी ही दूरी पर से उसकी परिक्रमा करने लगा। जिस ग्रह के किनारे जितने छल्ले थे उसके उतने ही चंद्रमा हुए। जैसे, बृहस्पति की परिक्रमा करनेवाले आठ चंद्रमा हैं। जितने ग्रह हैं सब एक अवस्था में नहीं हैं। ग्रहपिंड केंद्रस्थ द्रव्य समूह या सूर्य से छूट कर अलग होने पर ज्वलंत वायव्य अवस्था से जम कर अपरिमित ताप से युक्त ज्वलंत द्रव द्रव्य—जैसे, गरमी से पिघलकर पानी से भी पतला होकर बहता हुआ लाल लोहा-के रूप में हुए। क्रमशः उनका ऊपरी तल ठंढा होकर जमता गया और ठोस पपड़ी के रूप में होता गया। जो ग्रह जमते जमते सारा ठोस हो गया अर्थात् जिसकी सब गरमी निकल गई वह मुर्दा हो गया; उसमें,

जल, वायु आदि कुछ नहीं रह गया। हमारा चंद्रमा इसी अवस्था में है। पृथ्वी का ऊपरी तल तो ठोस पपड़ी के रूप में हो गया है, पर बहुत गहराई तक नहीं। इसके भीतर वही ज्वलंत द्रव द्रव्य मौजूद है जो अपना अस्तित्व ज्वालामुखी के स्फोट और भूकंप आदि द्वारा प्रकट करता रहता है। बृहस्पति अभी ज्वलंत द्रव अवस्था से क्रमशः जमना आरंभ कर रहा है। मंगल पृथ्वी से भी अधिक जमकर ठोस हो चुका है। शनि और बृहस्पति दोनों अब तक वलयवेष्टित हैं। ये सब बातें तो अच्छे अच्छे दूरवीक्षण यंत्रों की सहायता से ही देखी जा सकती हैं। पर रंगों के हिसाब से भी तारों और ग्रहों की अवस्था का मोटा अंदाज हो सकता है। जो ग्रह काला और कांतिहीन दिखाई दे उसे समझना चाहिए कि मर चुका है। फिर जब किसी और तारे से वह टक्कर खायगा तब उसमें नए तेज और नई शक्ति का संचार होगा और दूसरे लोकपिंड की सृष्टि होगी। ज्वलंत नीलाभ ग्रहों को पूर्ण यौवनावस्था में समझना चाहिए। कुछ विशेषताओं से युक्त लाल तारों को समझना चाहिए कि वे क्रमशः नाश को प्राप्त हो रहे हैं। जो ज्वालाखंड जितना ही बड़ा था उसके ऊपरी तल के ठंढे होकर द्ररूप में आने और फिर और जमकर ठोस होने में उतना ही अधिक काल लगा है। अभी हमारा सूर्य वायव्य और द्रव अवस्था में ही है। भीतर तो वह जलती हुई वायु अर्थात् ज्वाला या लपट के रूप में है जिसके प्रचंड ताप का अनुमान तक हम लोग नहीं कर सकते पर उसके ऊपर का तल कुछ गरमी निकल जाने से जम कर वायव्य से ज्वलंत द्रव द्रव्य के रूप में आ गया है।

पृथ्वी का यह ठोस तल जिस पर हमलोग बसते हैं धीरे धीरे परत पर परत जमने से कई करोड़ वर्षों में बना है। इन परतों का जमना उस कल्प से आरंभ हुआ है जिस कल्प में पृथ्वी की पपड़ी इतनी ठंढी पड़ गई कि उसके ऊपर भाप की जो गहरी तह चढ़ी थी—जैसी कि

वृहस्पति में अब तक दिखाई देती है—वह जमी और जल का आविर्भाव हुआ, समुद्रों की सृष्टि हुई। नदियों का जल किस प्रकार पहाड़ों और ऊँचे स्थानों की मिट्टी या चट्टानों को काट काट कर अपने मार्ग में इधर उधर रेत और मिट्टी की तह पर तह जमाता जाता है इसे प्रायः सब लोग जानते हैं। समुद्र भी सदा इसी व्यापार में लगा रहता है और अपने तटों की मिट्टी या चट्टानों को काट काटकर अपने गर्भ में बिछाता जाता है। सारांश यह कि जल का यह कार्य ही है। आदि काल से ही वह ऊँचे स्थानों की चट्टानों को रेत, मिट्टी आदि के रूप में अपने नीचे बिछाता चला आ रहा है। यदि पृथ्वी पर केवल जल ही कार्य करता होता तो पृथ्वी का सारा तल कब का जल के भीतर हो गया होता और इस पृथ्वी के गोले के ऊपर जल ही जल होता, सूखी जमीन कहीं न होती। पर पृथ्वी के ठोस आवरण के भीतर तो अभी द्रव अग्नि का गोला ही है जो ऊपर पपड़ी छोड़ता हुआ क्रमशः ठंढा होता चला जाता है। अतः गर्भस्थ प्रचंड ताप की शक्ति दबाव पाकर समय समय पर पपड़ी के रूप में जमे हुए आग्नेय द्रव्य तथा पिघली हुई चट्टानों को बड़े वेग से ऊपर की ओर फेंका करती है जिससे बड़े बड़े पहाड़ निकलते हैं और कम गहरे समुद्रों का तल भी सूखे स्थल के रूप में उठा करता है। भूकंप, ज्वालामुख पर्वतों के स्फोट इसी आभ्यातंर ताप के प्रभाव से होते हैं। भूकंप के धक्कों से कहीं एकबारगी समूचा पहाड़ निकल पड़ा है, कहीं पहाड़ी की पहाड़ी नीचे धँस कर गायब हो गई है। ये सब भूगर्भस्थ ताप के उग्र व्यापार हैं जिन पर हमारा ध्यान जाता है। पर ये व्यापार बराबर इतने धीरे धीरे भी होते रहते हैं कि हमें जान नहीं पड़ते हैं। पृथ्वी के नाना भागों की परीक्षा करने से देखा जाता है कि कोई खंड क्रमशः ऊपर की ओर उठ रहा है और कोई नीचे की ओर धँस रहा है। इस प्रकार जल को नई नई परतें जमाने के लिये बराबर सामग्री मिलती जाती है।

नीचे के आग्नेय द्रव्य के ऊपर आने और पिघले हुए द्रव्य के ठंढे होकर जमने से जो चट्टानें बनी हैं उन्हें अग्न्युपल या बिना परत की चट्टानें कहते हैं। जल के भीतर थिरा कर परत पर परत जमने से जो चट्टानें (चट्टान शब्द से अभिप्राय उन सब ढेरों या तहों से है जिनसे पृथ्वी का ठोस ऊपरी तल बना है—क्या पत्थर, क्या मिट्टी, क्या रेत, क्या कोयला, क्या खरिया सब। भूगर्भविद्या में चट्टान शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है) बनी हैं उन्हें वरुणस्तर या परतवाली चट्टानें कहते हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि परतवाली चट्टानें आग्नेय चट्टानों के ही ध्वंस या चूर्ण से बनी हैं। जल के भीतर बनी हुई इन्हीं परत-वाली चट्टानों की परीक्षा द्वारा भूगर्भवेत्ता पृथ्वी के नाना कल्पों और युगों का विभाग करते और जंतुओं की उत्पत्ति का क्रम सूचित करते हैं। बात यह है कि इन्हीं की तहों के बीच पूर्व कल्प के जीवों के अवशेष (जैसे, अस्थिपंजर, पेड़ों के धड़ और डालियाँ आदि) या उनके अस्तित्व के चिह्न (जैसे, पक्षियों के पैरों के चिह्न, कीड़ों के खोदे हुए बिल, पूर्वयुग के मनुष्यों के बनाए हुए पत्थर के हथियार इत्यादि) मिलते हैं। सब से प्राचीन कल्प के अर्थात् सब से पहले बननेवाले स्तरों में शुक्तिवर्ग के क्षुद्र कीटों से लेकर सबसे निम्नकोटि की मछली (अर्थात् अत्यंत क्षुद्र कोटि के रीढ़वाले जंतु) तक के अवशेष मिलते हैं। इनसे पीछे के स्तरों में मछलियों, सरीसृपों, पक्षियों तथा दूध पिलानेवाले जंतुओं के पंजर मिलते हैं। जंतुओं के अवशेष से भी विशिष्ट पदार्थों की चट्टानें बनती हैं—जैसे, खरिया मिट्टी की चट्टानें जो समुद्र में रहनेवाले अत्यंत सूक्ष्म कृमियों की ठोस खोलड़ी के तह पर तह जमने से बनती हैं। पत्थर का कोयला क्या है? पूर्वयुग के पेड़ पौधों के अवशेष जो तह पर जमते गए वे ही आभ्यंतर ताप की तरंगों के योग से कोयले के थक्के के रूप में हो गए। चट्टानों के जमने का हिसाब लगा कर भूगर्भवेत्ता पृथ्वी की प्राचीनता का अनुमान करते हैं। जैसे, पेड़ों की

पचास पुश्त की लकड़ी के जमने से एक फुट मोटा कोयले का थक्का बनता है। कोयले की तह की मोटाई बारह हजार फुट तक मानी गई है। यदि पेड़ों की हर एक पीढ़ी के लिये दस दस वर्ष भी रख ले तो इस हिसाब से बारह हजार फुट कोयला जमने में कम से छ करोड़ वर्ष लगे होगें।

पृथ्वी की उत्पत्ति हुए कितना काल हुआ इस विषय में भूगर्भ-वेत्ताओं और भौतिक विज्ञानियों में थोड़ा मतभेद है। भूगर्भवेत्ता पृथ्वी का कालनिर्णय उस हिसाब से करते हैं जिस हिसाब से चट्टानों की तहें पानी के नीचे जम रही हैं या बरसाती पानी और नदियों के बहाव से जमीन के ऊपर की मिट्टी कट रही है। वे यह मानकर चलते हैं कि जिस गति से पृथ्वी पर परिवर्तन आज हो रहे हैं उसी गति से पहले भी बराबर होते आए हैं। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है बहुत से परिवर्तन जिनके लिये उन्होंने लाखों वर्ष रखे हैं विप्लव के रूप में बात की बात में हुए हों। भूगर्भवेत्ताओं के हिसाब से उस काल को बीते दस करोड़ वर्ष के लगभग हुए होंगे जिसमें पहले पहल पानी के भीतर जमनेवाली चट्टानों की तह पड़ी और मूल आदिम अणुजीवों का प्रादुर्भाव हुआ। भौतिक विज्ञानवाले सूर्य के ताप की उत्पति के और गति के विचार से, तथा जिस हिसाब से पृथ्वी का ऊपरी तल ठंढा होता गया है उसके विचार से और कम काल बताते हैं। एक दूसरी आधुनिक युक्ति सृष्टिकाल-निर्णय की यह है कि प्रतिवर्ष नदियों का जो जल समुद्र में जाता है उसके द्वारा समुद्रजल में नमक की वृद्धि किस हिसाब से होती है इसका पता बैठा कर आरंभकाल निकाले। इस हिसाब से भी नौ दस करोड़ वर्ष आते हैं।

भूगर्भवेत्ता पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति से लेकर आज तक के काल को चार मुख्य कल्पों में बाँटते हैं—

प्रथम कल्प – पौधों में सिवार, काई और पुष्पहीन पौधे। जंतुओं में स्पंज, मूँगे, शुक्तिवर्ग के कीड़े, कीटपतंग, ढालदार मछली जो रीढ़वाले जंतुओं में सब से निम्न कोटि की है।

द्वितीय कल्प—पेड़ों में खजूर, ताड़ इत्यादि जिनकी बाढ़ भीतर की ओर से सीधे ऊपर की ओर का होती है और जिनके धड़ में लकड़ी, हीर और छाल का स्पष्ट भेद नहीं होता। जंतुओं में समुद्र में रहनेवाली विशाल आकार की छिपकलियां, पक्षी, पक्षियों और स्तन्य जीवों के बीच के अंडज स्तन्य (दूध पिलानेवाले), अजरायुजों और जरायुजों के बीच के अजरायुज पिंडज (आज कल के कंगारू से मिलते जुलते) जीव।

तृतीय कल्प—बड़े भारी जरायुज जंतु। मनुष्य के आकार के बनमानुस।

चतुर्थ कल्प—हाथी की तरह के पर उससे बहुत बड़े और रोएँदार मैमथ आदि जंतु। मनुष्य तथा वे सब जीव जो आजकल पाए जाते हैं।

किस प्रकार एक जाति के जंतु या पौधे से क्रमशः दूसरी जाति के जंतुओं और पौधों की उत्पत्ति होती गई है इसका निरूपण विकास सिद्धांत द्वारा किया गया है। इस पृथ्वी के पूर्वकल्पों में न जाने कितने ऐसे जंतु हो गए हैं जिनका वंश लुप्त हो गया है, जो अब कहीं नहीं मिलते, पर जिनकी ठटरियाँ जमीन के नीचे दबी मिलती हैं। मैमथ इसी प्रकार का जंतु हो गया है जो हाथी के रूप का था पर उससे बहुत बड़ा और रोएँदार होता था। बीस बीस हाथ लंबी ऐसी काँटेदार छिपकलियों की ठटरियाँ मिली हैं जो हवा में उड़ती थीं। अब वे भीमकाय और भयंकर जंतु पृथ्वी पर नहीं रह गए। एक प्रकार के जंतु से दूसरे प्रकार के जंतु एकबारगी तो उत्पन्न नहीं हो गए। दोनों के बीच की वंशपरंपरा में ऐसे जंतु रहे होंगे जिनमें थोड़े बहुत दोनों

के लक्षण रहे होंगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जंतु कुछ तो अब भी मिलते हैं और कुछ का ठटरियाँ भूगर्भ में मिलती हैं। इन ठटरियों से प्राणिविज्ञानविदों को एक प्रकार के जंतु से दूसरे प्रकार के जंतु की उत्पत्ति की शृंखला जोड़ने में बड़ा सहारा मिलता है। जैसे, विकास सिद्धांत द्वारा स्थिर हुआ है कि पंजेवाले जंतुओं से ही क्रमशः घोड़े आदि टापवाले जंतुओं का विकास हुआ है, पर आजकल घोड़े की तरह का कोई ऐसा जंतु नहीं मिलता जिसमें उँगलियों के चिह्न हों। पर घोड़े की तरह के ऐसे जंतुओं की ठटरियाँ मिली हैं जिनके पैरों में उँगलियाँ या उँगलियों के चिह्न हैं। वे घोड़ों के पूर्वज थे।

जीवधारियों के संबंध में पहले लोगों की धारणा थी कि जितने प्रकार के जीव आजकल हैं सब एकसाथ सृष्टि के आरंभ में ही उत्पन्न हो गए थे अर्थात् जितने प्रकार के जीवों के ढाँचे आदि में थे वे सब बिना किसी परिवर्तन के अबतक ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। डारविन ने इस विश्वास का खंडन किया और 'विकास सिद्धांत' की स्थापना करके यह सिद्ध कर दिया कि ये अनेक प्रकार के ढाँचों के जो इतने जीव दिखाई पड़ते हैं, सब एक ही प्रकार के अत्यंत सादे ढाँचे के क्षुद्र आदिम जीवों से, क्रमशः करोड़ों वर्ष की वंशपरंपरा के बीच, स्थिति के अनुसार अपने अवयवों में भिन्न भिन्न परिवर्तन प्राप्त करते हुए और उत्तरोत्तर भेदानुसार अनेक शाखाओं में विभक्त होते हुए उत्पन्न हुए हैं। इसी विकास क्रम के अनुसार मनुष्य जाति भी पूर्व युग के उन जीवों से उत्पन्न हुई जिनसे बंदर, बनमानुस आदि उत्पन्न हुए—अर्थात् बनमानुसों और मनुष्यों के पूर्वज एक ही थे। इस विकासवाद से बड़ी खलबली मची। इसकी बात जनसाधारण के विश्वास और धर्मपुस्तकों की पौराणिक सृष्टिकथा के विरुद्ध थी। हमारे यहाँ भी पुराणों में योनियाँ स्थिर कही गई हैं और उनकी संख्या भी चौरासी लाख बता दी गई है। गरुड़पुराण में तो प्रत्येक वर्ग की योनियों की

गिनती तक है[1]। डारविन ने यह अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दिया कि एक जाति के जीवों से ही क्रमशः दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति हुई है। योनियाँ स्थिर नहीं है, स्थितिभेद के अनुसार असंख्य पीढ़ियों के बीच उनके अवयवों आदि में परिवर्तन होते आए हैं जिससे एक योनि के जीवों से दूसरी योनि के जीवों की शाखा चली है। जिस 'जात्यंतरपरिणाम' को एक व्यक्ति में तीव्र परिणाम के रूप में पतंजलि ने अपने योगदर्शन में प्रकृति की पूर्णता से संभव बतलाया था[2] उसी को डारविन ने मृदु परिणाम के रूप में वंशपरंपरा के बीच प्रकृति का एक नियम सिद्ध किया।

यह 'जात्यंतरपरिणाम' होता किस प्रकार है? 'वंशपरंपरा' और 'प्राकृतिक ग्रहण' के नियमानुसार। वंशपरंपरा का नियम यह है कि जो विशेषता किसी जीव में उत्पन्न हो जाती है वह पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और क्रमशः अधिक स्पष्ट होती जाती है। किसी जीव में कोई नई विशेषता उत्पन्न कैसे होती है? परिस्थिति के अनुसार। जिस स्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उसके अनुकूल उनके अंग और उनका स्वभाव क्रमशः होता जाता है। नई स्थिति में जिन अंगों के व्यवहार की आवश्यकता नहीं रह जाती वे निष्क्रिय होते होते कई

---

१ एकविंशति लक्षाणि ह्यंडजाः परिकीर्तिता।
स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिज्जास्तत्प्रमाणतः॥
गरुडपुराण अ० २

२ जात्यंतर परिणामः प्रकृत्यापूरात्। ४ २।—योगदर्शन

नंदीश्वर नाम का कोई व्यक्ति इसी शरीर से मनुष्य से देवता हो गया था। किस प्रकार एक योनि का जीव दूसरी योनि का जीव हो सकता है यही इस सूत्र में बताया गया है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पतंजलि का अभिप्राय एक व्यक्ति को योन्यंतर प्राप्ति है। डारविन ने असंख्य पीढ़ियों में जाकर ऐसा परिणाम होना बताया है।

पीढ़ियों के पीछे लुप्त हो जाते हैं। जिन अवयवों का जिस रूप में व्यवहार आवश्यक हो जाता है उस रूप के व्यवहार के उपयुक्त उनके ढाँचे में भी फेरफार हो जाता है। ऐसा एक दो दिन में नहीं होता, असंख्य पीढ़ियों के बीच मृदु परिणाम के रूप में क्रमशः होता जाता है। परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होना बराबर देखा भी जाता है। एक प्रकार का साँप होता है जो बालू में अंडे देता है। उसे यदि पिंजड़े में बंद करके रखते हैं तो वह बच्चे देने लगता है, अर्थात् अंडज से पिंडज हो जाता है। जो विशेषता एक बार उत्पन्न हो जाती है वह बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चली चलती है और बढ़ती जाती है। जंतुओं के व्यापारी इस बात को जानते हैं। वे प्रायः ऐसा करते हैं कि किसी जाति के कुछ जंतुओं में औरों से कोई विलक्षणता देख उन्हें चुन लेते हैं और उन्हीं के जोड़े लगाते हैं। फि उन जोड़ों से जो जंतु उत्पन्न होते हैं उनमें से भी उनको चुनते हैं जिनमें वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पीढ़ियों पीछे एक नए रूपरंग और ढाँचे का जंतु उत्पन्न कर लेते हैं। जंगली (गोले) नीले कबूतर से अनेक रंग ढंग के पालतू कबूतर इसी तरह पैदा किए गए हैं। यह तो हुआ मनुष्य का चुनाव या 'कृत्रिम ग्रहण'। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे 'प्राकृतिक ग्रहण' कहते हैं। दोनों में अंतर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जंतुओं को चुनता है, पर प्रकृति का चुनाव जंतुओं के लाभ के लिये होता है। 'प्राकृतिक ग्रहण' का अभिप्राय यह है कि जिस परिस्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते हैं तो रह जाते हैं, नहीं तो नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति उन्हीं जीवों को रक्षा के लिये चुनती है जिनमें स्थितिपरिवर्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते हैं।

ह्वेल को ही लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओं का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जंतुओं से क्रमशः उत्पन्न

हुआ है। उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलों में रहते थे। क्रमशः ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीन पर रहना कठिन होता गया और स्थितिपरिवर्तन के अनुसार उनके अवयवों में फेरफार होता गया यहाँ तक कि कुछ काल (लाखों वर्ष समझिए) पीछे उनकी संतति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवों का विधान हो गया—जैसे, उनके अगले पैर मछली के डैनों के रूप के हो गए, यद्यपि उनमें हड्डियाँ वे ही बनी रहीं जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैरों में होती हैं। कई प्रकार के ह्वेलों में पिछली टाँगों का चिह्न अब तक मिलता है। जीवों के ढाँचों में बहुत कुछ परिवर्तन तो अवयवों के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलने पर कुछ अवयवों का व्यवहार अधिक करना पड़ता है, कुछ का कम। मनुष्य को ही लीजिए जिसकी उत्पत्ति बनमानुसों से मिलते जुलते किसी जंतु से धीरे धीरे हुई है। ज्यों ज्यों दो पैरों के बल खड़े होने और चलने की वृत्ति उसमें अधिक होती गई त्यों त्यों उसके दोनों पैर चिपटे, चौड़े और दृढ़ होते गए और एँड़ी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। उसी पूर्वज जंतु से बनमानुसों की भी उत्पत्ति हुई है। बनमानुस से मनुष्य के शरीर के ढाँचे में तो उतना अधिक भेद नहीं पड़ा, पर अंतःकरण या मस्तिष्क की वृद्धि बहुत अधिक हुई।

दार्शनिक अनुमान के रूप में तो विकाससिद्धांत बहुत प्राचीन काल से पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चला आ रहा है। एक अव्यक्त मूल प्रकृति से किस प्रकार क्रमशः जगत् का विकास हुआ है, सांख्य में इसका प्रतिपादन किया गया है। यूनानी तत्त्ववेत्ता भी जगत् का विकास इसी प्रकार मानते थे। पर वैज्ञानिक निश्चय और दार्शनिक अनुमान में बड़ा भेद होता है। दार्शनिक संकेत मात्र देते हैं और वैज्ञानिक ब्योरों की छानबीन करते हैं। जिस समय डारविन ने प्राणियों की उत्पत्ति के संबंध में विकाससिद्धांत को बहुत से प्रत्यक्ष प्रमाणों से पुष्ट

करके प्रकाशित किया उस समय बहुत से लोग विशेषतः पादरी लोग उसके विरोध में खड़े हुए। पर साथ ही बहुत से वैज्ञानिक नए नए प्रमाणों द्वारा उसे पुष्ट करने में तत्पर हुए। जरमनी के जगत्प्रसिद्ध प्राणिविद्या विशारद अध्यापक हैकल इनमें मुख्य थे। उन्होंने सन् १८६६ में, अर्थात् डारविन की पुस्तक प्रकाशित होने के ६ वर्ष पीछे, 'प्राणियों की शरीररचना' नामक एक बहुत बड़ा ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें अनेक नए नए अनुसंधानों के आधार पर यह अच्छी तरह दिखाया गया है कि इस पृथ्वी पर क्रम क्रम से एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव लाखों वर्ष की मृदु परिवर्तन परंपरा के प्रभाव से बराबर उत्पन्न होते आए हैं। हैकल ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीवों से लेकर मनुष्य तक आनेवाली शृंखला ही उत्पत्तिक्रम से दिखाकर संतोष नहीं किया बल्कि विकास को विश्वव्यापक नियम निश्चित करके निर्जीव, सजीव, जड़, चेतन सभी व्यापारों को उसके अंतर्गत बताया। अब आजकल तो प्रत्येक विभाग के वैज्ञानिक अपने अपने विषय का निरूपण विकासक्रम के अनुसार ही करते हैं।

इस पृथ्वी पर जल की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह ऊपर कहा जा चुका है। जल ही में जीवनतत्व की उत्पत्ति हुई। जल ही में उस सजीव या सेंद्रिय[1] द्रव्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसे कललरस कहते हैं। जिन्हें हम सजीव व्यापार कहते हैं—जैसे, आपसे आप चलना, खाना, पीना, बढ़ना, आहार की ओर दौड़ना, छूने से हटना—वे सब इसी अद्भुत द्रव्य की क्रियाएँ हैं। इसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजीव कणिका भी ये सब व्यापार करती है। यह अंडे की जरदी से मिलता जुलता मधु के समान चिपचिपा दानेदार द्रव्य है जो अणुजीव के रूप में जल के भीतर भी इधर उधर घूमता फिरता पाया जाता है और छोटे बड़े सब

---

१. सेन्द्रिय चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।—वरक।

प्राणियों के शरीर में भी। इसकी गूढ़रचना अंगारक (कारबन), अम्लजन गैस (आक्सिजन), नत्रजन गैस और हाइड्रोजन गैस द्वारा संघटित द्रव्यों के विलक्षण मेल से हुई। इन द्रव्यों में अंगारक ही मुख्य है। रासायनिकों की परीक्षा से ये ही चार मूल द्रव्य इसमें मुख्यतः पाए गए। जल, गंधक, फासफर का अंश भी कुछ रहता है। यद्यपि अपने विश्लेषण द्वारा रासायनिक इस अद्भुत द्रव्य के मूल उपादानों को जान गए हैं पर वे उनके द्वारा संघटित अणुओं की विलक्षण योजना को कुछ भी नहीं समझ सके हैं।

विकाससिद्धांत के अनुसार इस सजीव द्रव्य की उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से माननी पड़ती है। पर कोई रासायनिक आज तक अपनी योजना द्वारा इसे उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुआ। यह केवल सजीव प्राणियों—जंतुओं और पौधों–में ही पाया जाता है। यह जब पाया जाता है तब शरीर (बिंदुरूपी शरीर ही सही) रूप में ही जीवन के व्यापार करता पाया जाता है, निर्जीव द्रव्यों से बनता हुआ कहीं नहीं पाया जाता। इससे बहुत से लोग इसकी उत्पत्ति निर्जीव द्रव्य से नहीं मानते। विकासवाद के प्रसिद्ध निरूपक हक्सले तक ने कह दिया कि इस प्रकार की उत्पत्ति के प्रमाण नहीं मिलते। पर अधिकांश वैज्ञानिक इस प्रकार की उत्पत्ति मानना अनिवार्य समझते हैं। वे यह तो मान नहीं सकते कि आदि से ही ऐसे जटिल द्रव्य की योजना चली आ रही है या सजीवता एक अभौतिक तत्त्व के रूप में कहीं से टपक पड़ी है। अभी सन् १९१२ में ब्रिटिश असोसिएशन के सामने शरीर विज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य (एडिनबरा के) अध्यापक शेफर ने कहा है—

'सजीव द्रव्य उत्पन्न कर देने की संभावना उतनी दूर नहीं है जितनी साधारणतः समझी जाती है। इच्छानुसार सजीव द्रव्य उत्पन्न किया जाने लगे तो भी आकार और व्यापार में परस्पर भिन्न जो इतने

असंख्य प्रकार के जीव दिखाई पड़ते हैं विज्ञान के परीक्षालयों में उनके तैयार होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि सजीव द्रव्य तैयार किया जा सकेगा, जिसमें मुझको कोई संदेह नहीं है, तो वह द्रव्य के [illegible] अर्क से नहीं। चाहे आज तक काम में लाई गई युक्तियों और प्रमाणों पर हमें विश्वास न हो पर यह हमें मानना पड़ेगा कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य तैयार करने की संभावना है।'

निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य उत्पन्न होता कहीं पाया नहीं जाता इसी बात की पुकार सुनकर हैकल को यह मानना पड़ा है कि निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य इस पृथ्वी पर केवल एक बार आरंभ में उत्पन्न हुआ, उसके उपरांत वह वंशवृद्धि क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस सिद्धांत के संबंध में अध्यापक शेफर ने कहा—

'यदि हम यह मान लेते हैं कि पृथ्वी के इतिहास में केवल एक ही बार निर्जीव से सजीव का विकास हुआ है तो प्राणतत्व संबंधिनी समस्याओं के अंतिम समाधान की कोई आशा नहीं रह जाती। पर क्या हमें ऐसा मान लेना उचित है कि पृथ्वी पर केवल एक ही बार, वह भी न जाने किस शुभ संयोग से, निर्जीव द्रव्य से सजीव द्रव्य का विकास हुआ और प्राणतत्व की प्रतिष्ठा हुई? ऐसा मानने का कोई कारण न देख अंत में यही धारणा पक्की ठहरती है कि निर्जीव से सजीव का विकास एक ही बार नहीं कई बार हुआ है और कौन जाने अब भी हो रहा हो।'

जीवों का विकासक्रम दिखाने के पहले यह कह देना आवश्यक है कि जंतु और पौधे दोनों सजीव सृष्टि के अंतर्गत हैं, दोनों में जीव है। पहले लोग समझते थे कि जंतु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है 'उद्भिजाः स्थावरास्सर्वे बीजकांडप्ररोहिणः।' पर वास्तव में चर अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जंतु हैं जो अचर हैं

जैसे, स्पंज, मूँगा आदि, और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते फिरते रहते हैं। बहुत से ऐसे पौधे होते हैं जो जंतुओं के समान मक्खियों आदि का शिकार करते हैं, उन्हें अपनी पत्तियों में बंद करके पचा जाते हैं। जंतुओं और पौधों में मूलभेद नहीं है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण खुमी (कुकुरमुत्ते) की जाति के कुछ समुद्री पौधों में मिलता है जिनके बीजकण जंतु के रूप में अलग होकर अपनी रोइयों से पानी में तैरते फिरते हैं और कुछ दिन पीछे किसी चट्टान आदि पर जम जाते हैं और पौधे के रूप में होकर बढ़ते हैं। यह बात तो बहुत से लोग जानते ही हैं कि पौधों में भी पाचनक्रिया होती है और वे भी साँस लेते हैं। पर पहले लोग जंतुओं में यह विशेषता समझते थे कि उनमें पाचन के लिये अलग कोठा (पेट) होता है, वे अम्लजन वा प्राणदवायु साँस द्वारा खींचते हैं और अंगारक (कारबन) वायु निकालते हैं तथा उनमें संवेदन सूत्रात्मक विज्ञानमय कोश होता है। पर अब ऐसे क्षुद्र कोटि के जंतुओं का पता है जिनमें पेट, मुँह आदि कुछ नहीं होता और कई ऐसे पौधे देखे गए हैं जिनमें ये अंग होते हैं। पहले लोगों को केवल उच्च कोटि के जंतुओं का ही ज्ञान था जिनका खाद्य ठोस होता है और जिनके लिये पक्काशय और मुँह की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार पेड़ पौधों में भी लोग उन्हीं को जानते थे जिनका आहार वायव्य या द्रव होता था। अब मांसाशी पौधों की पत्तियों की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि उनमें काँटों की तरह सूक्ष्म ग्रंथियाँ होती हैं जिनमें पित्तरस रहता है (जैसे जंतुओं के यकृत और आँतों की ग्रंथियों में)। यहीं तक नहीं अंकुरित बीजों में जंतुओं के पाचनरस का सा विधान देखा जाता है और बीजदल में जो खाद्य द्रव्य रहता है वह उसी प्रकार पचकर बीज को पुष्ट करता है जिस प्रकार पेट में भोजन पचता है। हरे पौधे प्रकाश में तो अंगारक-वायु का विश्लेषण करके अम्लजन वायु छोड़ते हैं, पर अंधेरे में

इसका उलटा करते हैं—अर्थात् जंतुओं के समान अम्लजन का ग्रहण और अंगारक का विसर्जन करते हैं।

अब रहा संवेदन। संवेदन का सबसे आदिम रूप है प्रतिक्रिया, अर्थात् किसी पदार्थ के साथ संपर्क होते ही शरीर में भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है, अर्थात् यह ज्ञानपूर्वक नहीं होती—जैसे आँख के पास किसी वस्तु के जाते ही पलकों का आप से आप बंद हो जाना, दूसरी ओर ध्यान रहने पर पैर में कुछ छू जाते ही पैर का आप से आप हट या सिमट जाना इत्यादि। अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवों में संवेदन इसी प्रतिक्रिया के रूप में ही माना जाता है। लजालू आदि पौधों में तो यह प्रतिक्रिया स्पष्ट देखी जाती है। और सब पौधों के भीतर भी इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है पर वह सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं पड़ती। जिस प्रकार अणुजीव छू जाने पर संकुचित हो जाते हैं उसी प्रकार पौधों के घटक भी करते पाए जाते हैं। पौधों की जड़ों की नोकें अत्यंत संवेदनग्राहिणी होती हैं। जहाँ उन पर संपर्क आदि द्वारा संवेदन हुआ कि वह एक घटक से दूसरे घटक में उसी प्रकार पहुँचता है जिस प्रकार क्षुद्र जंतुओं में। फूल पत्तों में सोने जागने की गति देखी ही जाती है जो प्रकाश के प्रभाव से होती है। प्रकाश का प्रभाव जिस प्रकार हमारे संवेदनविधान या विज्ञानमय कोश पर पड़ता है उसी प्रकार पौधों के संवेदनविधान पर भी। कमल आदि बहुत से फूलों का दिन का प्रकाश पा कर खिलना और रात को बंद हो जाना एक प्रसिद्ध बात है। मनु ने भी उद्भिजों की गिनती जीवों या प्राणियों मे की है और उनमें अंतस्संज्ञा मानी है, यथा—तमसा बहुरूपेण वेष्टितः कर्महेतुना। अंतस्संज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विता॥ अध्यापक जगदीशचंद्र बसु ने तो पौधों के सुख दुःख आदि के संवेदन को अर्थात् उनके संवदनसूत्रों में उत्पन्न क्षोभ को अपने सूक्ष्म और अद्भुत यंत्रों

द्वारा प्रत्यक्ष दिखा दिया है। यहीं तक नहीं उन्होंने अपनी खोज और आगे बढ़ाई है। उन्होंने धातुओं में भी संवेदन के क्षोभ का आभास दे कर निर्जीव और सजीव के बीच समझे जाने वाले भेदभाव को बहुत कुछ मिटा दिया है। अध्यापक शेफर ने भी अपने व्याख्यान में कहा था कि 'आजकल के नए नए अनुसंधानों से यह सूचित हुआ है कि निर्जीव और सजीव में जितना भेद प्रतीत होता है वास्तव में उतना भेद नहीं है और इन दोनों का एक सामान्य लक्षण स्थापित होने की संभावना बढ़ गई है।'

अत्यंत क्षुद्र कोटि के जंतुओं और पौधों में तो प्रायः सब बातों में समानता पाई जाती है। पर ज्यों ज्यों हम उन्नत पौधों की ओर आते हैं त्यों त्यों उनमें जंतुओं से विभिन्नता अधिक मिलती जाती है। इससे स्पष्ट है कि एक ही सजीव द्रव्य वा कललरस से जंतुओं और उद्भिजों दोनों की उत्पत्ति हुई पर आरंभ ही से उद्भिजों की शाखा अलग हो गई और उनकी विकासपरंपरा अलग चली। यह भेद पौधों में उस हरित धातु के कारण पड़ा जो उनके कललरस में मिली रहती है और जिसके कारण पेड़ पौधों का रंग हरा दिखाई पड़ता है। यह हरितधातु वास्तव में कललरस का ही एक विकार है जो जंतुओं के कललरस में नहीं होता। अत्यंत क्षुद्र कोटि के कुछ कृमियों में यह बहुत थोड़ी मात्रा में पाई जाती है, पर जंतुओं में इसका अभाव ही समझना चाहिए। इस धातु में से इसका हरा रंग निकाला भी जा सकता है। शिशिर ऋतु में पत्तियों के रंग का बदलना इसी रंग के फटने के कारण होता है।

पौधों और जंतुओं में बड़ा भारी भेद आहार का है। ऊपर कहा जा चुका है कि पौधों का आहार वायु और मिट्टी आदि मिले हुए जल के रूप में होता है। जिस प्रकार ये वायव्य द्रव्यों को विश्लिष्ट करके अपना ठोस अंग बनाते हैं उसी प्रकार मिट्टी आदि को सजीव धातु के

रूप में लाते हैं। इस प्रकार अदृश्य को दृश्य रूप में और निर्जीव को सजीव द्रव्य में परिणत करने की शक्ति पेड़ पौधों में ही है जंतुओं में नहीं जिनका भोजन किसी न किसी जीवधारी का शरीर ही होता है, चाहे जंतु का हो चाहे वनस्पति का। पौधों में यह अद्भुत शक्ति उक्त हरित धातु के ही कारण होती है[1]। जड़ों से जो जल पौधे खींचते हैं और पत्तियों के सूक्ष्म छिद्रों से जो अंगारक वायु भीतर लेते हैं उन्हें यह धातु सूर्य की गरमी पाकर विश्लिष्ट कर देती है जिससे अम्लजन वायु तो निकल जाती है उदजन वायु (हाइड्रोजन) और अंगारक रह जाता है। इन दोनों से मिलकर यह उन अंगारक मिश्रणों को घटित करती है जो शरीर धातु कहलाते हैं और जिनसे पौधों के घटक, तंतु-जाल आदि बनते हैं। जंतु ऐसा नहीं करते। वे जल, क्षार, वायु, मिट्टी आदि निर्जीव द्रव्यों को खाकर सजीव द्रव्यों के रूप में नहीं ला सकते। वे पौधों से ही शरीर धातु बनी बनाई प्राप्त करते हैं। पेड़ पौधों ही जड़ द्रव्य से इस धातु का निर्माण करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कललरस की उत्पत्ति जल में ही हुई। इसी कललरस के अत्यंत सूक्ष्म कण जो स्वतंत्र रूप से जीवों के

---

१. छत्राक या खुमी की जाति के पौधों (कुकुरमुत्ता, ढिंगरी, भूफोड़, भुकड़ी इत्यादि) में हरित धातु नहीं होती इससे उनका रंग भी हरा नहीं होता और उनमें उद्भिद्धर्म भी नहीं होता। वे मिट्टी पानी आदि निर्जीव द्रव्यों को अपने शरीर की धातु के रूप में नहीं ला सकते। उनका पोषण मिट्टी और पानी से नहीं हो सकता। उनके पोषण के लिये किसी जीव का अर्थात पौधे या जंतु का शरीर चाहिए। इससे वे जब उगेंगे तब सड़ी लकड़ी के ऊपर या ऐसी जगह जहाँ की मिट्टी में मरे हुए जंतुओं या पौधों के शरीरांश मिले होंगे। बरसात में फलों आदि के ऊपर जो सफेद सफेद भुकड़ी जम जाती है वह इसी जाति के पौधों का समूह है। दाद के चकत्तों में इन्हीं का समूह समझिए। सड़ाव और खमीर का कारण भी खुमी की जाति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुजीव हैं।

मूल व्यापार करते हैं घटक कहलाते हैं। उनमें कुछ तो मधुबिंदुवत् खुले ही रहते हैं, कुछ के ऊपर झिल्ली होती है, कुछ के बीच में एक बहुत सूक्ष्म गुठली सी होती है और कुछ सर्वत्र समान वा एकरस होते हैं। इन्हीं घटकों के योग से पौधों और जंतुओं के शरीर संघटित हुए हैं। इन घटकों को अणुशरीर समझिए क्योंकि ये जिस प्रकार जीवधारियों के शरीर में तंतुजाल के रूप में गुछे पाए जाते हैं उसी प्रकार जीव के रूप में समुद्र या गड्ढों आदि के जल में भी चलते फिरते पाए जाते हैं। इन्हीं अणुशरीरों की योजना से छोटे बड़े सब शरीर बने हैं—क्या जंतुओं के, क्या पेड़ पौधों के[1]। शुक्रकीटाणु और रजःकीटाणु भी एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म घटक मात्र हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि घटक अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। कुछ तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक इंच के लाखवें भाग के बराबर भी नहीं होते। जैसे कुछ अणूद्भिद्। कुछ इतने बड़े होते हैं कि बिना खुर्दबीन की सहायता के भी देखे जा सकते हैं। पर अधिकांश घटक या घटकरूप जीव अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र के बिना नहीं दिखाई पड़ते। जो जीव एक घटक मात्र हैं वे एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं और जिनका शरीर दो या अधिक घटकों का होता है वे बहुघटक जीव कहलाते हैं।

आदि में एकघटक अणुजीव ही जल में उत्पन्न हुए जिनका शरीर एक घटक मात्र था। एक घटक अणूद्भिद् अब भी समुद्र, ताल आदि के जल में पाए जाते हैं। उनमें स्त्री पुं० भेद नहीं होता, उनकी वृद्धि बीज से नहीं होती विभाग द्वारा होती है। अणुरूप एकघटक पौधे छोटे बड़े कई प्रकार के होते हैं। इन अणूद्भिदों के पहले पहल परस्पर मिलकर एक

---

१. चरक ने भी शरीर के परमाणुरूप सूक्ष्म अवयव माने हैं। शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतीतसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च।

—चरक ७

शरीर बनाने से अत्यंत क्षुद्र कोटि के बिना फूलवाले पौधे हुए, जैसे, सेवार, काई, भुकड़ी, खुमी इत्यादि जिनमें खुले हुए अंकुरबिदु उत्पन्न होते हैं। इन खुले हुए अंकुरबिदु वाले पौधों से फर्न आदि आवरणयुक्त अंकुरविदुवाले पौधे हुए। इन अंकुरविदुवाले पौधों की वृद्धि गर्भकेसर और परागकेसर द्वारा नहीं होती, ये निष्पुष्प पौधे हैं। इनमें अंकुरविंदु निकलते हैं जिनसे अंकुरित होकर नए पौधे उत्पन्न होते हैं। पर कुछ गूढ़लिंग निष्पुष्प पौधे ऐसे भी होते हैं जिनमें यद्यपि स्त्री पुं० अवयव (गर्भकेसर, परागकेसर) अलग अलग नहीं होते पर जंतुओं के शुक्र-कीटाणु और रजःकीटाणु के समान स्त्री पुं० घटक अलग अलग होते हैं। अंकुरविंदुवाले पौधों से क्रमशः फूलवाले अर्थात् स्त्री पुं० अवयव-वाले पौधे हुए जिनमें गर्भाधान गर्भकेसर के बीच परागकेसर के पराग के पड़ने से होता है। गर्भकेसर और परागकेसर ही वास्तव में पुष्प हैं, रंगीन दल या पखड़ी नहीं। अत्यंत निम्न श्रेणी के फूलवाले पौधों में पंखड़ियाँ नहीं होतीं। फूलवाले पौधों में पहले देवदार आदि खुले बीज के पौधे हुए फिर उनसे आवरणयुक्त बीजवाले तृण, लता, गुल्म, वृक्ष इत्यादि हुए।

इसी प्रकार जंतुओं में सबसे मूल जंतु अणुरूप ही हुए। अणुजीव अब भी समुद्र या तालों में पाए जाते हैं और अत्यंत सूक्ष्म कललबिंदु मात्र होते हैं। ये बहुत अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा ही दिखाई पड़ सकते हैं। अत्यंत सूक्ष्म अणुरूप ऐसे जीवों को छोड़ जिनके व्यापार आदि स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं हो सके हैं सबसे सादा और सूक्ष्म जीव जिसके कार्यकलाप देखे जा सके हैं, मोनरा है। यह जल में पाया जाता है। इसका सारा शरीर मधुबिंदुवत् सर्वत्र समान होता है, उसमें पेट, मुँह, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अलग अलग अंग नहीं होते। इन अंगों से जो व्यापार होते हैं वे आवश्यकतानुसार इस जंतु के प्रत्येक भाग से संपादित होते हैं। जीवों के व्यापार तीन

हैं—पोषण, प्रजनन और वाह्यविषय ग्रहण। मोनरा प्रत्येक भाग से अपना आहार भीतर ले सकता है, प्रत्येक भाग से पचा कर निकाल सकता है, प्रत्येक भाग से वायु को खींच और छोड़ सकता है। यह अपने चारो ओर जिधर आवश्यक होता है उधर लंबे लंबे शंकु या पदाभास निकालता है। इसका शरीर मधुविंदुवत् तो होता ही है जिधर शंकु या पदाभास निकलते हैं उसी ओर को ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह चलता है और अपने शिकार या आहार (जल में मिले हुए अत्यंत सूक्ष्म अणूद्भिद् या जंतु) को छोप लेता है। शरीर का प्रत्येक भाग आहार चूस सकता और मल बाहर निकाल सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवों में स्त्री पुं० विधान नहीं होता। उनकी अमैथुन सृष्टि होती है। अब मोनरा में प्रजनन या वृद्धि किस प्रकार होती है यह देखिए। जो मोनरा आहार आदि पाकर खूब पुष्ट होता है वह कुछ अधिक लंबा हो जाता है और उसका मध्य भाग पतला पड़ने लगता है, यहाँ तक कि बहुत कम रह जाता है और जंतु बीच से दो भागों में विभक्त दिखाई पड़ता है। अंत में मध्य से टूट कर दोनों भाग अलग अलग हो जाते हैं अर्थात् दो नए जंतु होकर अपना जीवन आरंभ करते और बढ़ते हैं। इस प्रकार पूर्व जंतु का व्यक्तित्व या जीवन समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर दो नए जंतु हो जाते हैं। ऐसे प्रजनन विधान को विभाग कहते हैं।

जंतुओं का प्रधान लक्षण वह क्रिया है जो उनमें वाह्य वस्तुओं के संपर्क से उत्पन्न होती है, जैसे ईथर या आकाश द्रव्य की लहरों का संपर्क जिसका ग्रहण नेत्रेंद्रिय में प्रकाश रूप से होता है, वायु की तरंगों का संपर्क जिसका ग्रहण श्रोत्रेंद्रिय में शब्द रूप से होता है, स्थूल पदार्थों का संपर्क जिसका ग्रहण त्वचा को स्पर्श रूप से होता है। मोनरा को अलग अलग अवयव या इंद्रियाँ नहीं होती। पर इससे

यह न समझना चाहिए कि वह बाह्य विषयों का ग्रहण नहीं करता। भिन्न भिन्न विषयों का ग्रहण उसमें सर्वत्र समान रूप से होता है। यह ग्रहण चाहे अत्यंत सूक्ष्म वा अल्प हो; पर होता अवश्य है। किसी वस्तु से छू जाने पर उसका शरीर सुकड़ जाता है। इस प्रकार स्पर्श का संवेदन उसमें प्रत्यक्ष देखा जाता है।

मोनरा से कुछ उन्नत कोटि का जीव अमीबा (अस्थिराकृति अणुजीव) है जिसमें एकरूपता या निर्विशेषत्व (एक भाग से दूसरे भाग में कोई विशेषता न होना) का भंग और अनेकरूपता का कुछ कुछ आरंभ होता है। मोनरा का शरीर मधुविदुवत् सर्वत्र एकरूप होता है पर अमीबा के शरीर पर अत्यंत महीन झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच में एक सूक्ष्म गुठली सी होता है जो यद्यपि कललरस की ही होती है पर अधिक तीव्र होती है। इस गुठली के अतिरिक्त कललरस के बीच झिल्ली से घिरा हुआ एक खाली स्थान भी होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। मोनरा के समान इसकी गतिविधि और पाचन क्रिया भी कललरस की ही गति और क्रिया से होती है। अत्यंत सूक्ष्म अणुजीव या पौधे अथवा उनसे कुछ बड़े जीवों के शरीरखंड जो जल में रहते हैं और आहार के रूप में इसके भीतर जाते हैं, उनके सार भाग को तो कललरस अपनी ही क्रिया से अपने में मिला लेता है और शेष भाग को बाहर निकाल देता है। इसका चलना भी कललरस ही की क्रिया से होता है अर्थात् जिस ओर शंकु या पदाभास निकलते हैं उस ओर सारा कललरस अर्थात् शरीर ढल पड़ता है। इसी प्रकार यह अपना मार्ग निकालता चला जाता है। जल में जहाँ रेत या मिट्टी के सूक्ष्म कण होते हैं वहाँ यह उन्हें बड़ी सफाई से बचा जाता है। पदाभासों के निकालने का कोई निश्चित स्थान न होने से इसका आकार स्थिर नहीं होता।

ऊपर कहा जा चुका है कि कललरस का अत्यंत सूक्ष्म कण जो प्राणियों के सब आवश्यक व्यापार स्वतंत्र रूप से कर सकता है, घटक कहलाता है और मोनरा या अमीबा इसी प्रकार का एक घटक मात्र है। अतः ये दोनों एकघटक जीव या अणुजीव कहलाते हैं। इसी प्रकार के घटकों के योग से सब जंतुओं के शरीर बने हैं। मनुष्य के रक्त की श्वेत कणिकाएँ जो अच्छे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा ही देखी जा सकती हैं, अमीबा से मिलती जुलती होती हैं और उसी के समान सब व्यापार करती हैं। मोनरा और अमीबा अत्यंत सादे ढाँचे के जीव हैं। इनके अतिरिक्त छोटे बड़े और अनेक प्रकार के एकघटक अणुजीव होते हैं जिनमें से कुछ तो इतने बड़े (एक इंच के १००वें भाग के बराबर) होते हैं कि आँख से अच्छी तरह दिखाई पड़ सकते हैं। बहुत से अणुजीव जल में से चूने आदि का संग्रह करके अपने ऊपर कड़ी खोलड़ी बनाते हैं। कुछ अणुजीवों की खोलड़ियाँ बहुत ही सुंदर और चित्रविचित्र होती हैं। जब वे अणुजीव मर जाते हैं तब खोलड़ियाँ गिर कर पानी के तल में बैठ जाती हैं। खरिया मिट्टी ऐसे ही जीवों की खोलड़ियों के तह पर तह जमने से बनती है।

जैसा कि पहले कह आए हैं अणुजीवों में जोड़े नहीं होते; उनकी वृद्धि अमैथुनविधान से होती है—अर्थात् कुछ अणुजीवों में तो यह होता है कि एक जीव के बीच से दो खंड होकर दो अलग अलग जीव हो जाते हैं; और कुछ के शरीर पर अंकुरबिंदु निकलते हैं जो अलग होकर और बढ़कर स्वतंत्र जीव हो जाते हैं। पर कुछ उन्नत कोटि के अणुजीव ऐसे भी होते हैं जिनमें मैथुनविधान अपने मूलरूप में देखा जाता है। वे पुछल्लेवाले अणुजीवों में से हैं और बहुत से मिल कर चक्र या छत्ता बना कर रहते हैं। एक छत्ते के अंतर्गत अनेक जीव रहते हैं। तरुणावस्था प्राप्त होने पर कुछ जीव छत्ते से अलग हो जाते हैं और मिलकर एक अलग कीटाणुचक्र बनाते हैं और कुछ

अलग अलग बढ़कर गर्भांड के रूप में हो जाते हैं। कीटाणुचक्र का प्रत्येक कीटाणु पुछल्लेदार सूक्ष्म कीट होता है (मनुष्य आदि जरायुज जंतुओं के शुक्रकीटाणु भी इसी प्रकार के होते हैं) जो गर्भांड रूप कीट से बहुत छोटा होता है। पुछल्लेदार पुं० कीटाणु चक्र से छूटने पर अपने पुछल्लों को लहराते हुए जल में इधर उधर तैरने लगते हैं पर गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु अचल भाव से स्थिर रहते हैं। एक एक गर्भांड रूप स्त्री कीटाणु को अनेक पुं० कीटाणु जा घेरते हैं और अंत में एक उसके भीतर घुसकर संयुक्त हो जाता है। इस प्रकार संयोग हो जाने पर दोनों मिलकर एक अंडे का आकार धारण करते हैं। अंडे के भीतर का कललरस विभागक्रम द्वारा अनेक कणों में विभक्त हो जाता है। अंडे के फूटने पर ये कण बाहर निकलकर तैरने लगते हैं। थोड़े ही दिनों में इन्हें पुछल्ले निकल आते हैं और ये पूरे जंतु होकर इधर उधर तैरते फिरते हैं। इन पुछल्लेवाले जीवों का शरीर सर्वत्र समान नहीं होता, सूक्ष्म त्वक् और पुछल्ले के अतिरिक्त आहारमिश्रित जल के प्रवेश के लिये एक विवर भी होता है जिसे मुँह कह सकते हैं।

जीवोत्पत्ति का आरंभ मोनरा और अमीबा के समान अत्यंत सादे ढाँचे के कललविंदु रूप अणुजीवों से हुआ जिनके शरीर का सारा भाग बाह्य भूतों के भिन्न भिन्न प्रकार के संपर्कों को समान रूप से ग्रहण करता था, प्रत्येक भाग प्रत्येक व्यापार कर सकता था। फिर असंख्य पीढ़ियों के पीछे होते होते यह हुआ कि जिस भाग पर स्थिति के अनुसार संपर्क अधिक हुआ उसमें अभ्यास के कारण संपर्क अधिक ग्रहण करने की विशेषता उत्पन्न हुई। इस गुणविकास के साथ ही उस भाग की आकृति में भी परिवर्तन हुआ। जैसे, मोनरा का शरीर जल में पड़े हुए मधुविंदु के समान सर्वत्र एकरूप था और उसके चारो ओर बाह्यभूतों के अणवात्मक प्रवाहों का आघात पड़ता था। यह आघात पहले ऊपरी सतह पर पड़ कर तब भीतरी कललरस को

कणिकाओं पर प्रभाव डालता था। अतः स्थिति के अनुसार जिनमें उक्त आघात का ग्रहण अधिक हुआ उनके ऊपरी तल में और कललरस के भीतरी कणों की स्थिति में, भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार विशेषताएँ उत्पन्न होने लगी। ये विशेषताएँ बराबर वृद्धि को प्राप्त होती गईं यहाँ तक कि अमीबा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके ऊपर झिल्ली का आवरण होता है और भीतर कललरस के बीच एक गुठली तथा फैलने और सुकड़नेवाला एक खाली स्थान होता है।

बहुत से अणुजीव मिल कर एक समूहपिंड या छत्ता सा बना लेते हैं। समूहचक्र में बद्ध रहने पर भी प्रत्येक जीव अलग अलग कीटाणु होता है, सब मिल कर एक जीव या एक शरीर नहीं हो जाते। ये समूहपिंड या चक्र इस प्रकार बनते हैं। चक्रबद्ध अणुजीवों में जो वृद्धि-विधान होता है उसमें मोनरा और अमीबा के समान पूरा विभाग नहीं होता। एक अणुजीव का शरीर जब दो भागों में विभक्त होने लगता है तब मोनरा या अमीबा के समान दोनों भाग अलग अलग नहीं हो जाते, कललरस के एक सूत्र द्वारा एक दूसरे से लगे रहते हैं। फिर वे दोनों भाग अपनी पूरी बाढ़ पर पहुँचने पर उसी प्रकार दो दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। इसी क्रम से एक जीव से अनेक जीव हो जाते हैं जो एक दूसरे से लगे रहते हैं। इस प्रकार के समूहचक्र के कीटाणु सब एक ढाँचे के होते हैं और प्रायः अलग अलग कोशों में रहते हैं।

समूहचक्र या छत्ते की योजना के अतिरिक्त एक और भी घनिष्ठ और गूढ़तर योजना होती है जिससे एक शरीर या समवायपिंड की उत्पत्ति होती है। इसमें बहुत से अणुजीवरूप घटक मिल कर एक शरीर या जीव हो जाते हैं। अणु जीवों को छोड़ और सब प्राणियों के शरीर बहुत से घटकों की ऐसी ही गूढ़ योजना से बने हैं। बड़े से बड़े जीवों का शरीर वास्तव में घटकों या अणुजीवों की एक ऐसी सुव्य-

वस्थित बस्ती है जिसमें एक प्रकार की एकता आ गई है। शरीर संघटित करने में घटकों की जो योजना होती है उसमें सब घटक मिल कर एक तंतुपटल के रूप में हो जाते हैं और भिन्न भिन्न भागों में कार्यानुरूप भिन्न भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। जंतुओं की पेशियाँ, हड्डियाँ, नसें, शिराएँ, संवेदन सूत्र इत्यादि सब अणुजीवरूप घटकों की योजना से संघटित हैं।

आरंभ में अणुजीवरूप घटक मिल कर झिल्ली के रूप में हुए अतः सब से सादे और आदिम कोटि के बहुघटक जीव दुहरी या तिहरी झिल्ली के कोश के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। स्पंज या मुर्दा बादल इसी प्रकार के जीव हैं। ये समुद्र की चट्टानों आदि पर जमे रहते हैं, चल फिर नहीं सकते और कई प्रकार के होते हैं। स्लेट पोंछने के लिये लड़के जो स्पंज रखते हैं उसे बहुतों ने देखा होगा। स्पंज का शरीर छिद्रमय कोश मात्र होता है जिसके भीतर बहुत सी नलियाँ होती हैं। सूक्ष्म जीवों से पूर्ण जल मुखविवर से होकर भीतर जाता है और नलियों के द्वारा चारों ओर घूम कर सारे घटकों का पोषण करता है। इन नलियों के अतिरिक्त और अलग अलग अवयव नहीं होते और ये नलियाँ भी भिन्न भिन्न कार्यों के लिये भिन्न भिन्न नहीं होतीं, सब समान रूप से जलवहन का कार्य करती हैं। ऐसा नहीं होता कि पाचन के लिये अलग नलियाँ हों और जलप्रवाह के लिये अलग। स्पंजों की वंशवृद्धि अमैथुनविधान से भी होती हैं और मैथुनविधान से भी। जिन निम्न कोटि के स्पंजों की वृद्धि अमैथुनविधान से होती है उनके शरीर पर कुड्मल या अंकुरविंदु उत्पन्न होते हैं जो अलग होकर बढ़ते और पूरे जीव हो जाते हैं। बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ये कुड्मल स्वतंत्र घटक होते हैं जो विभागपरंपरा द्वारा एक से अनेक होकर शरीर की योजना करते हैं। मैथुनविधान वाले स्पंजों में पुं० घटक और स्त्री घटक एक ही जीव के भीतर होते हैं; उसी प्रकार जैसे अधिकांश

पौधों में गर्भकेसर और परागकेसर एक ही फूल में होते हैं। पुं० घटक फूट कर अनेक छोटे कणों में विभक्त हो जाता है। एक एक कण बढ़ कर पुछल्लेदार कीटाणु; जैसा कि शुक्रकीटाणु होता है, हो जाता है। स्त्रीघटक बढ़ कर गर्भांड के रूप में हो जाता है। स्पंज के शरीर के भीतर ही पुं० कीटाणु गर्भांडरूप कीटाणु में प्रवेश करता है। संयोग के उपरांत एकीभूत पिंड भीतर ही भीतर कुछ काल तक बढ़ता है, फिर बाहर निकल कर डिंभकीट के रूप में रोइयों के सहारे जल में तैरता फिरता है, और अंत में किसी चट्टान पर जमकर बढ़ते बढ़ते स्पंज के रूप में हो जाता है।

स्पंज से उन्नत कोटि के जीव छत्रक, मूँगे आदि होते हैं जिनके शरीर में अवयवविधान कुछ अधिक होता है। उनके मुखविवर के नीचे एकबारगी खाली जगह नहीं पड़ती बल्कि नली के आकार का एक स्रोत थोड़ी दूर तक होता है, पक्वाशय अलग होता है, शिकार पकड़ने के लिये बहुत सी भुजाएँ होती हैं।

छत्रक कृमि की उत्पत्ति विलक्षण रीति से होती है। समुद्र या झील आदि में लकड़ी के तख्तों या चट्टानों पर रुई की तरह कोमल एक प्रकार के कृमियों का समूहपिंड जमा मिलता है जो देखने में बिल्कुल पौधे के आकार का होता है। इसे खंडबीज कहते हैं क्योंकि यदि इसके कई खंड कर डालें तो प्रत्येक खंड बढ़ कर पूरा कृमिपिंड हो जाता है। इसके प्रधान कांड में से जगह जगह शाखाएँ निकली होती हैं जो सिरे पर चौड़ी होकर गिलास के आकार की होती हैं। इसी गिलास के भीतर असली कृमि बंद रहता है, केवल उसकी सूत की सी भुजाएँ इधर उधर बाहर निकली होती हैं। अचरपिंड में बद्ध रहने वाले ये कृमि केवल नली के आकार के होते हैं। इनमें संवेदन-सूत्र और इंद्रियाँ आदि नहीं होती, संवेदन शरीरभर में होता है। पर कुछ शाखाओं के सिरों पर कुड्मलों का गुच्छा सा होता है। जब

कुड्मल अपनी पूरी बाढ़ को पहुँच जाता है तब एक स्वतंत्र जीव होकर कांड से अलग हो जाता है और चर जंतु के रूप में इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रक कृमि कहते हैं। यह खुमी (छत्राक) के छाते के आकार का होता है और इसके चारो ओर चाबुक के आकार की लंबी लंबी भुजाएँ निकली होती हैं। इसके पेटे (नतोदर भाग) के बीचोबीच एक चोंगा सा निकला होता है जिसके सिरे पर मुँह होता है। इस चोंगे की जड़ से कई नलियाँ छाते की तीलियों की तरह निकल कर उस नली से मिली होती हैं जो मँडरे पर मंडलाकार होती है। मुँह के भीतर जो भोजन जाता है वह चोंगे के भीतर पचकर नलियों के द्वारा सारे शरीर में फैल कर पोषण करता है। मँडरे पर से जो भुजाएँ निकली होती हैं उनमें से आठ ऐसी होती हैं, जिनके मूल में एक एक सूक्ष्म गुठली सी होती है जिसे हम संवेदनग्रंथि कह सकते हैं। इन इंद्रियों या अवयवों से दिशा का ज्ञान होता है। सारांश यह कि छत्रक कृमि अपने जनक खंडबीज कृमि से बहुत अधिक उन्नत होता है। इसमें नेत्रविंदु के भी आभास होते हैं, संवेदनग्रंथियों का भी विधान होता है। खंडबीज कृमि में स्त्री पुरुष विधान नहीं होता, कुड्मल विधान होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। पर उसी से उत्पन्न छत्रक कृमि में स्त्री पुरुष अलग अलग होते हैं। नर के शुक्रकीटाणु जल में छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा मादा के गर्भाशय में जाकर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। गर्भाधान के उपरांत गर्भकीटाणु शीघ्र डिंभकीट के रूप में प्रवर्द्धित होकर अलग हो जाते हैं और कुछ दिनों तक जल में तैरते फिरते हैं। पीछे किसी चट्टान, लकड़ी के तख्ते आदि पर जम जाते हैं और धीरे धीरे बढ़कर पूरे खंडबीज कृमि हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन्हीं खंडबीज कृमियों से फिर छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खंडबीज कृमि से छत्रक की उत्पत्ति और छत्रक से खंडबीज कृमि की

उत्पत्ति होती है। प्रजनन के इस विधान को इतरेतर जन्म या 'योन्यंतर विधान' कहते हैं।

छत्रक कृमि से बारीक ढाँचा उन चिपटे केंचुओं का होता है जो कुछ रीढ़वाले जंतुओं के यकृत और अँतड़ियों में होते हैं। भेंड़ के यकृत में पत्ती के आकार का जो चौड़ा चिपटा कीड़ा होता है उसके शरीर की ओर ध्यान देने पर दहिने और बायें दो समविभक्त पार्श्व स्पष्ट दिखाई देंगे। कल्पित विभाग रेखा के दोनों ओर बिंब प्रतिबिंब रूप से प्रायः एक ही प्रकार के ढाँचे पाए जायँगे। इस प्रकार की रचना को अर्द्धांग योजना कहते हैं। कीड़े का अगला भाग चौड़ा होता है जिसके बीचोबीच निकली हुई नोक पर मुँह होता है। मुख की औंठ पर एक मांसल छल्ला सा होता है जिसके द्वारा यह जंतुओं के यकृत की दीवार से चिमटा रहता है। मुख की औंठ से थोड़ा और पीछे हट कर पेट की ओर एक दरार सा होता है जो जननेंद्रिय का मुख है। इसी के बीचोबीच एक तुंड या टोंटी सी होती है जो पुं० जननेंद्रिय है। शरीर के पिछले छोर पर एक मलवाहक छिद्र होता है। मुख के भीतर थोड़ी दूर तक कंठनाल होती है जो आंतों से जा कर मिली होती है। आंतें इसकी अनेक शाखाओं में विभक्त होती हैं जिनमें काले रंग का रस या पित्त भरा होता है। यह पित्तरस उसी जंतु के यकृत का होता है जिसके भीतर यह कीड़ा पलता है। उसी के पित्त और उसमें मिले हुए द्रव्य से इस कीड़े का पोषण होता है। अंत्रविधान दहिनी और बाईं दोनों ओर का अलग अलग होता है। आंतों से मिला हुआ कोई गुदद्वार नहीं होता, मुख ही एक द्वार होता है। आंतों के अतिरिक्त जलवाहक नलियों का पूरा जाल होता है। सब से बढ़ कर बात तो यह कि संवेदनसूत्रों का विधान होता है। कंठनाल के पास भेजे का छल्ला सा होता है जिसे हम मस्तिष्क का सादा रूप कह सकते हैं। इसी छल्ले से संवेदनसूत्र पीछे की ओर गए रहते हैं

(नाक) की उत्पत्ति हुई। जहाँ वह रासायनिक क्रिया होने लगी जिससे स्वाद का अनुभव होता है वहाँ रसनेंद्रिय का विधान हुआ। इसी प्रकार जहाँ आलोकग्रहण की ही भौतिक क्रिया बराबर होने लगी वहाँ उस जटिल यंत्र का विधान हुआ जिसे आँख कहते हैं और जिसके द्वारा पदार्थों के आकृतिबिंब का ग्रहण होता है। विशेष प्रकार की वायुतरंगों का ग्रहण जहाँ होने लगा वहाँ कानों की रचना हुई। इन इंद्रियों में सूक्ष्म से सूक्ष्म संपर्क के ग्रहण की शक्ति का विकास देखा जाता है। घ्राणेंद्रिय द्रव पदार्थ के अणु के ३०००,०००, ००० वें भाग तक का अनुभव कर सकती है। चक्षुरिंद्रिय एक मिनट में सवा करोड़ मील के लगभग चलनेवाली आलोकतरंग का ग्रहण करती है।

अब तक जिन क्षुद्र जंतुओं का वर्णन हुआ है उनका शरीर यहाँ से वहाँ तक एक होता है, खंडों में विभक्त नहीं होता। उनसे उन्नत कोटि के बहुखंड कीट होते हैं जिनका शरीर बहुत से जोड़ों से मिलकर बना जान पड़ता है; जैसे, मिट्टी के केंचुए, जोंक, कनखजूरे, केकड़े, भिड़, गुबरैले, फतिंगे, चींटियाँ इत्यादि। जंतुओं की बनावट में ध्यान देने की बात यह है कि मुख ही एक ऐसा द्वार है जिससे पहले पहल बाह्य जगत् का संपर्क होता है अतः उसी के पास मुख्य इंद्रियों का विधान होता है। जो भाग क्रिया में अधिक तत्पर होता है उसी में उस क्रिया-संपादन के अनुकूल विधान होते हैं। अतः इन बहुखंड जंतुओं में जो बहुत सादे ढाँचे के होंगे उनमें भी सिर अलग दिखाई देगा जिसमें आँख, कान आदि इंद्रियद्वार होंगे और भीतर संवेदन का केंद्रस्वरूप मस्तिष्क वा ग्रंथि होगी जिससे संवेदनसूत्र पीछे की ओर को गए होंगे। इन कीड़ों के हृदय भी होता है जो लंबी नली के आकार का और पीठ की ओर होता है; छाती की ओर नहीं जैसा कि रीढ़वाले बड़े जीवों का होता है। बहुखंड कीटों के साधारणतः दो विभाग किए गए हैं—अपाद और सपाद। मिट्टी के केंचुए, जोंक आदि अपाद कीटों में

हैं और झिंगा, केकड़ा, कनखजूरा, गुबरैला, चींटी इत्यादि सपाद कीटों में हैं। सपाद कीटों में षट्पद या पतंग कुल के कीट सबसे अधिक उन्नत होते हैं। चींटी, तितली, गुबरैला, टिड्डी, फतिंगा, किलनी, भौंरा, मक्खी इत्यादि इनके अंतर्गत हैं। इनमें कुछ को पूरे पर निकलते हैं (जैसे तितली, गुबरैला, टिड्डी), कुछ को अधूरे और कुछ को निकलते ही नहीं (जैसे, किलनी)। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें नर और मादा में से किसी एक को पर होते हैं, दूसरे को नहीं।

ध्यानपूर्वक देखने से पतंगकुल के कीटों का शरीर तीन खंडों में विभक्त दिखाई पड़ता है— सिर, वक्ष और उदर। किसी किसी कीट (जैसे, भिड़) में तो ये खंड केवल एक पतले तागे से जुड़े मालूम होते हैं। ये तीनों खंड भी कई जोड़ों से मिल कर बने होते हैं। सिरवाले खंड में मुँह पर पकड़ने, काटने या रस चूसने के लिये टूँड़ और आर होते हैं। वक्ष में जो तीन टुकड़े होते हैं उनमें से प्रत्येक में टाँगों का एक एक जोड़ा होता है। टाँगों के अतिरिक्त दोनों ओर पर भी होते हैं। उदरखंड में टाँगें आदि नहीं होतीं, छोर पर डंक तथा अंडवाहक अवयवों का विधान होता है। मुख के भीतर जो स्रोत होता है उसमें कई नलियाँ और थैलियाँ होती हैं। पाचन के लिये कई कोटों की अलग थैली होती है जिसमें पाचनरस की ग्रंथियाँ होती हैं। यह थैली आँतों से मिली होती है। किसी किसी कीट में इसी थैली से लगा हुआ एक और कोठा होता है जिसमें आरे की तरह के दाँत या दंदाने होते हैं। सिर के नीचे मस्तिष्क का अच्छा विधान होता है। बड़े कीटों के मस्तिष्क में कई लोथड़े होते हैं जिनमें से एक पर आँखों का जटिल ढाँचा स्थित रहता है। इन कीटों की आँख की बनावट बड़ी विलक्षण होती है। एक ढेले के अंतर्गत हजारों आँखें होती हैं। बड़ी मक्खी को बारह हजार आँखें होती हैं। बहुत से कीटों को इन यौगिक नेत्रों के अतिरिक्त सादी आँखें भी होती हैं और कुछ ऐसे होते

हैं जिन्हें आँखें बिल्कुल नहीं होतीं। पतंगकुल के कीटों के संवेदन सूत्र भी उन्नत कोटि के होते हैं, उनमें स्थान स्थान पर ग्रंथियाँ होती हैं।

पतंगकुल के कीटों में कुछ ही ऐसे होते हैं जिनके बच्चों का आकार अंडे से निकलने पर पूरी बाढ़ के जीवों का सा होता है। अधिकांश कीटों में कायाकल्प होता है अर्थात् अंडे से निकलने पर बच्चों में पूरे कीटों का कुछ भी आकार नहीं होता। डिंभपिंड परिवर्तन की कई अवस्थाओं में होकर तब पूरे अंग और अवयव प्राप्त करता है। भिड़, गुबरैले, तितली, रेशम के कीड़े इत्यादि इसी प्रकार के जीव हैं। तितली को ही लीजिए। अंडे से निकलने पर उसका बच्चा एक लंबे ढोले या सूँड़े के आकार का होता है जिसके आगे की ओर छः जोड़दार पैर होते हैं और पीछे की ओर कई बेजोड़ के और भद्दे पैर होते हैं। चबाने के लिये जबड़े भी होते हैं। यह डिंभकीट कुछ काल तक इसी अवस्था में पेड़ पौधों पर रेंगता फिरता है। इसके उपरांत यह सूत की तरह कात कर एक कोश बनाता है जिसके भीतर निश्चेष्ट और निःसंज्ञ होकर यह बंद हो जाता है और कुछ काल तक उसी अवस्था में रहता है। कोश के भीतर ही इसका पूरा कायाकल्प होता है। कायाकल्प का काल जब पूरा हो जाता है तब यह सब अंग अवयवों से युक्त उड़नेवाली तितली होकर निकल आता है।

पतंगकुल के कीट इस बात के प्रमाण हैं कि जटिल और उन्नत अवयवों का विधान छोटे से छोटे जीवों में भी हो सकता है। हाथी का डीलडौल मनुष्य के डीलडौल से बहुत बड़ा होता है पर उसके बाह्य और अंतःकरण उतनी पूर्णता को प्राप्त नहीं रहते जितने मनुष्य के रहते हैं। बिना रीढ़वाले जंतुओं में पतंग सबसे अधिक उन्नत इंद्रिय-वाले और बुद्धिमान होते हैं। भिड़, मधुमक्खी, चींटी इत्यादि में कैसी संचयबुद्धि होती है, किस कौशल और व्यवस्था के साथ वे समाज

बाँध कर रहती हैं। डारविन ने कहा है कि चींटी का मस्तिष्क, जो और कीड़ों के मस्तिष्क से बड़ा होने पर भी आलपीन की नोक का चौथाई भी नहीं होता, संसार में सबसे चमत्कारपूर्ण द्रव्यकण है।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि जिन जीवों का लालनपालन मातापिता द्वारा बहुत दिनों तक होता है अर्थात् जो बहुत दिनों तक मातापिता के स्नेह के आश्रित रहते हैं उनमें सहानुभूति और समाजबुद्धि का विकास अधिक होता है; जैसे, बंदर, बनमानुस, मनुष्य आदि में। चींटी तथा समाज बाँधकर रहनेवाले और कीट भी; जैसे, भड़, मधु-मक्खी आदि, गुबरैले की दशा में बहुत दिनों तक पलते हैं इसीसे उनमें इतनी संघबुद्धि पाई जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संघबुद्धि का विकास क्रमशः लाखों वर्ष की परंपरा के उपरांत हुआ है।

बिना रीढ़वाले जंतुओं में शुक्तिवर्ग के सीप, घोंघे, शंख आदि कोमलकाय जीव भी हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े होते हैं। इस वर्ग के सबसे क्षुद्र कोटि के जीव चट्टानों आदि पर काई के समान जमे रहते हैं। अष्टपद ऐसे बड़े जीव भी इसी वर्ग में हैं जो अपने चारो ओर फैली हुई बड़ी बड़ी भुजाओं या पैरों से बड़े बड़े जंतुओं को पकड़ लेते हैं। शुक्तिवर्ग के कुछ जीवों के कपाल हृदय आदि अलग अलग अंग नहीं होते। सीप को अलग सिर नहीं होता। इसी सीप के शरीर पर मोती होता है। एक प्रकार केचुओं के डिंभ सीप के शरीर पर लगकर बंद हो जाते हैं। जहाँ जहाँ वे बंद हो जाते हैं वहाँ वहाँ गोल चमकीले उभार या फोड़े पड़ जाते हैं जो काल पाकर मोती के रूप में हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्तिवर्ग के सब जीव जलचारी हैं और उनके शरीर का ढाँचा उन्नत कोटि का नहीं होता, बहुत सादा होता है। अष्टपद को छोड़ और किसी के शरीर के भीतर किसी प्रकार का ढाँचा (जैसा कि रीढ़वाले जंतुओं का

अस्थिपंजर होता है) नहीं होता। पर उनमें शरीर के ऊपर एक कड़े आवरण की विशेषता होती है जो जल में मिले हुए चूने आदि द्रव्यों के संग्रह से बनता है।

बिना रीढ़वाले जंतुओं से रीढ़वाले जंतुओं में किन किन बातों की विशेषता होती है यह देख लेना चाहिए। पहली बात तो यह है कि बिना रीढ़वाले जंतुओं में पाचनक्रिया, रक्तसंचार और संवेदनकेंद्र तीनों के लिये एक ही घट होता है तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा जो कुछ होता है, ऊपर ही होता है। यह ढाँचा प्रायः आवरण के रूप में होता है और कड़े पड़े हुए चमड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर रीढ़वाले जंतुओं में दो अलग अलग घट होते हैं। छोटे वा कपालघट में विज्ञानमय कोश का केंद्र अर्थात् मस्तिष्क और मेरुरज्जु, रहता है और मध्यघट में पाचन और रक्तसंचार के करण (यकृत, आँत और हृदय) होते हैं तथा शरीर को धारण करनेवाला ढाँचा कड़े अस्थिपंजर के रूप में भीतर होता है। इस ढाँचे का सबसे विलक्षण भाग है रीढ़ या मेरुदंड। रीढ़ हड्डी की गुरियों की बनी होती है जो मेरुदंड के पूर्वरूप लचीले सूत्रदंड के अवशिष्ट से परस्पर जुड़ी रहती हैं। बनावट की इस विशेषता के कारण सारी रीढ़ आवश्यकतानुसार लच और मुड़ सकती है जिससे रीढ़वाले जंतुओं को चलने, फिरने, उछलने, कूदने में बड़ी आसानी होती है। मछलियों का झपटना, मेढकों का कूदना, साँपों का रेंगना, हिरन का चौकड़ी भरना, शेर का उछलना देखने से यह बात ध्यान में आ सकती है। रीढ़वाले जंतुओं को सजीव हड्डियाँ होती हैं जिनके भीतर रक्त का संचार होता है। वे शरीर के कोमल भागों की रक्षा करती हैं। ढाँचे की इसी विशेषता के कारण ये बिना रीढ़ के जंतुओं से इतने बढ़े चढ़े होते हैं। बहुखंड कीटों के समान इनका शरीर भी दो समान पार्श्वों दहने और बाएँ में बँटा होता

है और कई खंडों के जोड़ से बना होता है। इनके शरीर के भी तीन विभाग होते हैं—सिर, वक्ष और उदर। पर चारी अंग (हाथ पैर) चार से अधिक नहीं होते अर्थात् उनका एक एक जोड़ा दोनों ओर होता है—चाहे वह मछली के मुख्य परों के रूप में हो (इन जोड़ेदार परों के अतिरिक्त मछली के और छोटे छोटे पर होते हैं जिनका कोई हिसाब नहीं होता), चाहे चिड़ियों की टाँगों और डैनों के रूप में, चाहे चौपायों के अगले और पिछले पैरों के रूप में और चाहे मनुष्यों के हाथ पैर के रूप में। इन सब जीवों के ढाँचे एक ही आदिम ढाँचे से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं।

विकास परंपरा के अनुसार बिना रीढ़वाले जंतुओं से ही क्रमशः रीढ़वाले जंतुओं की उत्पत्ति हुई है। पहले बिना रीढ़वाले और रीढ़-वाले जंतुओं के बीच के जीव हुए होंगे जिनके शरीर के भीतर कुछ कुछ पंजराभास प्रकट हुआ होगा। इस प्रकार के कुछ अवशिष्ट जीव अब तक पाए जाते हैं। समुद्र में थैली के आकार का एक जंतु होता है जो चट्टानों पर चिमटा रहता है। इसके एक मुँह और एक उत्सर्ग छिद्र होता है। मुँह के नीचे साँस लेने की थैली होती है जिसमें बहुत से छेद होते हैं। यह थैली नीचे उदराशय से मिली होती है जिसमें अँतड़ियाँ होती हैं, और झुककर उत्सर्गद्वार तक गई होती हैं। भीतर खींचा हुआ पानी अम्लजन या प्राणदवायु शरीर में पहुँचा कर इसी द्वार से निकल जाता है। हृदय एक लंबी नली के आकार का होता है और शरीरघट के पिछले भाग में स्थित होता है। इसका विज्ञानमय कोश एक संवेदनग्रंथि मात्र होता है जो मुँह और उत्सर्गद्वार के बीच में रहती है। इस संवेदनग्रंथि की स्थिति से रीढ़वाले जंतुओं के साथ इसके संबंध का पता लगता है। पर सब से बढ़कर प्रमाण अंडे से निकलने पर इसकी वृद्धि के क्रम की ओर ध्यान देने से मिलता है। अंडे से जो डिंभकीट निकलता है वह मेंढक के डिंभकीट (छुछमछली) से

बिल्कुल मिलता है। दोनों में उन चार विशेष अंगों का विधान होता है जो समस्त रीढ़वाले जंतुओं में गर्भावस्था से लेकर किसी न किसी अवस्था में पाए जाते हैं। चारों अंग ये हैं—(१) गला और गलफड़ों के छिद्र, (२) मेरुदंडाभास, जो एक चिकने सूत्रदंड की तरह का होता है और रीढ़ का पूर्व रूप है, (३) मस्तिष्क और मेरुरज्जु तथा (४) दर्शनेंद्रिय जो मस्तिष्क के भीतर होती है। आँखवाले बिना रीढ़ के जंतुओं की दर्शनेंद्रिय का संवेदन पटल (प्रकाश ग्रहण करनेवाला भाग) ऊपरी त्वक् से ही उत्पन्न होता है। डिंभकीट अवस्था से आगे चल कर इस समुद्रजंतु और मेढक के डिंभकीट एक दूसरे से भिन्न अवस्था को प्राप्त होते हैं। मेंढक का डिंभकीट तो छुछ्मछली की अवस्था से जलस्थलचारी जंतु हो जाता है, गलफड़ों के स्थान पर सांस लेने के लिये उसे फेफड़ा उत्पन्न हो जाता है, दुम उसकी गायब हो जाती है और चार पैर निकल आते हैं। अर्थात् जलचर मछली के रूप से जलस्थलचारी मेंढक के रूप में आने में मेढक के प्राचीन पूर्वजों ने जिन अवस्थाओं को पार किया है, मेढक के डिंभवृद्धिक्रम में उनकी संक्षिप्त उद्धरिणी देखी जाती है। पर उक्त समुद्रजंतु का डिंभकीट आगे चलकर भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है। उसकी दुम, मेरुरज्जु, संवेदनरज्जु और आँख गायब हो जाती है, मस्तिष्क छोटा सा रह जाता है, गलफड़ों के छिद्र अधिक हो जाते हैं, त्वक कड़ा हो जाता है और अंत में वह बिना हाथ पैर और आँख का थैली के आकार का जंतु होकर अचल पौधे की तरह किसी चट्टान आदि पर जम जाता है और वहीं पौधे की तरह पर उसका पोषण होता है।

थैली के आकार के समुद्री जंतु से कुछ उन्नत कोटि का एक और जंतु होता है जिसे अकरोटी मत्स्य (बिना सिर की मछली) कहते हैं। यह देखने में जोंक की तरह का एक झलझलाता हुआ कीड़ा होता है

जिसे सिर नहीं होता और आँख भी एक ही होती है। इसके मुँह पर खड़े खड़े सूत से होते हैं जिसके द्वारा यह खाद्यपूर्ण जल भीतर लेता है। यह जल मुँह के नीचे चौड़ी गलनाल में जाकर प्राणदवायु प्रदान करता हुआ उत्सर्गद्वार से होकर निकल जाता है। कोई हृत्पिंड न होने के कारण रक्त का संचालन नलियों के आकुंचन द्वारा होता है। इस जंतु की गिनती रीढ़वाले प्राणियों में की गई है क्योंकि इसे रीढ़ के स्थान पर एक सूत्रदंड होता है, जिसके ऊपर यहाँ से वहाँ तक एक संवेदनसूत्र होता है जो मुँह के पास जा कर कुछ निकला सा होता है। ऊपर थैली के आकार के जिस समुद्रजंतु का उल्लेख हो चुका है उसकी संवेदनग्रंथि यदि लंबी कर दी जाय तो इसके और उसके संवेदनविधान बिलकुल एक से हो जायँ। इससे सिद्ध होता है कि दोनों एक ही पूर्वज जंतु से निकले हैं।

अब हम मछलियों को लेते हैं जो रीढ़वाले जंतुओं में सब से सादे ढाँचे की समझी जाती हैं। इनमें जो आदिम कोटि की होती हैं जैसे शार्क आदि, उनके भीतर कड़ी हड्डियाँ नहीं होती। नरम हड्डी की रीढ़ होती है और पीठपर ढालदार खोलड़ी होती है जिस पर चौखूँटे उभरे हुए खाने कटे होते हैं। और मछलियों के भीतर कड़ी हड्डियों का ढाँचा होता है। मछलियों को साँस लेने के लिए फुफ्फुस या फेफड़ा नहीं होता, वे गलफड़ों से साँस लेती हैं। मछलियों से ही विकास परंपरानुसार क्रमशः मेढक आदि जलस्थलचारी जंतु उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार बिना रीढ़वाले जंतुओं और रीढ़वाले जंतुओं के बीच के जंतुओं के कुछ नमूने अब तब पाए जाते हैं, उसी प्रकार जलचर मत्स्यों और जलस्थलचारी जंतुओं के मध्यवर्ती जंतु भी अब तक मिलते हैं। मछलियों का एक भेद होता है जो उभयश्वासी कहलाता है। उभयश्वासी मछलियों को साँस लेने के लिए गलफड़े भी होते हैं और एक हवा की थैली भी जो फेफड़े का काम देती है। इससे ये मछलियाँ पानी में भी साँस ले

सकती हैं अर्थात् जल में मिली हुई अम्लजन वा प्राणदवायु ग्रहण कर सकती हैं, और पानी के बाहर जमीन पर भी। ऐसी दो मछलियाँ पाई गई हैं—एक दक्षिण अमेरिका में और एक आस्ट्रेलिया में। इन दोनों के पर नहीं होते, पर के स्थान पर चार लंबे लंबे अंकुर से होते हैं जिन्हें पैरों का पूर्वरूप समझना चाहिए। ये जमीन पर बहुत देर तक रह कर साँस ले सकती हैं। हिंदुस्तान की बाँग मछली भी बहुत देर तक पानी के बाहर रह सकती है।

इस प्रकार जलचारी और स्थलचारी जंतुओं के मध्यवर्ती उभयचारी जंतुओं तक हम पहुँचते हैं जिनमें सब से अधिक ध्यान देने योग्य है मेढक। अंडे से फूटने पर मेढक का डिंभकीट मछली के रूप में आता है, जल ही में रहता है, गलफड़े से साँस लेता है और घासपात खाता है। उसे लंबी पूँछ होती है, पैर नहीं होते। फिर धीरे धीरे कायाकल्प करता हुआ वह उभयचारी जंतु का रूप प्राप्त करता है और जालीदार पंजों से युक्त पैरवाला, फेफड़े से साँस लेनेवाला, कीड़ेफतिंगे खानेवाला मेढक हो जाता है। उन्नत कोटि के समस्त रीढ़वाले प्राणी फेफड़े से साँस लेते हैं जो, जैसा ऊपर दिखाया गया है, गलफड़ों का ही क्रमशः समुन्नत रूप है।

उभयचारी जंतुओं से ही विकासपरंपरा द्वारा सरीसृपों की उत्पत्ति हुई है। इस सरीसृपवर्ग के अंतर्गत साँप, छिपकली, गिरगिट, मगर, घड़ियाल इत्यादि बहुत से जंतु हैं। पृथ्वी के एक पूर्वकल्प में इस वर्ग के बड़े बड़े भीमकाय जंतु होते थे। तीस तीस हाथ लंबी आरेदार छिपकलियाँ होती थीं जो हवा में उड़ती थीं। धीरे धीरे पृथ्वी पर ऐसे परिवर्तन होते गए जो उनकी स्थिति के प्रतिकूल थे। इस प्रकार क्रमशः उनका लोप हो गया। अब भूगर्भ के भीतर उनकी ठटरियाँ कभी कभी मिल जाती हैं।

पंजेवाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई। दोनों में ढाँचे की बहुत कुछ समानता अब तक है—जैसे दोनों में रीढ़ के साथ खोपड़ी एक ही जोड़ से जुड़ी होती है; दो जोड़ों के द्वारा नहीं जैसा कि अधिकांश उभयचरों तथा सब रीढ़वाले जंतुओं में होता है) और खोपड़ी के साथ जबड़े कुछ हड्डियों से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि वे बहुत अधिक खुल सकते हैं। पर इन समानताओं के होते हुए भी पक्षियों के ऊपरी और भीतरी ढाँचे में बहुत कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं जिनका विधान कई लाख वर्षों के बीच स्थिति के अनुसार क्रमशः होता गया है। सरीसृपों का तीन कोठों का हृदय पक्षियों में आ कर चार कोठों का हो गया जिससे शुद्ध ताजा रक्त शरीर में घूम कर लौटे हुए अशुद्ध रक्त से अलग रहने लगा और शरीर में गरमी रहने लगी। सरिसृपों की केंचुल या खोलड़ी और पक्षियों के पर दोनों ऊपरी त्वक् के विकार हैं। इसी प्रकार दूसरे जंतुओं के बाल, मुख और खुर भी त्वक् से ही उत्पन्न हैं, त्वक् के ही विकार हैं। इंद्रियाँ भी ऊपरी त्वक् के ही विकार हैं। एक प्रकार के प्राणियों में ही कुछ के ढाँचों में किसके प्रभाव से ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न होती गईं कि उनसे नए नए ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए? इसका सीधा उत्तर यही है कि बाह्य संपर्क के प्रभाव से। यह सोच कर आश्चर्य अवश्य होता है कि आदिम क्षुद्र अणुजीवों की सूक्ष्म झिल्ली से विज्ञानमय कोशयुक्त उन्नत प्राणियों की कई परतों की विचित्र त्वचा का प्रादुर्भाव हुआ। पर यह भी समझना चाहिए कि यह बात दो चार दिनों में तो हुई नहीं, कई लाख वर्षों के बीच लगातार प्रभाव पड़ते रहने से शनैः शनैः हुई है।

विकासक्रम में सरीसृपों से आगे होने के कारण पक्षियों का मस्तिष्क बड़ा होता है। उनमें बुद्धि का विकास सरीसृपों से कहीं अधिक देखा जाता है। उनमें दृष्टि का विस्तार मनुष्यों से कहीं अधिक होता है। स्मरणशक्ति भी उनकी मनुष्य से बहुत बढ़ चढ़ कर होती है। हजारों

कोस समुद्र पार के देशों से होकर एक छोटी सी चिड़िया फिर उसी पेड़ वा झाड़ी पर आ जाती है जिस पर पिछले वर्ष उसने घोंसला बनाया था।

पक्षियों से अब हम स्तन्य वा दूध पिलानेवाले जीवों की ओर आते हैं। आदिम रूप के स्तन्य जंतु पक्षियों से कई बातों में मिलते जुलते हैं। एक तो उन्हें दाँत नहीं होते, दूसरे हृदय और आँतों आदि सबके लिए एक ही कोठा होता है। इस प्रकार के जंतु अब तक दो ही पाए गए हैं और दोनों आस्ट्रेलिया में, एक तो बत्तखघूँस जिसे बत्तख की तरह कड़ी, चौड़ी चोंच होती है और जिसके पंजों की उँगलियों के बीच झिल्लियाँ होती हैं; दूसरा चींटीखोर जो खरहे के इतना बड़ा होता है। ये दोनों जानवर अंडे देते हैं। अंडे से निकलने पर बच्चे माता का दूध पीकर पलते हैं। सरीसृपों, पक्षियों और स्तन्य जीवों के मध्यवर्ती इन जंतुओं के वर्ग को अंडज स्तन्य वर्ग कहते हैं। इस वर्ग से कुछ उन्नत वर्ग में अजरायुज स्तन्य हुए जिनके दो नमूने अब तक मिलते हैं—आस्ट्रेलिया का कँगारू और ओपोसम। ये यद्यपि पिंडज जंतु हैं पर इनके बच्चे पूरे बने हुए नहीं पैदा होते और बहुत दिनों तक माता उन्हें अपने पेट में बनी हुई एक थैली में रखती है। बाहर निकल कर डोलते हुए बच्चे किसी प्रकार की आहट पाने पर झट थैली में घुस जाते हैं।

तीसरा वर्ग जरायुजों का है जो सब से अधिक उन्नत हैं और जिसके अंतर्गत कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े, बंदर, मनुष्य आदि हैं। इस वर्ग के जंतुओं में जरायुज की विशेषता होती है जिसके द्वारा भ्रूण गर्भ में ही बढ़ता और अपने आकार को पूर्ण करता है। इनके बच्चे सब अंगों से युक्त हिलते डोलते पैदा होते हैं। इन्हीं जरायुजों की एक शाखा किंपुरुष है जिसके अंतर्गत बंदर, बनमानुस और मनुष्य हैं। बिना पूँछ के बनमानुसों से मिलते जुलते पूर्वजों से ही क्रमशः विकास परंपरा

द्वारा मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ जो भूमंडल के प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ है।

संक्षेप में विकास सिद्धांत का यही सारांश है जिसे डारविन ने जीवन भर लगातार श्रम करके अनेक प्रमाणों के संग्रह के उपरांत प्रतिष्ठित किया। डारविन के पीछे अनेक वैज्ञानिकों ने अपने नए नए अनुसंधानों द्वारा इस मत को पुष्ट किया। भूगर्भ के भीतर अतीत युगों के जीवों के पंजरों की जो खोज हुई उससे इस संबंध में बहुत सहायता मिली। एक वर्ग और योनि के जीवों से दूसरे वर्ग और योनि के जीवों का विधान एकबारगी तो हुआ नहीं, क्रमशः लाखों पीढ़ियों में जाकर हुआ है। किसी योनि के कुछ प्राणियों में स्थिति के अनुरूप औरों से कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हुईं जो पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती गई यहाँ तक कि लाखों वर्षों की अखंड परंपरा के उपरांत उनका कुल ही अलग हो गया। इससे यह प्रकट है कि किसी एक ढाँचे के जीव से जब कि दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है तब ऐसे जीव भी अवश्य होने चाहिए जो दोनों के बीच के हों। ऐसे जीव कुछ तो अब तक वर्तमान हैं और कुछ के पंजर भूगर्भ के भीतर पाए गए हैं। विकास सिद्धांत के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सब के सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किए गए। डारविन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है, स्थिरयोनि सिद्धांत का पूर्णरूप से खंडन कर दिया।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म आदिम अणुजीवों से उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति की जो परंपरा स्थूल रूप से ऊपर दिखाई गई है, उसकी संक्षिप्त उद्धरणी प्रत्येक प्राणी के भ्रूण के वृद्धिक्रम में देखी जाती है। जिस प्रकार सृष्टि के करोड़ों वर्षों के इतिहास में एक रूप के जीव से

क्रमशः दूसरे रूप के जीव की उत्पत्ति होती आई है, उसी प्रकार प्रत्येक जीव का भ्रूण गर्भ के भीतर या बाहर एक रूप से दूसरे रूप में तब तक आता रहता है जब तक उसका सारा ढाँचा अपने माता पिता के अनुरूप नहीं हो जाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी जंतु का भ्रूण समूचा शरीर बनने के पहले जिस क्रम से एक के उपरांत दूसरा रूप उत्तरोत्तर प्राप्त करता है, वह प्रायः वही क्रम है जिस क्रम से पृथ्वी पर एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न हुए हैं। मेढक को लीजिए जो उभयचारी (जलस्थलचारी) जीव है। पहले दिखाया जा चुका है कि जलचर मत्स्यों से क्रमशः उभयचर जन्तुओं की उत्पत्ति हुई है। अंडे से निकलने पर कुछ दिनों तक मेढक के बच्चे मछली के रूप में रहते हैं, फिर मेढक के रूप में आते हैं। पिंड-वृद्धि का यह विधान मेढक में गर्भ के बाहर होता है इससे हमलोग देख सकते हैं। पर बड़े जीवों में पिंडवृद्धि का सारा विधान गर्भ के भीतर होता है—जिस क्रम से सृष्टि के बीच आदिम एकघटक अणुजीवों से आरंभ होकर एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव की उत्पत्ति हुई है, उसी क्रम से गर्भस्थ पिंड एक रूप से दूसरा रूप तब तक उत्तरोत्तर प्राप्त करता जाता है जब तक वह उस जंतु का पूरा आकार प्राप्त नहीं कर लेता जिसका वह भ्रूण होता है। गर्भपरीक्षा द्वारा यह बात देखी जा सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि एकघटक अणुजीवों से बहुघटक जीवों की उत्पत्ति हुई। पहले अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवों में सब घटक सब प्रकार के कर्म और संवेदन व्यापार करते थे। पर क्रमशः कार्यविभाग द्वारा घटकों में विभिन्नता आती गई। कुछ घटक एक प्रकार के व्यापार करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार के। इस प्रकार उनके ढाँचे भी एक दूसरे से भिन्न हुए। आँख के घटक, कान के घटक, नाक के घटक, नाड़ियों के घटक, आँतों के घटक, संवेदनसूत्रों के घटक, मस्तिष्क के

घटक भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। स्पंज आदि अत्यंत क्षुद्र कोटि के जीवों में स्त्री घटक और पुरुष घटक एक ही प्राणी के शरीर में होते हैं। आगे चल कर जो उनसे उन्नत कोटि के जीव हुए उनमें नर और मादा अलग अलग हुए। नर में पुरुष घटक और मादा में स्त्री घटक रहते हैं। पुरुष के शुक्रकीटाणु और स्त्री के रजःकीटाणु इसी प्रकार के घटक हैं। शुक्रकीटाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं। एक बूँद वीर्य में लाखों होते हैं। ये पुछल्लेदार होते हैं। रजःकीटाणु इनसे बड़े होते हैं अर्थात् एक इंच के १२५वें भाग के बराबर होते हैं। समुद्र में पाए जाने वाले पुछल्लेदार अणुजीवों का पहले वर्णन हो चुका है जो तरुणावस्था प्राप्त होने पर दो भिन्न प्रकार के पिंडों में विभक्त हो जाते हैं, एक पुरुष कीटाणुचक्र और दूसरा गर्भोड। पुरुष कीटाणुचक्र का प्रत्येक पुछल्लेदार कीट मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली आदि के शुक्रकीटाणु से मिलता जुलता होता है। गर्भोड जल में छूट कर उसी प्रकार अचल रहता है जिस प्रकार प्राणियों के गर्भ के भीतर का रजःकीट या गर्भोड। जल के भीतर किस प्रकार कीटाणुचक्र के कीट और गर्भोड का संयोग होता है यह पहले दिखाया जा चुका है। बहुत से कीट जल में अपने पुछल्लों को लहराते हुए गर्भोड को जा घेरते हैं जिनमें से कोई एक गर्भोड के भीतर प्रवेश कर जाता है। यही गर्भोड का गर्भित होना कहा जाता है। जैसा संयोग उक्त अणुजीवों में बाहर होता है ठीक वैसा ही मनुष्य आदि प्राणियों में गर्भाशय के भीतर होता है। मनुष्य के ही गर्भ को लीजिए।

गर्भाशय के भीतर जब शुक्रकीटाणु गर्भोड में प्रवेश कर जाता है तब दोनों मिलकर एक घटक हो जाते हैं जिसे अंकुरघटक कहते हैं। यह कललरसपूर्ण एक सूक्ष्म कणिका मात्र; एक इंच के १२५ वें भाग के बराबर होता है। एकघटक अणुजीवों के समान इसकी वृद्धि भी विभाग द्वारा उत्तरोत्तर होती है। कुछ काल तक तो सब घटक एक

गुच्छे के रूप में होते हैं, फिर सब बाहरी सतह पर आकर एक झिल्ली के रूप में मिल जाते हैं और भीतर खाली जगह पड़ जाती है। इस प्रकार एक झिल्ली का खोखला गोला सा बन जाता है। थोड़े ही दिनों में इस गोले की झिल्ली एक ओर से पचक कर धँसने लगती है जिससे दोहरी झिल्ली का एक कटोरा सा बन जाता है। इसको 'द्विकल घट' कहते हैं जिससे क्रमशः सब अंगों और अवयवों का विधान होता है। बाहरी कला या झिल्ली से ऊपरी त्वक् की और संवेदनसूत्रों से संघटित मनोविज्ञानमय कोश की रचना होती है और भीतरी झिल्ली से अंत्रावलि आदि का प्रादुर्भाव होता है। द्विकलघट के भीतर के खाली स्थान को पेट का आदिम रूप समझना चाहिए और उसके सादे छिद्र को मुँह का। हैकल ने सूचित किया कि यही द्विकलघट सब बहुघटक प्राणियों का आदिम रूप है। इसी से विकास परंपरानुसार सब बहुघटक प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने स्पंज आदि अब तक पाए जानेवाले द्विकलात्मक सादे जीवों की ओर ध्यान दिलाकर अपने कथन की पुष्टि की।

इस पृथ्वी पर सादे द्विकलघट जीवों से क्रमशः एक दूसरे के उपरांत जिन जिन ढाँचों के जीव मनुष्य तक आनेवाली उत्पत्ति परंपरा में उत्पन्न हुए हैं उन ढाँचों को गर्भ के भीतर गर्भपिंड उत्तरोत्तर प्राप्त करता हुआ मनुष्य के रूप में आता है। मनुष्य रीढ़वाला जंतु है और रीढ़वाले जंतुओं में सबसे आदिम और क्षुद्रकोटि की मछलियाँ हैं। अस्तु, और रीढ़वाले जंतुओं के समान मनुष्य का विकास भी जलचर पूर्वजों से क्रमशः हुआ है। इसी से आरंभ में मनुष्य के मूलपिंड में भी जलचरों के समान गलफड़े होते हैं जो आगे चलकर गायब हो जाते हैं। हृदय भी पहले पहल सुकड़ने फैलनेवाला एक सादा कोठा मात्र होता है जैसा कि क्षुद्र कीटों का होता है। पीठ की रीढ़ पूँछ के रूप में दूर तक बढ़ी होती है।

आगे चलकर जब हाथ पैर का ढाँचा तैयार होता है तब पहले पैर का अँगूठा लंबा होता है और हाथ के अँगूठे के समान इधर उधर सब उँगलियों पर उसी प्रकार जा सकता है जिस प्रकार बंदरों और बनमानुसों का। प्रसव के दो तीन महीने पहले हथेलियों और तलवों को छोड़ सारे शरीर में रोएँ रहते हैं। गर्भ से बाहर आने पर भी बच्चे का सिर और अंगों के हिसाब से कुछ बड़ा होता है और हाथ भी कुछ लंबे होते हैं। नाक में बाँसा (बीचोबीचवाली ऊपर की हड्डी) न होने के कारण वह चिपटी होती है। ये सब लक्षण बनमानुसों के हैं। एक ढाँचे के जीव से दूसरे ढाँचे के जीव उत्पन्न होने की करोड़ों वर्ष की परंपरा की उद्धरणी नौ महीनों के भीतर इस प्रकार संक्षेप में हो जाती है। गर्भविधान में किसी एक अवस्था में पहुँचे हुए पिंड सब जीवों के समान होते हैं। यदि हम मनुष्य, कुत्ते और कछुवे के दो महीने के पिंड को लेकर देखें तो उनमें कुछ भी अंतर न पावेंगे, उनका ढाँचा एक ही होगा।

विकासनियम की चरितार्थता पहले सजीव सृष्टि (जंतु और वनस्पति) में ही दिखाई गई। फिर वैज्ञानिकों ने उसे लेकर संपूर्ण जगद्विधान पर घटाया और नाना रूपों के पदार्थों को एक ही मूलरूप के द्रव्य से उत्तरोत्तर उत्पन्न सिद्ध किया। इस प्रकार विकास एक विश्वव्यापक नियम माना जाता है। नाना मतों और संप्रदायों की पौराणिक सृष्टिकथाओं का इस सिद्धांत से सर्वथा विरोध है। वे इस विकासवाद के अनुसार असंगत ठहरती हैं; क्योंकि वे संपूर्ण चराचर सृष्टि का एक ही समय में ईश्वर द्वारा उसी प्रकार रचित बतलाती है जिस प्रकार कोई कारीगर नाना प्रकार की वस्तुएँ बना कर सजाता है।

इसी विकासवाद को लेकर हैकल आदि ने अपने प्रकृतिवाद या अनात्मवाद की प्रतिष्ठा की है जिसका विरोध पौराणिक कथाओं तक ही नहीं रह जाता बल्कि सारे ईश्वरवादी या आत्मवादी दर्शनों तक

पहुँचता है। विकाससिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी अधिकांश दर्शन नित्य चेतन तत्व मानते हैं और उसकी भावना कई प्रकार से करते हैं। हैकल चैतन्य को द्रव्य का एक परिणाम कहते हैं जिसका विकास जंतुओं के मस्तिष्क ही में होता है। उनका कहना है कि आत्मा शरीरधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः उसे शरीर से पृथक् एक अभौतिक नित्य तत्व मानना भूल है। शरीर के साथ ही उसकी भी इतिश्री हो जाती है। अंतःकरण को अपने व्यापारों का जो बोध होता है वही चेतना है। जिस प्रकार विषयसंपर्क द्वारा इंद्रियों और संवेदनसूत्रों में कई प्रकार के क्षोभ होते हैं उसी प्रकार मस्तिष्क में जाकर उनके द्वारा उत्पन्न संकारों का बोध भी होता है। अतः चेतना भी भौतिक अंतःकरण का ही व्यापार है जो उस करण के नष्ट होने पर नष्ट हो जाती है। विकाससिद्धांत को लेकर हैकल ने दिखाया है कि अत्यंत क्षुद्र कोटि के जंतुओं में, जिनमें संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क आदि का पूरा विधान नहीं होता, अंतःकरणव्यापार चेतन अवस्था को नहीं पहुँचे रहते। उनमें अत्यंत सादी चाल के संवेदनव्यापार होते हैं जिनके अनुसार उनके शरीर का आकुंचन, प्रसारण और संचालन आदि होता है पर उनके अंतःकरण में उस अवयव का विधान न होने के कारण, जिसमें संवेदनव्यापार का प्रतिबिंब पड़ता है, उनमें चेतना का अभाव होता है। पर विकास परंपरा में ज्यों ज्यों हम उन्नत कोटि के प्राणियों की ओर आते हैं त्यों त्यों उसका उत्तरोत्तर अधिक विधान पाते हैं। अतः चैतन्य कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं, वह परिणामशील है और उसमें घटती बढ़ती होती है।

यहाँ पर स्थूल मनोविज्ञानमय कोश का अर्थात् उस शरीरविधान का जिसके द्वारा संवेदना और मनोव्यापार होते हैं, थोड़ा वर्णन आवश्यक है। शरीर का कोई भाग यदि खोला जाता है तो हम देखते हैं कि बहुत से मोटे, महीन तन्तुओं और सूत्रों का घना जाल फैला

है। ये तंतु और सूत्र कई प्रकार के दिखाई देते हैं—कोई लाल, कोई नीले, कोई सफेद। उनमें से लाल और नीले डोरे तो रक्तवाहिनी नलियाँ हैं जो पोली होती हैं। जो ठोस सफेद डोरे दिखाई देते हैं वे ही संवेदन सूत्र हैं। ये बहुत दृढ़ होते हैं। इंद्रियों पर पड़ा हुआ संपर्क प्रभाव इन्हीं से होकर मस्तिष्क में पहुँचता है और संस्कार उत्पन्न करता है तथा उस संस्कार द्वारा उत्पन्न क्षोभ फिर इन्हीं सूत्रों से प्रवाह के रूप में चलकर मांसपेशियों में गति उत्पन्न करता है और अंगों को प्रेरित करता है। इन सूत्रों का मूलकेंद्र मस्तिष्क और उससे मिला हुआ मेरुरज्जु है जो रीढ़ के बीचोबीच होता हुआ बराबर नीचे की ओर को गया है। यह मेरुरज्जु भेजे और तंतुओं की बनी हुई मोटी बत्ती की तरह का होता है और कपाल में पहुँच कर मस्तिष्क के लोथड़ों के रूप में फैला रहता है। यही बत्ती (मेरुरज्जु) और लोथड़े (मस्तिष्क) संवेदन के केंद्र हैं जिनसे संवेदनसूत्र निकलकर अनंत शाखाओं प्रशाखाओं में विभक्त होते हुए मोटे महीन डोरों के रूप में शरीर के प्रत्येक भाग में फैले रहते हैं।

रीढ़ की गुरियों की प्रत्येक संधि पर मेरुरज्जु के संवेदन सूत्रों के दो दो जोड़े दो ओर को जाते हैं। रीढ़ के पीछे से जो सूत्र निकलते हैं वे अंतर्मुख या संवेदनात्मक सूत्र कहलाते हैं। उनसे होकर इंद्रिय संपर्कघटित अणुक्षोभ भीतर केंद्र वा मस्तिष्क की ओर जाता है और उसमें पहुँच कर संवेदन उत्पन्न करता है। रीढ़ के आगे से जो सूत्र निकले होते हैं वे बहिर्मुख या गतिवाहक सूत्र कहलाते हैं, क्योंकि संवेदनजनित प्रेरणा उन्हीं से हो कर मांसपेशियों की ओर आती है और अंगों में गति उत्पन्न करती है। मेरुरज्जु से निकल कर ये दोनों प्रकार के सूत्र ज्यों ज्यों आगे चलते हैं त्यों त्यों उत्तरोत्तर अनेक पतली शाखाओं में फैलते जाते हैं, यहाँ तक कि त्वचा में जाकर उनका ऐसा घना जाल फैला होता है कि शरीर के किसी स्थान पर महीन से महीन

सुई की नोक चुभाई जाय तो भी वह किसी न किसी संवेदनसूत्र को अवश्य पीड़ित करेगी। इस प्रकार शरीर का सारा तल तारबर्की के घने जाल द्वारा मस्तिष्क से संबंद्ध है।

अब मस्तिष्क की बनावट देखिए। मस्तिष्क कई भागों में विभक्त है जिन सबके ठीक ठीक व्यापारों का पता नहीं लग सका है। मुख्य विभाग चार हैं—

(१) मज्जादल—मेरुज्जु जहाँ से कपाल के भीतर पहुँचता है वहाँ चौड़ा हो गया है। यही अंश मज्जादल है। यहीं से चेहरे की ओर जानेवाले तथा हृदय और फेफड़े की क्रिया संपादित करनेवाले सूत्र निकले होते हैं। इसी से इस पर आघात लगने से मनुष्य नहीं बचता।

(२) मज्जादल से थोड़ा ऊपर चल कर तंतुओं का एक छोटा लच्छा सा मिलता है जिसे सेतुबंध कहते हैं।

(३) इसी से लगा हुआ बगल में एक छोटा लोथड़ा सा निकला होता है जिसे छोटा मस्तिष्क कहते हैं। इसका ठीक ठीक क्या कार्य है इस पर मतभेद है। जहाँ तक जान पड़ता है शरीर की कुछ गतियों का विधान इसके द्वारा होता है। यह तो प्रत्यक्ष देखा गया है कि इसे हटाने से पीछे फिरने की शक्ति जाती रहती है, यद्यपि कुछ दिनों में वह फिर हो जाती है।

(४) सब के ऊपर चल कर वह बड़ा लोथड़ा मिलता है जो सारे कपाल में फैला है। यही प्रधान मस्तिष्क है। देखने में यह सफेद और भूरा मिला हुआ मुलायम गूदा सा जान पड़ता है। भूरा अंश सूक्ष्म घटों या घटकों के मेल से बना होता है और सफेद अंश सूक्ष्म तंतुओं के मेल से। छोटी बड़ी बहुत सी दरारों के कारण मस्तिष्क का तल अखरोट की गिरी की तरह बिल्कुल खुरदुरा होता है। सबसे

बड़ी दरार लोथड़े के बीचोबीच से जाकर उसे दहने और बाएँ दो भागों में विभक्त करती है। इसके अतिरिक्त और बहुत सी दरारें होती हैं। इस बड़े मस्तिष्क के ऊपरी तल पर जो संवेदनसूत्रगत घटक होते हैं वे स्मृति और धारणा के करण प्रतीत होते हैं जो संवेदनसूत्रों द्वारा प्राप्त संस्कारों को धारण और पुनरुद्भूत करते हैं।

मनुष्य का मस्तिष्क और जंतुओं के मस्तिष्क की अपेक्षा बहुत अधिक खुरदुरा होता है, उसमें उभार अधिक होते हैं। निम्नकोटि के जंतुओं का मस्तिष्क प्रायः समतल होता है। सारा मस्तिष्कपिंड रक्तवाहिनी नाड़ियों के घने जाल से गुछा रहता है इससे तोल में शेष शरीर के चालीसवें भाग के बराबर होने पर भी वह प्रवाहित रक्त का पंचमांश ग्रहण करता है। प्रायः सब लोग जानते हैं कि मानसिक श्रम में कितनी शिथिलता आती है और ताजा रक्त पहुँचने की कितनी आवश्यकता होती है। निद्रा की अवस्था में रक्त मस्तिष्क से नीचे उतरा रहता है। इससे सूचित होता है कि मस्तिष्क के व्यापार में शरीरशक्ति का व्यय होता है।

मस्तिष्क के मूल से संवेदनसूत्रों के दो जोड़े निकलकर दो ओर गए होते हैं। पहला जोड़ा तो घ्राणेंद्रिय की ओर जाता है और दूसरा जोड़ा थोड़ा और नीचे से निकलकर चक्षुरिंद्रिय की ओर जाता है। चेहरे की ओर जानेवाले और बाकी संवेदनसूत्र मजादल से निकले हुए होते हैं। उनमें से पाँचवा जोड़ा चेहरे की त्वचा तथा जीभ और जबड़ों की गतिविधि का संपादन करता है। आठवाँ जोड़ा श्रवणेंद्रिय से मिला रहता है और नवाँ रसनेंद्रिय से। इनके अतिरिक्त जो संवेदनसूत्र और नीचे से अर्थात् रीढ़ के भीतर गए हुए मेरुरज्जु से निकले होते हैं वे स्पर्शसंवेदनात्मक और गत्यात्मक सूत्र हैं जो शरीर के सब भागों में जा कर फैले होते हैं।

बाह्य विषयों को भिन्न भिन्न रूपों से ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न इंद्रियों तक आए हुए संवेदनसूत्रों के छोरों की रचना और व्यवस्था भिन्न भिन्न प्रकार की हो। नेत्रगत संवेदनसूत्रों के सिरे प्रकाश ग्रहण करने के उपयुक्त हैं, श्रवण के वायु-तरंग ग्रहण करने के, त्वक् के स्पर्श ग्रहण करने के, इसी प्रकार और भी समझिए। पर अभी तक शरीर विज्ञानियों का इस विषय में एकमत नहीं हुआ है कि विशेष विशेष विषयों के ग्रहण के लिए संवेदनसूत्रों में क्या क्या विशेषताएँ कहाँ तक होनी चाहिए।

ऊपर जिस अंतःकरण या मनोव्यापारयंत्र का वर्णन हुआ है वह मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों का है। विषयसंपर्क होने से अंगों में गति इस प्रकार होती है। नेत्र, त्वक्, रसन आदि इंद्रियों अर्थात् अंतर्मुख संवेदनसूत्रों के विशेष विशेष प्राप्यकारी छोरों पर विषयसंपर्क होते ही एक प्रकार का विकार या संस्कार उत्पन्न होता है जो गति-प्रवाह के रूप में मस्तिष्क में पहुँचता है। उसके वहाँ पहुँचते ही संवेदना जाग्रत होती है। इस संवेदना के कारण प्रेरणा उत्पन्न होती है जो गतिवाहक सूत्रों द्वारा बाहर की ओर पलट कर किसी अंग को हिलाती है। यदि किसी का पैर अचानक मेरे पैर के ऊपर पड़ जाय तो मैं अपना पैर बिना इच्छा या संकल्प के भी झट हटा लूँगा।

संपर्क पाकर अंगों में गति उत्पन्न होने के लिए चेतना की आवश्यकता नहीं। अणुजीवों तथा और क्षुद्र कोटि के जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों का विधान नहीं होता। अणुजीव को कललरस की सूक्ष्म कणिका मात्र होते हैं। पर वे भी छू जाने पर सुकड़ते या हटते हैं। उनक यह क्रिया चेतन नहीं, प्रतिक्रिया मात्र है। क्षुद्र जीवों के शरीर पर बाहरी संपर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ गतिवाहक के रूप में कललरस के अणुओं द्वारा भीतर केंद्र में पहुँचता है, और वहाँ से प्रेरणा के रूप में बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता

है। वस्तुसंपर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत या इच्छाकृत नहीं होती, केवल कललरस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे, छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, क्षुद्र कीटों का अंग मोड़ना या हटना इत्यादि। चेतना-विशिष्ट पूर्ण अंतःकरण से युक्त मनुष्य आदि बड़े जीवों में भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमें विषयसंपर्कजनित इंद्रियसंस्कार अंतर्मुख संवेदनसूत्रों द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता, बीच ही से मेरुरज्जु या और किसी स्थान से बहिर्मुख गत्यात्मक सूत्रों द्वारा पलट पड़ता है और अंग विशेष में गति उत्पन्न करता है। जैसे, आँख के पास किसी वस्तु के आते ही पलकें आप से आप बिना इच्छा या संकल्प के गिर पड़ती हैं। यह अकसर देखा गया है कि आदमी का मेरुरज्जु टूट गया है और शरीर के निचले भाग में चेतन वेदना नहीं रह गई है पर तलवे को सहलाने से पैर सिमटता रहा है।

यही अचेतन प्रतिक्रिया सबसे आदिम और सादा संवेदन है जो कललरस की वृत्ति है और सूक्ष्म से सूक्ष्म अणुजीवों से लेकर बड़े से बड़े जीवों तक में पाई जाती है। यह संवेदन और गति ज्ञान वा चेतना पर अवलंबित नहीं। प्राणिमात्र में यह होती है। हैकल आदि प्राणिविज्ञानवित्तों का मत है कि प्रतिक्रिया चेतन व्यापार नहीं है—वह ज्ञान और संकल्प द्वारा नहीं होती। अतः क्षुद्र अणुजीवों आदि में जो संवेदन अर्थात् बाह्य विषयों का ग्रहण होता है वह जड़ वा अचेतन है—अर्थात् उसी प्रकार होता है जिस प्रकार निर्जीव पदार्थों में पदार्थ विशेष के संसर्ग से गति या स्फोट होता है, जैसे, बारूद का चिनगारी पाकर भड़कना, लोहे का चुंबक पाकर उसकी ओर चलना। जिन जीवों में संवेदनसूत्र तो होते हैं पर मस्तिष्क के रूप में केंद्रीभूत नहीं होते उनमें भी, इन जीवविज्ञानियों के अनुसार, संवेदन निःसंज्ञ या

अचेतन दशा में ही होते हैं। चेतना उन जीवों से आरंभ होती है जिनमें मस्तिष्क या अंतःकरण की रचना होती है। सारांश यह कि क्षुद्र जीवों में चेतना नहीं होती, आगे चलकर कुछ उन्नत कोटि के जीवों से ही चेतना मिलने लगती है।

उपर्युक्त निरूपणों के आधार पर आधिभौतिक पक्ष के अनात्मवादी तत्ववेत्ता आत्मा की ऐकांतिक स्वतंत्र सत्ता अस्वीकार करते हैं। वे चेतना को एक शरीरधर्म मात्र कहते हैं जिसका विकास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार और और भौतिक गुणों का। शरीर के साथ वह भी बढ़ती, विकृत होती और अंत में नष्ट होती है। आत्मा भूतों से परे कोई नित्य और अपरिच्छिन्न सत्ता नहीं, वह मस्तिष्क की ही वृत्ति है। मस्तिष्क के बिना चेतन व्यापार असंभव है। अनात्मवादी भूतों से परे आत्मा की सत्ता का अस्तित्व 'गतिशक्ति की अक्षरता' और 'द्रव्य की अविचलता' के सिद्धांत द्वारा असिद्ध कहते हैं। गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धांत, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह है कि गतिशक्ति जितनी है उतनी ही रहती है, परिणाम द्वारा वह घट बढ़ नहीं सकती। यदि भौतिक शरीर जो व्यापार करता है उससे चेतना को भिन्न मानें तो इसका मतलब यह है कि संवेदनसूत्रों के क्षोभ के रूप में जो भौतिक क्रिया होती है वह अभौतिक चेतन क्रिया के रूप में परिवर्तित हो जाती है[1] अर्थात् उतनी गतिशक्ति नहीं रह जाती, उसका क्षय हो जाता है। यह बात भौतिक विज्ञान से असिद्ध है। द्रव्य की अविचलता

---

१. यह बात में ध्यान रखनी चाहिए कि विज्ञान में केवल समवायि कारण ही माना जाता है, निमित्त नहीं। जैसे, यदि किसी स्थिर गोले को हमने हाथ के धक्के से चला दिया तो इस गति के कारण की मीमांसा इसी प्रकार होगी कि हाथ की गतिशक्ति जाकर गोले की गतिशक्ति के रूप में परिणत हो गई। जितने व्यापार सृष्टि में होते है सबका कारणनिरूपण विज्ञान इसी प्रकार करेगा।

का सिद्धांत यह है कि कोई द्रव्यखंड जब तक भौतिक गतिशक्ति द्वारा अवरुद्ध या विचलित न होगा तब तक या तो एक सीध में बराबर चला चलेगा या अचल रहेगा। जितने भौतिक व्यापार होते हैं सब दिग्बद्ध होते हैं, दिक ही में उनकी अभिव्यक्ति होती है। इन व्यापारों को दिक से अनवच्छिन्न किसी सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं मान सकते। अतः न तो शरीर को ही चलानेवाली कोई अभौतिक सत्ता है, न जगत् को। व्यापारों के प्रेरक या उत्पादक भौतिक व्यापार ही हो सकते हैं, यह विज्ञान का एक अखंड सिद्धांत है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि चेतनाशक्ति भी एक भौतिक शक्ति है। संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क के व्यापारों के हिसाब से ही चेतना के व्यापारों का होना इस बात को प्रत्यक्ष प्रकट करता है।

आत्मसत्तावादी इन बातों का इस प्रकार उत्तर देते हैं। पहली बात तो यह कि शक्ति की अक्षरता का जो सिद्धांत है उसकी पहुँच वहीं तक समझनी चाहिए जहाँ तक मनुष्य परीक्षा कर सका है। दूसरी बात यह कि आत्मसत्ता संकल्प द्वारा भौतिक शरीर में संचित गतिशक्ति की मात्रा में वृद्धि या न्यूनता नहीं करती, केवल निमित्तरूप से यह भर निश्चय कर देती है कि वह कौन सा रूप धारण करे, किस ओर प्रवृत्त हो। शक्ति का वेग या मात्रा और बात है और किसी विशेष ओर को उसकी प्रवृत्ति और बात। गति और विधि में जो भेद है उसे समझ लेना चाहिए। आत्मा केवल विधि का निर्णय करती है, गति की न वृद्धि करती है, न क्षय। अपने अंगों को जिस ओर जितनी बार चाहें हम बिना किसी भौतिक कारण के केवल आत्म-संकल्प द्वारा हिला सकते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मसत्ता भूतों से परे और स्वतंत्र है। कोई अभौतिक सत्ता भौतिक गतिविधि पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, इसके प्रमाण में जो 'द्रव्य की अविचलता' का सिद्धांत उपस्थित किया जाता है, आत्मवादी

उसके प्रतिवाद में गणितज्ञों का गतिशास्त्र संबंधी यह निरूपण पेश करते हैं—'कोई द्रव्यखंड जिस दिशा को जा रहा है उस पर जिस शक्ति का पथ समकोण बनाता हुआ होगा वह शक्ति उस द्रव्यखंड का पथ बिना गतिशक्ति के व्यय या वृद्धि के बदल सकती है'। इसी रूप से आत्मसत्ता भी चलते द्रव्य की दिशा में, बिना उसकी शक्ति की वृद्धि या ह्रास किए, फेरफार कर सकती है। इस प्रकार आत्म-स्वातंत्र्य के संबंध में आधिभौतिक पक्ष की जो शंकाएं हैं उनका समाधान हो सकता है।

ह्यूम आदि कुछ दार्शनिकोंने बौद्धों के समान क्षणिक ज्ञान को ही आत्मा या मन कहा। क्षण क्षण पर बदलनेवाले ज्ञानों अथवा विज्ञानों से भिन्न उनका अधिष्ठान रूप कोई स्थिर या एक ज्ञाता नहीं है। भिन्न भिन्न ज्ञानों के बीच एक स्थिर 'अहम्' का जो भान होता है वह एक आरोप मात्र है क्योंकि उसकी उत्पत्ति किसी इंद्रियज ज्ञान या संस्कार से नहीं है। मन या आत्मा क्षणिक चेतन अवस्थाओं की परंपरा का ही नाम है। इस मत में मिल आदि तत्त्वज्ञों को यह अनिवार्य बाधा दिखाई दी कि संस्कारों की परंपरा को अपने परंपरा होने का बोध क्यों कर होता है। प्रो० जेम्स ने भी अपने मनोविज्ञान में कहा है कि प्रत्येक क्षण में आया हुआ भाव या ज्ञान ही भावुक या ज्ञाता है। एक क्षण का अहंभाव विगत क्षण के अहंभाव से भिन्न होता है, पर भिन्न होने पर भी उसका उत्तराधिकारी या संग्राहक होता है। वह पिछले क्षण का भाव भी अपने से पूर्ववर्ती भाव का संग्राहक था, अतः उसके संग्रह के साथ उससे पिछले भाव का भी संग्रह समझ लेना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब चक्कर संबंधसूत्र के अभाव की पूर्ति के लिए काटना पड़ा है। विकास-वाद की पद्धति के अनुसार आजकल मनोविज्ञान के अधिकतर ग्रंथ मनोव्यापारों के क्रमविधान की ही मीमांसा करते हैं, सत्ता के विचार

में प्रवृत्त नहीं होते। ये व्यापार किसके हैं, शरीर से अलग कोई आत्मसत्ता है या नहीं, इन बातों को वे अपने विषय—जिसे वे शुद्ध विज्ञान की एक शाखा मानते हैं, से अलग सत्तादर्शन या परा विद्या का विषय बतलाते हैं। यहाँ तक कि मनोविज्ञान के बहुत से ग्रंथों में अब आत्मा शब्द भूल कर भी नहीं आने पाता, जहाँ तक हो सकता है बचाया जाता है।

सब ज्ञानों का ज्ञाता कोई एक है जो क्षण क्षण पर उदय होने वाले नाना ज्ञानों के बीच भी सदा वही रहता है, इस बात के विरुद्ध प्रमाण में वह विलक्षण मानसिक रोग भी उपस्थित किया जाता है जिसे 'दोहरी चेतना' या 'छाया' कहते हैं। इसमें एक व्यक्ति कभी कभी बिल्कुल दूसरे व्यक्ति का सा आचरण करने लगता है, उसका व्यक्तित्व एकदम बदल जाता है। किसी देवता या भूत प्रेत का सिर पर आना इसी प्रकार का रोग है। इस रोग के कई विलक्षण दृष्टांत योरप में भी देखे गए हैं। फेलिडा नाम की एक लड़की सन् १८४८ में पैदा हुई। १४ वर्ष तक तो उसकी दशा ठीक रही। सन् १८६५ में वह एक दिन एकबारगी बेहोश हो गई। कुछ देर में जब उसे होश हुआ तब उसकी प्रकृति एकदम बदली हुई पाई गई। पहले वह चुप्पी, हठी, शांत तथा मंद बुद्धि और चेष्टा की थी, पर बेहोशी के पीछे वह हँसमुख, चंचल और तीव्र बुद्धि की हो गई। इस दूसरी अवस्था में उसे अपनी पहली अवस्था की सब बातों का स्मरण था और देखने में वह सब प्रकार भली चंगी थी। कुछ महीनों पीछे बेहोशी का दूसरा दौरा हुआ और वह फिर अपनी पहली अवस्था को प्राप्त हो गई। इस अवस्था में उसे अपनी दूसरी अवस्था की बातों का कुछ भी स्मरण नहीं था। जब तक वह रही बारी बारी से ये दोनों अवस्थाएँ उसकी होती रहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि उसकी दो अलग अलग चेतनाएँ या आत्माएँ थीं। इसी संबंध में वे व्यापार भी ध्यान देने योग्य हैं जिन्हें

'प्रतिक्रिया' और 'गौण चेतना' कहते हैं। सोने में यह प्रायः देखा जाता है कि छूने से पैर हट जाता है, यद्यपि इस व्यापार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जब ध्यान किसी दूसरी ओर लगा रहता है तब सब इंद्रियाँ खुली रहने पर भी हमें कभी कभी शब्द, स्पर्श, दृश्य का ज्ञान नहीं रहता। कोई बैठा लिख रहा है। बाहर जो शब्द हो रहा है, उँगलियों से जो वह कलम पकड़े हुए है, उसका उसे कुछ भी ज्ञान नहीं है। जब मैं जानबूझकर ध्यान ले जाऊँगा तभी उन बातों का ज्ञान होगा। एक ओर जोर जोर से पढ़ते जाना और दूसरी ओर अर्थ भी ग्रहण करते जाना, बाजे पर उँगली रख रख कर बजाते भी जाना और गाते भी जाना, विभक्त चेतना के व्यापार हैं। इस प्रकार के युगपद् मनोव्यापार यह सूचित करते हैं कि चेतना की प्रधान धारा से अलग होकर गौण धारा भी चलती है। अतः चेतना के एक अखंड, निर्विकार, सदा एकरस आत्मा होने का प्रमाण नहीं मिलता।[1]

---

१. मस्तिष्क के विवरण में दिखाया जा चुका है कि संपर्क पाकर अंग को हटाना, किसी वस्तु को पकड़ना आदि व्यापार बड़े जीवों में मस्तिष्क और संवेदनसूत्रों की क्रिया से होते हैं। संवेदनसूत्रों द्वारा जब स्पंदन मस्तिष्क में पहुँचता है तब गतिवाहक सूत्रों में स्पंदन होता है जो अंगविशेष में पहुँच कर उसे हिलाता है। यदि अंगव्यापार चेतन संकल्प द्वारा उत्पन्न नहीं है तो प्रतिक्रिया मात्र है, शुद्ध अंतःकरण (मस्तिष्ककेंद्र) का व्यापार नहीं। हमारे यहाँ के दार्शनिक इसे मन का व्यापार न कहेंगे, इंद्रियों का स्थूल व्यापार कहेंगे। इंद्रियाँ मन से संबद्ध होकर जो व्यापार करेंगी उसी को वे मनोव्यापार के अंतर्गत लेंगे। मन के एकत्व का प्रतिपादन करते हुए नैयायिक मन के युगपद् व्यापार असंभव कहते हैं। उनका कहना है कि एक क्षण में एक ही ज्ञान होता है। अतः बाजा बजाते हुए गाने में जो एकसाथ दो दो मनोयोग कहे गए हैं उनके बीच वे सूक्ष्म कालांतर की कल्पना करेंगे।

आत्मवादी कहते हैं कि यदि मन केवल चेतन अवस्थाओं की परंपरा मात्र होती, यदि क्षणिक ज्ञानों का ही नाम मन होता तो विचार, तर्क, आत्मनिरीक्षण आदि असंभव होते। तर्क के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न भिन्न अवयवों को व्यवस्थित करनेवाली कोई एक सत्ता हो। ज्ञानकृत पुनरुद्भावना और स्मृति के लिए पूर्व प्रत्ययों के साथ वर्तमान प्रत्ययों का मिलान करनेवाला कोई एक स्थिर द्रष्टा चाहिए। इस समय मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं कल घूमने गया था, पारसाल प्रयाग में था, इत्यादि। इसका मतलब यही है कि कल घूमने और पारसाल प्रयाग में रहने का अनुभव करनेवाला वही था जो इस समय सोच रहा है। यदि मन और आत्मा क्षणिक ज्ञानों का ही नाम होता तो यह असंभव होता[1]। यदि आधिभौतिक

---

१. पाश्चात्य आत्मवादी मनोविज्ञानियों के आत्मसत्ता संबंधी ये प्रमाण वे ही हैं जो न्याय में दिए गए हैं।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ३ । १।१

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ३ । १ । ३

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ३ । १ । ७

इसी प्रकार स्मृति का व्यापार भी प्रमाण में लाया गया है—

तदात्मगुण सद्भावादप्रतिषेधः ३ । १ । १४

बात यह है कि जिस प्रकार पाश्चात्य ग्रंथों में मन और आत्मा के व्यापारों में कोई भेद नहीं किया गया है उसी प्रकार न्याय में भी अंतःकरण-विशिष्ट आत्मा का ही विचार हुआ है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के ही व्यापार कहे गए हैं।

पर सांख्य और वेदांत में शुद्ध आत्मा अकर्ता कहा गया है। उसमें कोई व्यापार नहीं, वह द्रष्टा मात्र है! व्यापार करता है मन, आत्मा तो केवल उसके व्यापारों का साक्षी या देखनेवाला है। जैसे, मैं कुछ सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ। यह सोचना या स्मरण करना आत्मा का व्यापार नहीं, आत्मा का तो केवल यह ज्ञान है कि 'मैं यह सोच रहा हूँ' या 'मैं यह स्मरण कर रहा हूँ'। शुद्ध चैतन्य का लक्षण यही है।

पक्ष के लोग यह कहें कि स्थूल भौतिक मस्तिष्क ही अधिष्ठान रूप में इन भिन्न भिन्न ज्ञानों का समाहार करनेवाला है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीरविज्ञानी कहते हैं कि और और घटकों के समान मस्तिष्क के घटक भी अपनी उत्पत्तिपरंपरा के अनुसार अल्पकाल में ही बदल जाते हैं। इससे सिद्ध है कि कोई एक परिणामरहित सत्ता है जो सब अवस्थाओं में एकरूप बनी रहती है। चेतना की यह एकता ही चेतन सत्ता की एकता का प्रमाण है। आत्मा एक वस्तु या सत्ता है, द्रव्यगुण या वृत्तिमात्र नहीं है यह बात तो सिद्ध हुई। अब यह सत्ता अभौतिक है– भूतों से परे है—इसके प्रमाण में आत्मवादी जो कहते हैं वह भी थोड़े में सुन लीजिए।

विकाससिद्धांत पर लक्ष्य रखनेवाले मनोविज्ञानी कहते हैं कि इंद्रियज ज्ञान या संवेदन ही मूल उपादान हैं जिनके पुनरुद्भावन, समाहार और मिश्रण द्वारा जाति या सामान्य, जैसे, गोत्व, पशु आदि की भावना, विचार, तर्क, संकल्प विकल्प आदि की योजना होती है। आत्मवादियों का कहना है कि ये उन्नत वृत्तियाँ संवेदनों से सर्वथा भिन्न कोटि की हैं। पहली बात तो यह कि संवेदन न तो अपने अस्तित्व का आप अनुभव कर सकता है, न पदार्थों के गुणों से जाति की भावना कर सकता है और न दूसरे संवेदनों के साथ अपने संबंध का बोध कर सकता है। हमारे सामने एक नारंगी रखी है। यों ही हमारी दृष्टि उस पर पड़ रही है और हमें उसके वहाँ रहने भर का ज्ञान है। यहाँ तक तो संवेदन या इंद्रियज ज्ञान हुआ। अब हम उसकी ओर ध्यान देते हैं—अर्थात् मन या आत्मा को उसकी ओर प्रवृत्त करते हैं। अब हमें उसकी गोलाई की, रंग की और स्वाद की भावना होती है और हम इन गुणों को दूसरे फलों के गुणों से मिलाते हैं।[1]

---

१. न्याय की परिभाषा में 'कोई वस्तु सामने है' इस इतने ज्ञान क

शुद्ध गुणों की यह भावना और उनका मिलान करनेवाला संवेदन से भिन्न कोई दूसरा ही है। दो वस्तुओं अर्थात् उनसे प्राप्त इंद्रियज संवेदनों को आगे रखकर देखनेवाला उन दोनों संवेदनों से भिन्न होना चाहिए। इसी प्रकार सामान्य और जाति की भावना भी इंद्रियज ज्ञान से परे है और एक अभौतिक सत्ता का आभास देती है। इंद्रियों द्वारा द्वारा जो कुछ हमें ज्ञान होता है वह विशेष का ही। हमें राम, गोपाल आदि विशेष मनुष्यों, हरे, पीले आदि विशेष रंगों, भूखे को अन्नदान आदि विशेष व्यापारों का ही प्रत्यक्ष होता है; मनुष्य, रंग, दया आदि सामान्यों का नहीं जो देशकाल से परे हैं। समस्त भौतिक व्यापार देशकाल के भीतर होते हैं, अतः ये अभौतिक व्यापार हैं। ये व्यापार किसी वस्तु या सत्ता के हैं, अतः वह वस्तु या सत्ता भी भूतों से परे ठहरी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनोविज्ञान की ओर से आत्मा के खंडनमंडन की बात अब नहीं उठती, अब सत्ता का विषय ही उससे अलग कर दिया गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे इस बात का पता लग सकता है कि विकाससिद्धांत का प्रभाव कितनी विद्याओं पर पड़ा है और उन्होंने किस प्रकार अपनी व्यवस्था इस सिद्धांत के अनुकूल की है। जगत् की उत्पत्ति, जीवों की उत्पत्ति, मनोविज्ञान, कर्तव्यशास्त्र, इतिहास, धर्माधर्म, समाजशास्त्र सब की व्याख्या विकासपद्धति का अवलंबन करके की गई है। भाषा की उत्पत्ति का क्रम अनेक जर्मन भाषातत्वविदों ने अपनी पुस्तकों में दिखाया है। जेगर ने लिखा है कि बनमानुसों से मिलते जुलते पूर्वजों से उत्पन्न मनुष्य में दो पैरों पर खड़े होने की विशेषता सब से अधिक हुई जिससे उसे श्वास की क्रिया

निर्विकल्पक और 'वस्तु यह है, ऐसा है, वैसा है' इस ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

या प्राणवायु पर पूरा अधिकार हो गया। इसी विशेषता से उसमें वर्णात्मक वाणी की सामर्थ्य आई। आजकल ऐसा ही कोई होगा जो इतिहास लिखने में इस बात का ध्यान न रखता हो कि किसी जाति के बीच ज्ञान, विज्ञान, आचार, सभ्यता इत्यादि का विकास क्रमशः हुआ है। इन सबको पूर्णरूप में लेकर किसी जाति के जीवन का आरंभ नहीं हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान के ग्रंथ शुद्ध बुद्ध पूर्ण चेतन आत्मा को लेकर नहीं चलते। जो पशुओं की चेतन-प्रवृत्ति से आरंभ नहीं भी करते वे भी इंद्रियसंवेदन की क्रमशः योजना से आरंभ करके भावों और विचारों तक पहुँचते हैं। विकास के आधिभौतिक अनुयायियों का कहना है कि जैसे और सब वस्तुओं का वैसे ही मन या मानसिक वृत्तियों का भी संघटन वाह्य जगत् के नियमों के अनुकूल होता है। अंतर्जगत् या आध्यात्मिक जगत् की भूतों से परे कोई सत्ता नहीं है। विचार और वस्तुव्यापार का जो समन्वय दिखाई पड़ता है वह वस्तुव्यापार के ही प्रतिबिंब के कारण। अद्वैत आत्मवादी जर्मन दार्शनिक इसका उलटा मानते हैं।

इसी प्रकार धर्माधर्म या कर्तव्यशास्त्र की नींवें भी लोकरक्षा और फलतः आत्मरक्षा पर डाली गई है। एक मूल रूप से क्रमशः अनेक रूपों की उत्पत्ति, एक सादे ढाँचे से अनेक जटिल ढाँचों का उत्तरोत्तर विधान, यही विकास का सारांश है। इस सिद्धांत के अनुसार जिस प्रकार यह असिद्ध है कि मनुष्य ऐसा प्राणी सृष्टि के आदि में ही एक-बारगी उत्पन्न हो गया, उसी प्रकार यह भी असिद्ध है कि मनुष्य जाति के बीच धर्म, ज्ञान और सभ्यता आदिम काल में भी उतनी ही या उससे बढ़ कर थी जितनी आजकल है। आधुनिक मत यही है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है। अत्यंत प्राचीन लोगों को बहुत अल्प विषयों का ज्ञान था। धीरे धीरे उस ज्ञान की वृद्धि होती गई है। इसी प्रकार धर्मभाव भी

पहले बहुत स्वल्प और सादे रूप में था, पीछे सामाजिक व्यवस्था की वृद्धि के साथ साथ उसका भी अनेक रूपों में विकास होता गया।

लोकव्यवहार और समाजविकास की दृष्टि से ही धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं। दूसरों के प्रति जो आचरण हम करते हैं उसी में अच्छे और बुरे का आरोप हो सकता है। व्यवहारसंबंध से ही क्रमशः सदसद्विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई है। व्यवहारसंबंध जीवननिर्वाह के लिये आवश्यक था। परस्पर मिलकर कार्य करने में उन बातों की प्राप्ति अधिक सुगम प्रतीत हुई जिनसे सब को समान लाभ था। एक ही पूर्वज से उत्पन्न अनेक परिवार इसी समान हित की भावना से प्रेरित होकर कुलबद्ध होकर रहने लगे। एक व्यक्ति के जिस कर्म से सबका जितना हित या अहित होता—अर्थात् सबको जितना सुख या दुःख प्राप्त होता—उसी हिसाब से उस कर्म की स्तुति या निंदा होती। इस प्रकार 'कुल धर्म' की स्थापना हुई। पहले प्रत्येक कुल को दूसरे कुलों से बहुत लड़ाई भिड़ाई करनी पड़ती थी अतः आदिम काल में यह धर्म स्वरक्षार्थ ही था। इस धर्म के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वार्थवृत्ति और इच्छा पर कुछ अंकुश रखना पड़ता था। यदि प्रत्येक मनुष्य मनमाना कार्य करने लगे, दूसरों का कुछ भी ध्यान न रखे, तो धर्म-व्यवस्था और उसके आधारपर स्थित समाज व्यवस्था नहीं रह सकती। अतः किसी समाज को बद्ध रखने के लिये यह धर्मव्यवस्था आवश्यक है। चोरों और डाकुओं तक के दल में यह धर्मव्यवस्था पाई जाती है। चोर चाहे दुनियाभर का माल चुराया करें पर अपने दल के भीतर उन्हें धर्मव्यवस्था रखनी पड़ती है। वे यदि आपस में अन्याय और बेईमानी करने लगें तो उनका दल टूट जाय। अतः सिद्ध हुआ कि लोक या समाज को धारण करनेवाला धर्म है। इसी से कहा गया है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः'।

डारविन ने अपने 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में विस्तार के साथ दिखाया है कि साथ रहने से उत्पन्न परस्पर सहानुभूति की स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, मनुष्य किस प्रकार दूसरों की प्रसन्नता और साधुवाद की कामना और उस कामना के अनुसार बहुत से कार्य करने लगा। क्षुधा, इंद्रियसुख, प्रतिकार इत्यादि की निम्न कोटि की वासनाएँ यद्यपि प्रबल होती थीं, पर तुष्टि के उपरांत उनका जोर नहीं रह जाता था। किंतु संग की वासना सदा बनी रहती थी, मनुष्य अकेला रहनेवाला प्राणी नहीं। संग का अर्थ है सहानुभूति अतः सहानुभूति का भाव अधिक स्थायी रहता था। यदि कोई मनुष्य निम्न कोटि की वासनाओं के वशीभूत होकर कोई ऐसा कार्य कर बैठता जिससे दूसरों को अप्रसन्नता होती तो वह शांत होने पर उसके लिये पश्चात्ताप करता। विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में—मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक—बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यों ज्यों वृद्धि होती गई त्यों त्यों धर्म की भावना में भी देशकालानुसार फेरफार होता गया। कोई समय था जब एक कुल दूसरे कुल की स्त्रियों को चुराना या लड़कर छीनना अच्छा समझता था। देवताओं की वेदियों पर नरबलि देने में किसी के रोंगटे खड़े नहीं होते थे। बाइबिल में इसके कई उल्लेख हैं, शुनःशेप की वैदिक गाथा भी एक उदाहरण है। उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान इस संबंध में ध्यान देने योग्य है। ये दोनों वैदिक काल के ऋषि थे। एक दिन उद्दालक, उनकी स्त्री और उनके पुत्र श्वेतकेतु बैठे थे। एक आदमी आया और श्वेतकेतु की माता को लेकर चलता हुआ। श्वेतकेतु को बहुत बुरा लगा। पिता ने पुत्र को यह कहकर शांत किया कि यह सनातन धर्म है—एष धर्मः सनातनः—ऐसा

सदा से होता आया है। श्वेतकेतु ने नियम किया कि जो स्त्री एक पति को छोड़कर जायगी उसे भ्रूणहत्या का पाप होगा और जो पुरुष पतिव्रता को छीन कर ले जायगा उसे भी पातक लगेगा।

इसी प्रकार दीर्घतमस् ऋषि ने भी अपनी स्त्री के आचरण पर क्रुद्ध होकर शाप दिया था कि 'अब से कोई स्त्री, चाहे उसका पति जीता हो या मर गया हो, दूसरे पुरुष से संसर्ग न कर सकेगी'। स्त्रियों के लिये जो पातिव्रत्य पहले 'दीर्घतमस् का शाप' था वही आगे चलकर एक-मात्र धर्म हुआ। इस बात की पुष्टि महाभारत के अन्य स्थलों से भी होती है। आदि पर्व में कुंती के प्रति जो उपदेश है उसमें लिखा है कि प्राचीन समय में केवल ऋतुकाल में पातिव्रत्य आवश्यक था—

ऋताव्रतौ, राजपुत्रि, स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते।
नातिवर्त्तव्यमित्येवं धर्मं धर्मविदो विदुः॥
शेषेष्वन्येषु कालेषु स्वातंत्र्यं स्त्री किलार्हति।
धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणां परिचक्षते॥

राक्षसविवाह, नियोग इत्यादि उसी असभ्य काल के स्मारक हैं। तात्पर्य यह कि दूसरे जनपदों को लूटना, दूसरे कुल की स्त्रियों को छीनना, नरवध इत्यादि पहले अधर्म नहीं समझे जाते थे। असभ्य जंगली जातियों में अबतक ये बातें प्रचलित हैं पर सभ्य जातियों के बीच अब ये बहुत बुरी समझी जाती हैं। धर्म का विकास धीरे धीरे समाज की उन्नति के साथ हुआ है। अतः विकासवादियों के अनुसार इहलोक या समाज से परे धर्म कोई नित्य और स्वतःप्रमाण पदार्थ नहीं है।

तत्त्वज्ञवर हर्बर्ट स्पेंसर ने विकास सिद्धांत की जो दार्शनिक स्थापना की है उसमें धर्मतत्व की भी विस्तृत मीमांसा है। स्पेंसर ने अणुजीवों से लेकर मनुष्यतक सब प्राणियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके अंत में

यही सिद्धांत स्थिर किया कि 'परस्पर साहाय्य की प्रवृत्ति' धर्म की मूल प्रवृत्ति है जो सजीव सृष्टि के साथ ही व्यक्त हुई और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती गई। यह प्रवृत्ति आदि में संतानोत्पादन और संतानपालन के रूप में प्रकट हुई। एकघटात्मक अणुजीवों में स्त्री पुरुष भेद नहीं होता। उनकी वंशवृद्धि विभाग द्वारा होती है। अतः हम कह सकते हैं कि संतान के लिये दूसरे के लिये—अणुजीव अपने शरीर को त्याग देता है। इसी प्रकार आगे के उन्नत श्रेणी के जोड़ेवाले जीव अपनी संतान के लालनपालन के लिये स्वार्थ त्याग करने में प्रसन्न होते हैं। यही प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते इस अवस्था को पहुँचती है कि लोग अपनी संतति के सहायतार्थ ही नहीं, अपने जाति भाइयों के सहायतार्थ भी सुख से स्वार्थ का त्याग करते हैं। अस्तु, सब जीवों में श्रेष्ठ मनुष्य को इसी प्रवृत्ति के उत्कर्षसाधन में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव की प्राप्ति के प्रयत्न में—लगा रहना चाहिए।

यहाँ पर कह देना आवश्यक है कि विकास सिद्धांत रूप से विज्ञान की सब शाखाओं में स्वीकृत हो गया है। पर ये शाखाएँ अपने अन्वेषणों में निरंतर उन्नति करती जाती हैं; इससे जिन बातों को पूर्व पीढ़ी के विकासवादी अपने प्रमाण में लाए हैं उनके ब्योरों में इधर बहुत कुछ फेरफार हुआ है। बहुत से भौतिक विज्ञानियों ने परमाणु के भी अवयवों या विद्युदणुओं तक पहुँचकर यह कहना आरंभ कर दिया है कि द्रव्य वास्तव में विद्युत् का ही संघातविशेष है, विद्युच्छक्ति का ही एक रूप है। इस बात को मान लें तो द्रव्य और शक्ति का द्वंद्व तो मिट गया। द्रव्य शक्ति की ही एक विशेष अभिव्यक्ति या रूप ठहरा। यदि सब कुछ शक्ति ही है तो बाकी क्या बचा? बाकी बचा ईथर (आकाश द्रव्य) जिसके विषय में हम अभीतक बहुत कम बातें जान सके हैं। इस प्रकार 'ईथर और शक्ति' पर आकर अब विज्ञान अड़ा है।

ईथर है किस प्रकार का, इसे समझने के लिये वैज्ञानिक बुद्धि लड़ा रहे हैं। पृथ्वी जो ईथर के बीच घूमती है तो क्या सचमुच उसे चीरती हुई घूमती है। यदि चीरती हुई घूमती है तो इस रगड़ का परिणाम बड़ा भारी होगा। चलती हुई वस्तु यदि बराबर रगड़ खाती हुई जायगी तो उसका वेग बराबर धीमा होता जायगा। इससे पृथ्वी अपने वेग के बल से सूर्य से दूर जो मंडल बाँधकर भन्नाटे के साथ घूम रही है, कभी न कभी वह मंडल टूट जायगा और वह सूर्य पर जा पड़ेगी। पर आजकल के गणितज्ञ ज्योतिषी इसकी उलटी कल्पना करने लगे हैं। वे कहते हैं कि जो स्थूल द्रव्य हम देखते हैं उससे कहीं अधिक घनत्व और शक्तिसंचय ईथर में है। वह ठोस सीसे से भी न जाने कितने लाख गुना ठोस होगा। पृथ्वी आदि जो स्थूल लोकपिंड हैं उन्हें ईथर के बीच बीच में खाली या खोखले स्थान समझिए।

अस्तु, अब ईथर और शक्ति में क्या संबंध है, यह देखना है। यह बड़ी ही गूढ़ समस्या है। ईथर के संबंध में जो मोटी धारणा बँधती है वैज्ञानिक कहते हैं वह ठीक नहीं है। हम यह समझते हैं कि ईथर एक निष्क्रिय अखंड सूक्ष्म भूत का विस्तार है जिस पर या जिसके आश्रय से द्रव्य क्रिया (आकर्षण, प्रकाशप्रवाह) करता है। सर आलिवर लाज कहते हैं यह खयाल गलत है। ईथर गतिशक्ति का अनंत भाण्डार है। परमाणुगत शक्ति के समान यह शक्ति भी पकड़ में नहीं आती। यदि पकड़ में आ जाय तो इससे बात की बात में प्रलय उपस्थित किया जा सकता है।

हैकल ने अपने ग्रंथ में जगह जगह 'प्रकृति के नियम' या 'परम तत्व के नियम' की झड़ी बाँध दी है। यह वाक्य बहुत ही भ्रामक हो गया है। लोग इसका बहुत ही अतिव्याप्त अर्थ लेते हैं। 'दो और दो चार होते हैं' यह भी प्रकृति का नियम, और 'गतिशक्ति का क्षय नहीं होता' यह भी प्रकृति का नियम। 'दो और दो चार होते हैं' इसे

प्रकृति का नियम नहीं कहना चाहिए। प्रकृति के जितने परिणाम या व्यापार होते हैं वे इस गणित के नियम के आधार नहीं, उनपर यह अवलंबित नहीं, उनसे यह सर्वथा स्वतंत्र है। यह चिन्तन का नियम है, इसका संबंध चित् से है। जिसे हम प्रकृति का नियम कहते हैं वह सत्य भी हो सकता है, असत्य भी। जितने दिक्कालखंड तक हमारी पहुँच है वह उतने ही के बीच के व्यापारों से संग्रह किया हुआ है। पर तर्क और गणित के जो नियम हैं वे अपरिहार्य सत्य हैं, उनके अन्यथा होने की भावना त्रिकाल में नहीं हो सकती। बाह्य जगत् पर वे निर्भर नहीं, उससे सर्वथा स्वतंत्र हैं। वे स्वतःप्रमाण हैं। भौतिक विज्ञान में जो 'प्रकृति के नियम' कहलाते हैं उनकी सत्यता भौतिक व्यापारों या परिणामों के संबंध में ठीक उतरने पर अवलंबित है।

जगद्विकास का सिद्धांत यही प्रतिपादित करता है कि प्रकृति परिणामपरंपरा में एक अवस्था मात्र है। 'प्रकृति के नियमों' के संबंध में हम लाख कहा करें कि वे सब काल और सब देश को देख कर निरूपित हुए हैं पर हम अपनी बात का पूर्ण निश्चय नहीं करा सकते।

इसमें संदेह नहीं कि विकाससिद्धांत के नियमों की चरितार्थता के लिये वैज्ञानिक निरंतर प्रयत्न करते जा रहे हैं जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की योजना में अबतक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की उन्हें ठीक धारणा ही नहीं रही है। वे अमीबा (अणुजीव) या अणूद्भिद् को आदिम रूप मान कर चले हैं। पर अमीबा या अणूद्भिद् को जिस जटिल रूप में हम देखते हैं वह लाखों वर्ष की विकासपरंपरा का परिणाम है। अतः सजीव द्रव्य का आदिम रूप इन दोनों से

कहीं सूक्ष्म और सादा रहा होगा। अणुजीव और अणूद्भिद् दोनों का आहार सजीव द्रव्य है। अतः ये आदिम नमूने कभी नहीं हो सकते। सजीव द्रव्य का आदिम रूप उद्भिदों का सा रहा होगा जो निर्जीव द्रव्य को सजीव द्रव्य (शरीरधातु) में परिणत कर सकते हैं। प्रथम जीवोत्पत्ति जल में ही हुई इसका एक नया प्रमाण एक फरासीसी शरीरविज्ञानी ने उपस्थित किया है। उसने कहा है कि रक्त में लवण आदि का योग उसी हिसाब से है जिस हिसाब से पूर्वकाल के समुद्रजल में रहा होगा।

पहले के वैज्ञानिकों को परमाणुओं के भीतर की गतिशक्ति की ओर ध्यान नहीं था, इससे द्रव्य की मूल व्यष्टियों के व्यापार को समझने के लिये उन्हें शक्ति का बाहर से आरोप करना पड़ता था। पर अब, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के केंद्रों का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अंतर बहुत कुछ कम हो गया है। कुछ विशेष प्रकार के परमाणु किरण या खमीर; जो वास्तव में सूक्ष्मातिसूक्ष्म किण्वाणुओं या अणूद्भिदों द्वारा संघटित होता है, का काम करते हैं। आजकल कई रासायनिकों ने विशेष परमाणुओं के योग से ही (महुए, आटे, राई आदि सजीव द्रव्य के अवशेषों से तो लोग बहुत दिनों से बनाते आते हैं) मदसार (अलकोहल) और कुछ सादे प्रकार के प्रोटीन (शरीर धातु) तक संघटित कर लिए हैं। ये द्रव्य पहले पौधों या जंतुओं के शरीर द्रव्य में ही पाए जाते थे इससे लोग समझते थे कि ये शरीर के भीतर ही बन सकते हैं। पहले इन शरीरद्रव्यों से संबंध रखनेवाले रसायनशास्त्र का अलग विभाग था। पर अब यह भेद नहीं रहा। रसायनशास्त्र से शरीरद्रव्य और साधारणद्रव्य का भेद अब उठ गया।

किण्वसंबंधी रसायन बराबर उन्नति करता जा रहा है। कई प्रकार के किण्व या खमीर, पौधों या जंतुओं से प्राप्त शरीरद्रव्य के

आश्रय के बिना, कुछ मूल द्रव्यों के परमाणुओं के योग से बना लिए गए हैं। सजीव द्रव्य की उत्पत्ति के पास तक यही विधान पहुँच सका है, और इसीसे बहुत कुछ आशा है। सजीवता वा जीवन वास्तव में किण्वपरंपरा ही है[1]। जितने सजीव पदार्थ हैं सबके शरीर में किण्व वर्तमान है। किण्वक्रिया के बंद होते ही जीव मर जाते हैं। गर्भपिंड से लेकर जीवों की जो अंगवृद्धि होती है वह अंकुर घटक के भीतर किण्वविधान के ही अनुसार।

जात्यंतर परिणाम के अंतर्गत प्राणियों के ढाँचे के भेदविधान के संबंध में डारविन ने जो निरूपण किया था उस पर भी इधर बहुत कुछ छानबीन हुई है। प्रो० बेटसन ने इस विषय का उत्पत्तिविज्ञान के नाम से अलग ही विचार किया है। उन्होंने कहा है कि भेदविधान दो प्रकार के होते हैं—(१) अखंड वा व्यापक और (२) विशिष्ट। डारविन ने अपने प्राकृतिकग्रहण सिद्धांत में केवल प्रथम का विचार किया है, दूसरे का नहीं। पर कुछ भेद जो जात्यंतर के लक्षण माने जाते हैं एक ही पुश्त में साधारण भेदविधान द्वारा उपस्थित हो सकते हैं। सच पूछिए तो उत्पन्न प्राणी के लक्षणों में से बहुत थोड़े ऐसे होते हैं जो मातापिता के धातुगत लक्षणों से संघटित होते हैं। इन लक्षणों की प्राप्ति भी कुछ बँधे नियमों के अनुसार होती है। जैसे, यदि मातापिता में से किसी में कोई लक्षणविशेष नहीं है तो किसी संतति में वह लक्षण न होगा। यदि दोनों में कोई एक लक्षण वर्तमान है तो सब बच्चों में वह पाया जायगा। यदि कोई लक्षण मातापिता में से एक ही में है, दूसरे में नहीं तो आधे लड़कों में वह

---

१. पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।—चार्वाक। (सर्वदर्शनसंग्रह)।

होगा आधे में नहीं। इसमें एक बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि लक्षण की एक स्थिर मात्रा रहती है जैसे यदि मातापिता में से एक ही में कोई लक्षण है तो आधे संतानों में ही वह लक्षण जायगा।

विकासवाद जगत् की समस्याओं के संबंध में हमारा कहाँ तक समाधान करता है चलती नजर से यह भी देख लेना चाहिए।

जगत् के संबंध में दो प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है—(१) यह जगत् क्या है, अर्थात् इसकी मूल सत्ता किस प्रकार की है? (२) जगत् के नाना व्यापार किस प्रकार होते हैं? उस गति का विधान कैसा है जिसके अनुसार नाना पदार्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुए हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विकाससिद्धांत का संबंध असल में दूसरे प्रश्न से है। उसी का उत्तर उसके निरूपण देते हैं। सत्ता की मीमांसा विकास का विषय नहीं। पर दार्शनिक प्रवृत्ति रखनेवाले हैकल ऐसे विकासवादी नाना व्यापारों को सत्ता के लक्षण मान उसके अनुमान में भी प्रवृत्त होते हैं।

इस जगत् के अंतर्गत दो प्रकार के व्यापार देखने में आते हैं—भौतिक और मानसिक। इन दोनों के उत्तरोत्तर क्रमविधान का वैज्ञानिक निरूपण विकासवाद करता है। इन निरूपणों को दो दृष्टियों से हम देख सकते हैं—द्वैत दृष्टि से और अद्वैत दृष्टि से।

द्वैत पक्ष यह है कि भूत और आत्मा अर्थात् अंतःकरण विशिष्ट आत्मा, दो सर्वथा पृथक् सत्ताएँ हैं। भौतिक व्यापार और मानसिक व्यापार दोनो एक ही नहीं हैं। अद्वैत पक्ष दो प्रकार का है—(क) आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आधिभौतिक अद्वैतवाद केवल एक महाभूत की सत्ता मानता है और आत्मा या मन को उसी का एक गुण या अभिव्यक्ति विशेष कहता है। इसके अनुसार आत्मा कोई अलग तत्व या सत्ता नहीं। हैकल ने स्पिनोजा के जिस तत्त्वाद्वैतवाद का प्रतिपादन

किया है वह इससे विशेष भिन्न नहीं। हैकल के अनुसार भौतिक और मानसिक एक ही परमतत्त्व के दो पक्ष या रूप हैं। एक ही तत्त्व या सत्ता की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है—द्रव्य या भूत के रूप में तथा गति शक्ति या आत्मा के रूप में। अर्थात्, आत्मा एक प्रकार की गति या शक्ति का ही नाम है। जिस प्रकार पानी का बहना, हवा का चलना, बारूद का भड़कना आदि गतिशक्ति के रूप हैं उसी प्रकार बोध करना और सोचना विचारना भी। हैकल की अद्वैत सत्ता चेतन नहीं, उसके सिद्धांत में चेतना एक गुणपरिणाम है जो अनेक परिणामों के उपरांत उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। यह वैज्ञानिक या आधिभौतिक अद्वैतवाद है।

(ख) आध्यात्मिक अद्वैतवाद केवल आत्मसत्ता ही मानता है। उसके अनुसार चैतन्य ही एकमात्र सत्ता है। भौतिक जगत् या उसके नाना रूपों को वह आत्मा के विविध भावमात्र कहता है। आधुनिक दर्शन में इसी मत की प्रधानता है। इसे योरप का वेदांत कह सकते हैं। इसके प्रतिष्ठाता जर्मनी में हुए हैं।

प्रकृति में जितने व्यापार या परिणाम हम देखते हैं, द्वैत या अद्वैत दृष्टि के अनुसार उनके दो प्रकार के कारण हम सोच सकते हैं—निमित्त कारण और समवायिकारण। द्वैत पक्ष के अनुसार जितने व्यापार होते हैं, सब किसी निमित्त या उद्देश्य से होते हैं, और उद्देश्य को धारण करनेवाला कारण भूतों से परे है। भूतातीत नियंता या विश्वविधायक आत्मा माननेवाले समस्त भौतिक क्रियाओं को उद्देश्य द्वारा प्रेरित मानते हैं। ये समवायिकारणों को निमित्त कारण के अधीन मानते हैं। जो विधायक आत्मा को भूतसमष्टि विश्व में समवेत या ओतप्रोत मानते हैं, वे भी इन्हीं के अंतर्गत लिए जा सकते हैं क्योंकि अद्वैतवादियों के अंतर्गत वे नहीं आ सकते। आधिभौतिक अद्वैतवादी कहते हैं कि समवायिकरण ही मानने से प्रकृति के सब व्यापारों की सम्यक् व्याख्या हो

जाती है, उद्देश्य रखनेवाले किसी निमित्त कारण को मानने की आवश्यकता नहीं। भूतद्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा ही जगत् का विकास होता है। वे किसी भूतातीत नियंता का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते और न आत्मा को कोई नित्य चेतन पदार्थ मानते हैं। संपूर्ण व्यापार द्रव्य और उसकी गतिशक्ति द्वारा आप से आप होते हैं।[१]

आधिभौतिक पक्षवालों को चेतना की व्याख्या में अड़चन पड़ती है। सर्वथा जड़ से चेतन की उत्पत्ति वे समाधानपूर्वक नहीं समझा सकते हैं। इस बाधा से बचने के लिये वे दो निकास निकालते हैं। कुछ लोगों को तो ईथर के समान एक अत्यंत सूक्ष्म मूल मनोभूत—जो प्रकृति या प्रधान भूत का ही एक विकार है; या आत्मभूत की कल्पना करनी पड़ी है जिससे प्राणियों के मन या आत्मा की योजना हुई है। कुछ लोग प्रत्येक भूतखंड में किसी न किसी रूप का संवेदन मानते हैं और कहते हैं कि अणुओं और परमाणुओं के परस्पर आकर्षण और अपसारण को संवेदन का मूलरूप समझना चाहिए। हैकल के सिद्धांत में इन दोनों का मेल है।

विकासवाद को दार्शनिक रूप हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा ही प्राप्त हुआ है। उसी ने उसके नियमों को विश्वव्यापक रूप दिया है। उसने विकास की परिभाषा इस प्रकार की है—'एकरूपता या निर्विशेषता से अनेकरूपता या सविशेषता की ओर, अव्यक्त से व्यक्त की ओर गति का नाम विकास है।' इस गति का कारण द्रव्य में समवेत है। भौतिक शक्ति के व्यापक नियमों द्वारा ही इसका विधान होता है। उससे परे किसी और

---

१ सांख्य में भी प्रधानभूत या प्रकृति का स्वभाव ही परिणाम कहा गया है, उसमें प्रवृत्ति आपसे आप होती है, किसी की प्रेरणा से नहीं। प्रकृति जड़ है, अतः यह प्रवृत्ति भी अचेतन है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य॥—कारिका ५७

शक्ति की प्रेरणा अपेक्षित नहीं। निर्विशेषता या साम्यावस्था क्षणिक होती है और एक कारण से अनेक कार्य होते हैं, अतः विकास अनिवार्य है। गतिशक्ति के संयोजक और वियोजक जो दो रूप हैं उन्हीं के द्वंद्व का परिणाम चला चलता है। इस परिणामपरंपरा की प्रवृत्ति दोनों शक्तियों के साम्य की ओर रहती है, अतः विकास या विकृति के नाना रूप कभी न कभी प्रकृतिस्थ होकर नष्ट होंगे। प्रकृति से फिर विकृति होगी। यह क्रम बराबर चला चलता है।

इन नियमों का निरूपण करके स्पेंसर ने इन्हें जड़ जगत् की उत्पत्ति और सजीव सृष्टि के विकास पर घटाया है। मन या अंतःकरण के विकास को भी इन्हीं नियमों के अंतर्गत करके उसने समाज के विकास की मीमांसा की है। वाह्य विषयों के साथ अंतर्व्यापारों के सामंजस्य का ही नाम जीवन है। जीवों की उत्पत्ति परंपरा में जब यह सामंजस्य एक विशेष जटिल अवस्था को पहुँच जाता है तब मन (चेतना जिसकी वृत्ति है) का प्रादुर्भाव होता है। शक्तिसंयुत द्रव्य के साथ साथ कोई नित्य चेतन सर्वसत्ता भी ओतप्रोत भाव से रहती है, इस विषय में उसने कुछ नहीं कहा है। चेतना को उसने उन्हीं प्राणियों में माना है जिनमें संवेदनसूत्रों और मस्तिष्क का पूर्ण विधान होता है। चेतना को उसने कोई ऐकांतिक अखंड सत्ता न कहकर एक यौगिक व्यापार ही कहा है जिसकी गूढ़ योजना अत्यंत सादे और सूक्ष्म अव्यक्त संवेदनों के योग से होती है। स्मृति, संकल्प, विवेचना, मनोवेग इत्यादि सब वृत्तियाँ इन्हीं आदिम मूल संवेदनों के संबंधभेद से संघटित हैं। अंतःकरण वृत्तियों के नाना रूपों की संप्राप्ति वाह्य विषयों के साथ सामंजस्य प्रयत्न द्वारा होती है। दिक्संबंधी,[1] धर्मसंबंधी आदि जो सांसिद्धिक भाव कहे जाते हैं वे

१ रेखागणित के निरूपण दिक् संबंधी होते है, जैसे, 'केवल दो रेखाएँ कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, 'दो समानांतर रेखाएँ कभी नहीं मिल सकती।' ऐसे निरूपणों को भी ह्यूम आदि संवेदनवादी दार्शनिकों ने स्वतःसिद्ध न कह

पूर्वजों के अनुभव की अखंड परंपरा द्वारा प्राप्त हुए हैं। जिन कार्यों से सुख का अनुभव हुआ वे प्राणी के लिये लाभदायक और जिनसे दुःख का अनुभव हुआ वे हानिकारक पाए गए। अतः कुछ कार्यों के आभास से प्रसन्नता और कुछ के आभास से भय वा विरक्ति, मस्तिष्क या अंतः-करण में संस्कार रूप में मूलबद्ध होती गई और पीढ़ी दर पीढ़ी चली आई। आरंभ में यह हानिलाभ का विचार या कार्यकारण का भाव स्पष्ट था पर क्रमशः वह दब गया, अर्थात् कुछ कार्यों के साक्षात्कार से आनंद और कुछ के साक्षात्कार से भय वा विरक्ति, बिना हानिलाभ या परिणाम आदि की भावना के यों ही बद्धसंस्कार के रूप में होने लगी। बहुत छोटे गोद के बच्चे को जब हम क्रूर आकृति बनाकर डाँटते हैं तब वह रोने लगता है और जब हँस हँसकर बुलाते हैं तब प्रसन्न होता है। उस बच्चे को कार्यकारण के अनुमान की शक्ति नहीं रहती, वह यह नहीं जानता कि क्रूर आकृति का परिणाम चपत या प्रसन्न आकृति का परिणाम मीठा दूध है। वह जो भय या आनंद प्रकट करता है उसका कारण उस अंतःकरण द्रव्य में बद्ध संस्कार है जिसकी परंपरा लाखों पीढ़ियों से बच्चे तक चली आई है।

इस प्रकार आदिम काल में ही मनुष्य जाति के बीच यह संस्कार जम गया कि जिन कार्यों से औरों की आकृति क्रूर हो जाय उनसे

कर अनुभवसिद्ध बतलाया है। यह देखते देखते कि दो रेखाएँ कोई स्थान नहीं घेर सकतीं, दो समानांतर रेखाएँ कभी नहीं मिलतीं, मनुष्य जाति के भीतर लाखों पीढ़ियों से जो संस्कार बँधा चला आया है उसी के कारण ये बातें स्वतः सिद्ध सी जान पड़ती हैं। आत्मसत्तावादी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन्हें इंद्रियज संवेदनों से प्राप्त नहीं मानते। वे कहते हैं कि हमारा जो यह निश्चय है कि ऐसा होना त्रिकाल में और किसी लोक में संभव नहीं, वह बाह्य पदार्थों या व्यापारों द्वारा उत्पन्न परिमित ज्ञानों से प्राप्त नहीं हो सकता। वह दिक् काल आदि से अपरिच्छिन्न सत्ता का लक्षण है।

बचना और जिनसे प्रसन्न हो उन्हें करना चाहिए। अर्थात् आरंभ में भय और आनंद द्वारा ही उपादेय और अनुपादेय का भाव उत्पन्न हुआ। यही मूलभय क्रमशः देवभय आदि के रूप में और मूल आनंद देवतुष्टि या स्वर्ग आदि के आनंद के रूप में विकसित हुआ। दया धर्म के संबंध में आधिभौतिक विकासवादियों का कहना है कि उसकी उत्पत्ति सहानुभूति से है जिसका विकास समाज बाँधकर रहनेवाले प्राणियों में स्वाभाविक है। एक ही प्रकार का आहार विहार रखनेवाले प्राणी जब एक दूसरे के समक्ष एक ही प्रकार के मनोद्गार प्रकट करते हैं तब उन मनोद्गारों के संबंध में भी एक प्रकार का मानसिक सहयोग स्थापित हो जाता है। यही सहानुभूति है जिसके कारण मनुष्य दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से बचता है और दूसरे की पीड़ा देखकर दुखी होता है। सौंदर्य की ओर जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह एक प्रकार की फालतू वृत्ति या क्रीड़ावृत्ति है जो प्रयोजन से अधिक मानसिक वृत्तियों के विकास के कारण उत्पन्न होती है।

स्पेंसर ने शरीरविकास और समाजविकास का तारतम्य दिखाकर कहा है कि जिस प्रकार प्राणी की जीवनयात्रा उपस्थित वाह्य विषयों के साथ आभ्यंतर वृत्तियों का सामंजस्यप्रयत्न है, उसी प्रकार प्राणियों की समष्टि या समाज की जीवनयात्रा भी। अतः वह युग आवेगा जब यह सामंजस्य पूर्ण रूप से स्थापित हो जायगा और मनुष्य जीवन आनंद-मय हो जायगा।

स्पेंसर ने विकास की जो व्याख्या की है वह आधिभौतिक ही है। सब प्रकार की चेतना को उसने मूल संवेदनों से संघटित बताया है जो सूत्रों की अणुस्पंदन रूप गति के सहगामी हैं। पर उसने यह भी कहा है कि इन संवेदनों को हम उसी भौतिक गति का रूप नहीं कह सकते जिसे हम चारो ओर देखते हैं। विषय और विषयी को, ज्ञाता और

ज्ञेय को किसी प्रकार एक नहीं समझते बनता।[1] इस प्रकार भूतक्रिया और मनोव्यापार का पृथक्त्व स्वीकार करते हुए भी उसने दोनों को एक ही अज्ञेय सत्ता के दो पक्ष या रूप कहा है। पर इस रीति से अद्वैतपक्ष पर आने पर भी द्रव्य और मन या आत्मा की पृथक् भावना द्वारा उसका द्वैतवाद लक्षित होता है। हैकल के समान उसने जड़ और चेतन व्यापारों को एक ही नहीं कहा है, दोनों को अलग रखा है। हैकल ने परमतत्व के जो दो पक्ष कहे हैं वे द्रव्य और गतिशक्ति—जिसके अंतर्गत संवेदन, संकल्प विकल्प, आत्मबोध आदि मनोव्यापार भी हैं—हैं। स्पेंसर ने अज्ञेय सत्ता के जो दो पक्ष कहे हैं वे गतिशक्तियुक्त द्रव्य और मन हैं। 'मन (चेतन अवस्थाएँ) और संवेदनसूत्रों की भौतिक क्रिया एक ही वस्तु के विषयी और विषय अर्थात् ज्ञातृ और ज्ञेय दो पक्ष हैं। दोनों के एक ही वस्तु के रूप या विभाव होने का प्रमाण उनका नित्य संबंध है। वह वस्तु या सत्ता जिसके ये दोनों पक्ष हैं, ज्ञेय पक्ष में नहीं आ सकती।

इस प्रकार वस्तु या सत्ता के विवेचन में उसने अपने को भूतवादी कहे जाने से यह कहकर बचाया है कि 'एक अज्ञेय सत्ता है जो भौतिक और मानसिक या आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त होती है'। इस अज्ञेय सत्ता को उसने प्रायः शक्ति के नाम से अभिहित किया है जो कहीं कहीं (उसी के ग्रंथ में) भौतिक गतिशक्ति से भिन्न नहीं जान पड़ती। स्पेंसर की अज्ञेय मीमांसा के साथ उसकी विकास की व्याख्या मेल नहीं खाती। सच पूछिए तो उसका विकासवाद उसके अज्ञेयवाद पर प्रतिष्ठित ही नहीं है। सत्ता के विवेचन में उसने जो निरूपण किए हैं उनसे उसने विकास की व्याख्या में कुछ भी काम नहीं लिया है। न तो उसने यह बताया है कि अज्ञेय सत्ता क्यों देश

---

१. ज्ञेयं ज्ञेयमय ज्ञाता ज्ञातैव न ज्ञेयं भवति—गीता, शंकर भाष्य १३।३।

काल के भीतर अभिव्यक्त होती है और न यह कहा है कि वह क्यों पहले जड़ जगत् के रूप में व्यक्त हुई, पीछे चैतन्य रूप में।

यहाँ तक तो हर्बर्ट स्पेंसर की बात हुई। अब यह देखना चाहिए कि विकासवाद जगत् की व्याख्या में कहाँतक पहुँचा है। विकासवाद भौतिक और मानसिक दोनों व्यापारों की परिणामपरंपरा की व्याख्या करता है और इस प्रकार संपूर्ण जगत् की समस्या को अपने अंतर्भूत करता है। पर बहुत सी बातें ऐसी रह जाती हैं जिनके संबंध में हमारा ठीक ठीक समाधान नहीं होता। कुछ उदाहरण लीजिए। विकासवाद यह नहीं बता सका है कि क्यों एक पुरातन प्रधान भूत निर्विशेषता से सविशेषता की ओर, एकरूपता से अनेकरूपता की ओर प्रवृत्त होता है, प्रकृति की विकृति का कारण क्या है। इसी प्रकार जड़ से चेतन की उत्पत्ति का ब्योरा भी वह स्पष्ट रीति से नहीं समझा सका है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या विकासवाद जगत् के समस्त व्यापारों के मूल की सम्यक् व्याख्या कर देता है? सच पूछिए तो उसकी पहुँच की भी हद है। शरीरविकास और आत्मविकास को ही लीजिए। शरीरव्यापार और मनोव्यापार दोनों में, एक ही प्रकार के नियमों की चरितार्थता, दोनों का साथ साथ उत्तरोत्तरक्रम से विकास, दिखाया गया है सही, पर दोनों एक नहीं सिद्ध हो सके हैं। विकासवाद के सारे निरूपण मन या आत्मा की प्रथमोत्पत्ति नहीं समझा सके हैं। और तो जाने दीजिए किस प्रकार संवेदनसूत्र का भौतिक (स्थूल) स्पंदन संवेदन के रूप में परिणत हो जाता है यही रहस्य नहीं खुलता। इस प्रकार का और कोई परिणाम भौतिक जगत् में देखने में नहीं आता। इस कठिनता को कुछ लोग यह कहकर दूर किया चाहते हैं कि द्रव्य के प्रत्येक परमाणु में एक प्रकार की अंतः-संज्ञा या अव्यक्त संवेदन होता है जो आकर्षण और अपसारण के रूप

में प्रकट होता है। पर हम तो चेतना अर्थात् मन की अपने ही संस्कारों के बोध की वृत्ति-की उत्पत्ति जानना चाहते हैं जिससे यह अंतःसंज्ञा भिन्न है। हैकल ने मस्तिष्क के भीतर प्रतिबिंब या संस्कार ग्रहण करने-वाला जो एक प्राप्यकारी अवयव बताया है उससे भी चेतना का व्यापार समझने में सुबीता नहीं होता। केवल यही कह देने से कि एक वस्तु पर प्रतिबिंब पड़ता है यह समझ में नहीं आ जाता कि वह वस्तु यह बोध भी करती है कि मुझ पर प्रतिबिंब पड़ रहा है या प्रतिबिंब इस प्रकार का है।[1]

ऐसी बातों में हमारा समाधान विकासवाद द्वारा नहीं होता। विकासवाद केवल गोचर व्यापारों की पूर्वापरपरंपरा या स्फुरणक्रम मात्र दिखाता है। ये सब व्यापार किसके हैं, वस्तु या सत्ता का शुद्ध

---

* यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वैज्ञानिकों ने 'शक्ति की अचरता' के सिद्धांत को लेकर यह प्रतिपादित किया है कि न भौतिक शक्ति किसी अभौतिक शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है और न कोई अभौतिक शक्ति भौतिक शक्ति में कोई वृद्धि (अतिशय) या विकार कर सकती है। मनोविज्ञानियों ने इसी आधार पर यह सिद्धांत स्थिर किया कि शरीर-व्यापार और मनोव्यापार एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते अर्थात् उनमें कार्यकारण संबंध नहीं, वे दोनों समानांतर (साथ साथ पर अलग अलग) चलते हैं। जब आधिभौतिक अद्वैतवादी इस बात को अपनी ओर यह सिद्ध करने के लिये ले गए कि जगत् किसी आत्मसत्ता या चेतन का कार्य नहीं है और प्राणियों के प्रयत्न किसी अभौतिक सत्ता द्वारा प्रेरित या उत्पन्न नहीं होते तब ईश्वरकर्तृत्ववादी इसके खंडन के प्रयास में लगे (दे० भूमिका पृ० ४७-६८)। पर हमारे यहाँ वेदांत में क्रिया मात्र से शुद्ध चैतन्य (ज्ञान) की भावना अलग होने से उपर्युक्त वैज्ञानिक सिद्धांत स्वीकृत है। उपदेशसाहस्री की टीका (१०।११२) में स्पष्ट लिखा है कि 'सन्निहिताश्चच कृतातिशयः बुद्ध्यादेर्नास्त्येव'। यह भी खोल कर लिखा गया है कि बुद्ध्यादि जड़ क्रिया और ज्ञान में केवल "समकालाभिव्यक्तिधर्म" के सिवा और कोई संबंध नहीं है। यह वेदांत का 'साइको फ़िजिकल पैरेललिज्म' है।

(इंद्रियनिरपेक्ष) स्वरूप क्या है यह वह नहीं बताता। वह केवल तटस्थ लक्षण कहता है, स्वरूप लक्षण नहीं। अतः सत्ता के विवेचन के लिये हमें विज्ञान क्षेत्र से निकलकर परा विद्या या शुद्ध दर्शन की ओर आना पड़ता है।

यह जगत् क्या है? इसकी सत्ता का वास्तव स्वरूप क्या है? इस संबंध में दर्शन में दृष्टिभेद से तीन पक्ष हैं—(१) भूतवाद या लोकायत मत जिसके अनुसार शरीर या भूत ही एकमात्र सत्ता है; (२) अद्वैत आत्मवाद या भाववाद। अद्वैत आत्मवादियों में कुछ लोग तो आत्मा को एक वस्तु या सत्ता मानते हैं और कुछ लोग बौद्धों के समान क्षणिक विज्ञानों या चेतन अवस्थाओं को ही मानते हैं। पर दोनों दल के लोग भौतिक शरीर या बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता अस्वीकार करते हैं। (३) बाह्यार्थवाद,[1] जो भूत और आत्मा दोनों को भिन्न सत्ताएँ मानकर बाह्य जगत् को वास्तविक कहता है।

(१) भूतवाद के अनुसार जो कुछ है वह भूत ही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह उसकी व्यापारसमष्टि या गुणविशेष मात्र है। यद्यपि हैकल ने अपने मत का नाम भूतवाद नहीं रखा है पर है वह भूतवाद ही। जगत् के मूल उपादान या प्रधान भूत तक पहुँचकर उसने उसका नाम परमतत्व रखा जो नित्य है और अपने नित्य नियमो से बद्ध है। उस परमतत्व की अभिव्यक्ति द्रव्य और गति-शक्ति दो रूपों में होती है। मूल वृत्ति या प्रवृत्ति ही उसका संवेदन (जड़ संवेदन)[2] है जिसके कारण वह स्थान स्थान पर घनीभूत होकर अनेकत्व की ओर प्रवृत्त हुआ। परमाणुओं की प्रवृत्ति में वह कुछ और अधिक

---

१. एवं बाह्यार्थवादमास्थित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञान-वादी बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते।—सूत्र २८ पर, शंकर भाष्य।

२. उपनिषदों में इसे प्राणशक्ति कहा है जिससे चैतन्य भिन्न है।

व्यक्त हुआ। शुक्र कीटाणुओं और रजःकीटाणुओं में हैकल ने घटकात्मा कहा, गर्भांड में अंकुरात्मा, पौधों में तत्वात्मा और जंतुओं में सूत्रात्मा। इस प्रकार संवेदन को भूत का व्यापक गुण मानकर उसने अपने सिद्धांत का नाम भूतवाद न रखकर तत्त्वाद्वैतवाद रखा। पर उसका यह संवेदन जड़ ही है अतः उसका जड़ाद्वैतवाद वास्तव में भूतवाद ही है। चैतन्य की असंहत नित्य सत्ता का स्वीकार उसमें नहीं है। उसके संवेदन को यदि हम एक प्रकार का आत्मव्यापार मान भी लें तो भी वह क्रिया या गुणमात्र ही है, वस्तु या सत्ता नहीं।

भारतवर्ष का चार्वाक या लोकायत मत भी इसी प्रकार का था जो चैतन्यविशिष्ट देह के अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार करता था[1]। चार्वाकों का कहना था कि जिस प्रकार किण्व या खमीर से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार देहाकारपरिणत भूतचतुष्टय से चैतन्य उत्पन्न होता है। भूतों के इस संयोग विशेष के नष्ट होनेपर वह भी नष्ट हो जाता है।

(२) योरप में अध्यात्मवाद या भाववाद का आरंभ डेकार्ट के इस सूत्र से समझना चाहिए कि 'मैं बोध करता हूँ इसलिये मैं हूँ।' उसने कहा—जो कुछ बोध आत्मा को होता है वह अपने भावों या प्रत्ययों का ही। अतः यदि किसी सत्ता का पूर्ण निश्चय है तो आत्म-सत्ता का। पर ईश्वर की कृपा से आत्मा के प्रत्ययों या भावों द्वारा हम दो प्रकार की सत्ताओं—दिग्बद्ध वस्तु (भूत) और ज्ञातृवस्तु या आत्मा—का अनुमान कर सकते हैं। सच पूछिए तो अद्वैत आत्मवाद का आधार कांट ने खड़ा किया। उसी ने ज्ञान के मूल की विस्तृत परीक्षा की। बाह्य जगत् का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है? संवेदन

---

१. चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा, देहातिरिक्ति आत्मनि प्रमाणाभावात्।
—चार्वाक (सर्वदर्शनसंग्रह)।

द्वारा, अर्थात् हमारे अंतःकरण वा मन में वस्तुसत्ता के प्रभाव से एक संस्कार उत्पन्न होता है और मन उसी का बोध करता है। जैसे, स्पर्श का जो ज्ञान है वह वस्तुतः दबाव का ज्ञान नहीं है, उस दबाव की भावना करानेवाले संस्कार या संवेदन का ज्ञान है। वर्ण का जो ज्ञान होता है वह वास्तव में वर्ण का ज्ञान नहीं है, वर्ण के उस संवेदन का ज्ञान है जो अंतःकरण या मन में ही होता है। अर्थात्, मन को जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं, किसी बाहरी वस्तु के नहीं। प्राप्त संवेदनों को देश काल के साँचे में ढालकर ही मन उनका ग्रहण करता है।

मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा करके कांट ने यह निर्धारित किया कि उसका कितना अंश बाहर से प्राप्त होता है और कितना मन में पहले ही से आधार या मूल के रूप में वर्तमान रहता है। ये आधार या मूल चित् के स्वरूप ही हैं, ये स्वतः प्रमाण हैं, इनके बोध या निश्चय के लिये किसी प्रकार का अनुमान या तर्क नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार ज्ञान के कुछ स्वरूपसिद्ध मूलाधार मानकर कांट ने इंद्रियसंवेदन, मनन और प्रज्ञा या बुद्धि में उनको क्रमशः दिखलाया है। प्रत्यक्ष या इंद्रियज ज्ञान में मूलाधार दिक् और काल दिक् हैं और काल, इन्हीं दो मूल स्वरूपों के भीतर सब प्रकार का प्रत्यक्ष (इंद्रियज) ज्ञान संभव है। मनन या अनुमान में मूलाधार कुछ वर्ग या खंड होते हैं जिनमें प्राप्त संवेदनों या विषयों को बाँटकर मन अपने अनुमान को फैलाता है। तीन तीन भेदों से युक्त ये वर्ग चार हैं—परिमाण, गुण, संबंध और प्रकार। इन चार रूपों में से किसी एक में आ जाने पर ही मन किसी वस्तु या विषय का ग्रहण कर सकता है। जो बातें इनमें नहीं आ सकतीं वे तर्क या अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकतीं। अतः परमाणु, शून्य, ईश्वर, दैव आदि असिद्ध हैं। प्रज्ञा या बुद्धि के सांसिद्धिक स्वरूप हैं तीन भाव—ईश्वर, आत्मा और जगत्। बुद्धि इन्हें केवल विचार की

व्यवस्था के लिये अपनी ओर से प्रदान करती है, इनका बोध नहीं करती। इनके द्वारा अनुमान के वर्गविधान परिमिति के कारण खंडित नहीं रह जाने पाते। ये प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा प्राप्त परिमित और बद्धज्ञान को अपरिमित और स्वतंत्र (वाह्यनिरपेक्ष) ज्ञान का स्वरूप देकर ज्ञान को पूर्णता और एकता तक पहुँचाते हैं। जैसे; इंद्रियज्ञान द्वारा जो देशकाल का आरोप होता है उसे लेकर देशकालगत सब विषयों को एककर बुद्धि उसका नाम जगत् रखती है। अनुमान के जो खंड हैं उन सब को मिलाने से आत्मा का भाव बनता है। कारणता को लेकर सब से आदि कारण को हम ईश्वर कहते हैं। पर अनुमान के वर्गों से जिस प्रकार हमें अपने से वाह्य वस्तु का जैसा विविक्त ज्ञान होता है, प्रज्ञा या बुद्धि के इन आरोपित भावों से वैसे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। बुद्धि अपनी ओर से इनका आरोप भर करती है, विषय रूप में ग्रहण नहीं करती। इन भावों से केवल इतना ही होता है कि अनुमान के जो वर्गात्मक खंड हैं वे चरमावस्था को पहुँच जाते हैं, बस। ईश्वर, आत्मा और जगत् क्या हैं यह बुद्धि नहीं स्थिर कर सकती। इस प्रकार कांट ने दिखाया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रज्ञा के जो सांसिद्धिक स्वरूप अर्थात् देश, काल, वर्ग तथा ईश्वर, आत्मा और जगत् हैं वे वाह्य वस्तु के स्वरूप नहीं हैं, मन के स्वरूप हैं जिनमें लाकर वह वाह्य जगत् को देखता है। बुद्धि आदि द्वारा वाह्य जगत् का जो बोध होता है वह नामरूपात्मक है, वास्तव नहीं है। इंद्रिय और मन अपने रंगों में रँगकर जिन रूपों में जगत् को देखता है, उनसे स्वतंत्र उसकी वास्तव सत्ता किस प्रकार की है यह ज्ञान शुद्ध बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। अपनी 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' में कांट ने ईश्वर, जगत् और आत्मा के पक्ष विपक्ष के प्रमाणों का खंडन किया है।

शुद्ध बुद्धि की परीक्षा के उपरांत कांट ने कर्मसंकल्परूपिणी 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' को ले है लिया जिसके द्वारा कर्म होते हैं। कर्म-

क्षेत्र में आकर हम नामरूपात्मक जगत् से परे वस्तुतत्व तक पहुँच जाते हैं। संकल्पित कार्यावली हमारे मन में उत्पन्न होकर वाह्य जगत् में अभिव्यक्त होती है। कर्मसंकल्पवृत्ति ही चित् के वास्तव स्वरूप को सूचित करती है। यह न तो बुद्धि से बद्ध या नियंत्रित है और न वाह्य जगत् नियमों से। इसपर आदेश रखनेवाले केवल नित्य और सर्वगत धर्मनियम (कैटेगारिकल इंपरेटिव्स) हैं। ये धर्मनियम व्यवसायात्मिका बुद्धि के स्वप्रवर्तित नियम हैं। कर्मसंकल्पवृत्ति का यह आत्मशासन (आटोनामी आव् द विल) हमें नामरूपात्मक दृश्य जगत से अगोचर चिन्मय जगत् में ले जाता है जहाँ हमें धर्मनियम, स्वतंत्र अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। इसी धर्मशासन द्वारा कांट ने ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। जीवन का चरम मंगल क्या है ? न अकेला धर्म; न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वतःसिद्ध संबंध नहीं। जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्ठा है। अब इन दोनों का संयोग होता कैसे है ? इसके लिये ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनों के बीच संयोग का स्थापक है। इसी प्रकार आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म की पराकाष्ठा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिये यह अल्पकालिक जीवन काफी नहीं है। अतः अनन्त जीवन मानकर चलना पड़ता है।

कुछ लोगों को व्यवसायात्मिका बुद्धि संबंधी इस निरूपण का, कांट के दर्शन की मूलभित्ति के साथ विरोध दिखाई पड़ता है। पहले तो उसने यह कहा कि प्रत्यक्षानुभव के रूप में जिन मानस संस्कारों की उपलब्धि होती है उन्हें लेकर बुद्धि जो कुछ निरूपित करेगी वह भी मानस वस्तु होगी, चित् का ही स्वरूप होगा; पीछे उसने कहा कि धर्म की व्यवस्था के लिये वह वास्तव (चित्तनिरपेक्ष) पदार्थों का आरोप करती है। पर यदि देखा जाय तो कांट ने वास्तव सत्ता के

अस्तित्व की जगह यह कहकर पहले से ही रख ली थी कि मानस संस्कार अज्ञेय वस्तुसत्ता के प्रभाव से होते हैं, और बहुत संभव है कि चित् के इन स्वरूपों की तह में जो वस्तुसत्ता है वह इन्हीं के कुछ मेल में हो। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि कांट ने चित् या प्रमाता से वाह्य किसी अज्ञेय वस्तुसत्ता का अस्तित्व माना है। उसके दर्शन में वाह्यार्थवाद की कुछ गंध बनी हुई है।

सच पूछिए तो कांट का सबसे बड़ा काम 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' ही है जिसके द्वारा उसने वाह्यार्थज्ञान के सामान्य अवयवों देश, काल और कार्यकारणसंबंध के वाह्य अस्तित्व का प्रतिषेध किया। योरप में अद्वैत आत्मवाद का मूलाधार यही हुआ। नीचे संक्षेप में कुछ प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं।

दिक् कोई बाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है

(१) दिक् का ज्ञान बाहर से नहीं आता क्योंकि जो कुछ प्रत्यक्षानुभव हमें होता है दिक् की भावना पहले करके तब होता है। प्रत्यक्षानुभव है क्या ? मन अपने कुछ संवेदनों को अपने से वाह्य वस्तु से प्राप्त मानता है। इस आंतर और वाह्य के ज्ञान में देश का ज्ञान पहले से मिला हुआ है। इसी प्रकार वस्तुभेद के ज्ञान में परत्व अपरत्व का देशसंबंधी ज्ञान मिला हुआ है।

(२) वाह्य जगत् का जो चित्र अपने मन में हम धारण करते हैं उसमें से हम सब कुछ निकाल सकते हैं, पर देश को नहीं अलग कर सकते। जगत् के जितने पदार्थ हैं सब के बिना हम जगत् की भावना कर सकते हैं पर देशशून्य जगत् की भावना हमारे चित्त में हो ही नहीं सकती।

(३) शुद्ध देश के संबंध में जो निरूपण होते हैं वे अनिवार्य होते हैं, उनका अन्यथा संभव नहीं। जैसे किसी वस्तु तक पहुँचने के लिये

यह आवश्यक है कि उसके और हमारे बीच जो देशखंड है वह तै किया जाय। इसी प्रकार किसी जगह न होना या एकसाथ दो जगहों पर होना असंभव है। थोड़े विचार से यह स्पष्ट हो सकता है कि इस प्रकार के निश्चय उन निश्चयों से सर्वथा भिन्न हैं जो बराबर देखते देखते निरंतर अभ्यास द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। अनुभव केवल हमें यही बता सकता है कि अबतक ऐसा नहीं हुआ है, यह निश्चय नहीं करा सकता कि त्रिकाल में ऐसा नहीं हो सकता।

(४) रेखागणित के सब निरूपण नित्य और अपरिहार्य सत्य के रूप में होते हैं, अतः वे बारबार के अनुभव से प्राप्त नहीं हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये निरूपण शुद्ध देशसंबंधी होते हैं।

(५) प्रत्येक बाह्य अनुभव भिन्न भिन्न संवेदनों ('आत्मा या मन की अलग अलग अवस्थाओं या संस्कारों) के योग से होता है, जिनका मेरे साथ तो संबंध होता है पर परस्पर कोई संबंध नहीं होता। अतः उनको जोड़नेवाला संबंधसूत्र चित् से बाहर नहीं है, उसके भीतर है। यह संबंधसूत्र देश है जो हमारे चित्त का ही भाव या स्वरूप है।

(६) दिक् अनंत है। हमें इस बात का पूरा निश्चय है कि सौर जगत् क्या अनेक सौर जगतों से परे, जहाँ तक न दूरबीन की पहुँच है और न हमारे अनुभव की, दिक् बराबर चला गया है। यह अनुभव की बात नहीं, अनंतता का अनुभव हमें बाहर से प्राप्त हो नहीं सकता।

काल कोई बाह्य वस्तु नहीं, चित् का ही स्वरूप है

(१) काल की भावना जगत् से नहीं प्राप्त होती क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव में काल की भावना पहले से मिली रहती है। प्रत्यक्षानुभव में यह आवश्यक है कि संवेदन एकसाथ हों या आगेपीछे। एकसाथ या आगेपीछे होने का यह भाव कालसंबंधी है।

(२) मान लीजिए कि जगत् की सारी गति, सारे व्यापार— घड़ियों के चलने से लेकर पृथ्वी आदि ग्रहों के घूमने तक, जिनसे हम काल नापते हैं बंद हो जायँ, फिर भी काल बराबर चला चलेगा, एक क्षण के उपरांत दूसरा क्षण आता रहेगा। सब प्रकार के प्रत्यक्षानुभव के लुप्त हो जाने पर भी काल का भावना बराबर बनी रहेगी।

(३) कालसंबंधी निरूपण अपरिहार्य होते हैं, उनका अन्यथा संभव नहीं। जैसे किसी भविष्य काल तक रहने के लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान काल और उस काल के बीच जितना काल है उतने में रहा जाय, न कम में न अधिक में। विगत क्षण का लौटना असंभव है। इस प्रकार के निश्चय किसी प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं। कालिदास को कुछ लोग ई० पू० का मानते हैं और कुछ लोग चतुर्थ शताब्दी का। यदि कोई कहे कि दोनों संभव है तो वह विक्षिप्त समझा जायगा।

(४) अंकगणित के निरूपण भी इसी प्रकार अपरिहार्य होते हैं। यह शास्त्र कालसंबंधी है क्योंकि यह गिनने की संक्षिप्त विधि मात्र है। गिनना एकाई का कई बार निर्धारण है जिसके लिये हम भिन्न भिन्न संकेत रख लेते हैं। 'कई बार' यह कालपरंपरा का भाव है अतः अंकगणित कालसंबंधी शास्त्र है। उसके अपरिहार्य निरूपण काल का बाह्यनिरपेक्षत्व सिद्ध करते हैं।

(५) प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव कुछ काल तक मन के प्रभावित होने पर होता है। यह काल चाहे कितना ही अल्प हो कई सूक्ष्म खंडों के योग से बना होता है जिनके बीच कई सूक्ष्म अनुभव होते हैं। आत्मा के ये सूक्ष्म अनुभव मुझसे संबंध रखते हैं पर एक दूसरे से नहीं। वह सूत्र जिसमें वे पिरोए जाकर एक समवाय ज्ञान उत्पन्न करते हैं काल है जो अनुभवों द्वारा प्राप्त नहीं होता, चित्त द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

(६) काल अनादि और अनंत है। हमें यह पूर्ण निश्चय है कि काल बराबर था और बराबर रहेगा। हमारा यह निश्चय किसी अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं, यह चित् से ही आता है।

कार्यकारणसंबंध बाह्य विषय नहीं, चित् का ही स्वरूप है

जैसे दिक् वस्तुओं के अवस्थान की चित्तप्रयुक्त व्यवस्था है और काल परंपरा की, उसी प्रकार कार्यकारणभाव वस्तुओं की क्रिया या व्यापार की व्यवस्था है जिसे चित्त अपनी ओर से प्रदान करता है। प्रत्येक कार्यविशेष का निर्धारण प्रत्यक्षानुभव द्वारा होता है, पर कार्य-कारणभाव, जिसके बिना क्रिया या व्यापार की भावना संभव नहीं, अंतरात्मा से ही आता है। प्रमाण—

(१) चित् का स्वरूप ही ऐसा है कि यदि किसी व्यापार का चित्र उसमें उपस्थित होता है तो उसका संबंध बिना किसी कारण से लगाए वह रह ही नहीं सकता। प्रत्येक प्रत्यक्षानुभव में कार्यकारणभाव समवेत रहता है। बाहर से जो कुछ हमें प्राप्त होता है वह अंतःकरण का संवेदनसूत्रों द्वारा संहत संस्कार मात्र है। यदि हमारे मन में कार्यकारणभाव का साँचा न होता तो उस संस्कार के द्वारा बाह्य वस्तु के होने का कुछ भी ज्ञान न होता। इसी भाव के द्वारा हम संस्कार को कार्यरूप से ग्रहण करते हैं और अपने से बाहर दिक् में उसके कारण का अवस्थान (स्थूल भूत के रूप में) करते हैं। कार्यकारण के भाव बिना बाह्य जगत् की प्रतीति का असंभव होना ही इस बात का प्रमाण है कि यह भाव हमें बाहर से प्राप्त नहीं होता, बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।

(२) शुद्ध कार्यकारणभाव का चित्र हमारे मन में उपस्थित नहीं हो सकता, विषय रूप में जब वह उपस्थित होगा तब देशकाल के योग में अर्थात् भूत के रूप में। भूत वास्तव में देशकालव्यवस्थित

कार्यकारणभाव का ही नाम है। इस भूत का भाव परिहार्य, अपरिहार्य दोनों है। इस भूत का भाव हम चित्त से निकाल सकते हैं, पर जो भूत है उसका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव मन में नहीं धारण कर सकते। भूत के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव (उत्पत्ति और नाश) की धारणा का असंभव होना इस बात को सूचित करता है कि हम उपस्थित भूत के अस्तित्व को अपने मन से किसी प्रकार निकाल नहीं सकते। अतः वह आत्मसत्ता से स्वतंत्र नहीं है, अर्थात् भूत भी चित् द्वारा ही प्रदत्त भाव है।

(३) कार्यकारणभाव अपरिहार्य है। किसी कार्य का कारण क्या है, इसका अनिश्चय हमें हो सकता है पर कोई कारण है इसका निश्चय अवश्य रहता है। यदि कार्यकारणभाव हमें प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त होता तो जैसे और सब प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमों (जैसे, नित्य सबेरे सूर्य का उदय होना) की वैसे ही इसकी भी अन्यथा भावना हो सकती। बार बार के प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नियमों की भावना अपरिहार्य नहीं, कार्यकारण का भाव अपरिहार्य है। अतः वह प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं है।

(४) भौतिक विज्ञान के जो नियम प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त हुए हैं उन सबको यदि निकाल दें तो कोई क्रिया नहीं रह जायगी, क्रिया की संभावना, अर्थात् कार्यकारणभाव मात्र रह जायगी, दिक् काल द्वारा व्यवस्थित होने पर जिसकी प्रतीति भूत के रूप में होती है। भूत की यह अक्रिय और सक्रिय भावना अपरिहार्य है, अतः चित्त-प्रदत्त है।

(५) जब कि अलग अलग संस्कारों द्वारा दिक् काल का सूत्र नहीं प्राप्त होता तब कार्य और कारण के बीच का संबंधसूत्र अलग अलग प्रत्यक्षानुभवों से कैसे प्राप्त हो सकता है? अतः व्यापार के रूप

में शक्ति की जो अभिव्यक्तियाँ होती हैं उन्हें मन ही कार्यकारणभाव की व्यवस्था प्रदान करता है।

(६) कार्यकारण परंपरा अनादि और अनंत है क्योंकि जिस अवस्था को हम आदि मानेंगे उसका परिणाम होने के लिये कोई पूर्व परिणाम मानना पड़ेगा और अनवस्था आ जायगी। अनादि और अनंत का भाव कभी किसी प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। वह चित् का ही स्वरूप है।

अंतःकरण अपनी इन्हीं तीन व्यवस्थाओं (दिक्, काल और कार्यकारणभाव) द्वारा बाह्य जगत् का चित्र खींचता है। पहले तो वह संवेदनों को कालबद्ध कर पूर्वापर क्रम की भावना करता है। फिर कार्यकारणभाव द्वारा बाहर उसके कारण का आरोप करता है। अंत में इस कारण को दिग्बद्ध कर भौतिक स्थूल पदार्थ के रूप में उसकी भावना करता है। सारांश यह कि जगत् जो हम देखते हैं वह हमारे चित्त का ही खड़ा किया हुआ स्वरूप है, अर्थात् तत्व दृष्टि से मिथ्या है। यही तर्क विलायती वेदांत का आधार हुआ। कांट के इस निरूपण में चित् से भिन्न उस पर संस्काररूप प्रभाव डालनेवाली अज्ञेय बाह्य सत्ता का स्वीकार है। अतः बाह्यार्थवाद का कुछ लेश उसमें बना हुआ है। इस अज्ञेय बाह्य सत्ता की भावना उसने शक्तिरूप में की है। एक स्थान पर उसने कहा है कि भौतिक पदार्थ और कुछ नहीं 'शक्तिपूरित दिक्खंड' मात्र हैं।

कांट में जो कुछ बाह्यार्थवाद का लेश था उसे फिक्ट ने दूर कर दिया। उसने सूचित किया कि चित् से भिन्न उस पर प्रभाव डालनेवाली कोई वस्तु नहीं है, आत्मा पूर्ण और निरपेक्ष है। वह आपसे आप उन स्वरूपों का उदय करती है जिसकी समष्टि को जगत् कहते हैं, किसी बाहरी वस्तु (भूत, शक्ति, अज्ञेय सत्ता या ईश्वर आदि) के

प्रभाव या प्रेरणा से नहीं। जगत् पूर्णतया उसी की रचना है। आत्मा पहले अपना अवस्थान करती है, फिर अपने से भिन्न अनात्मा का और पीछे इस अनात्मा का अपने में अवस्थान करती है। इसी पद्धति से वह जगत् की प्रतीति करती है। अतः जो कुछ सत्ता है वह चैतन्य में ही, चैतन्य के बाहर नहीं[1]। मोहवश आत्मा को इस स्वावस्थान क्रिया का विस्मरण हो जाता है और उसे इस विवर्त द्वारा अनात्मा की भी स्वतंत्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार आत्मा के अवस्थानभेद मानकर फिक्ट ने विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय में परमार्थ-भेद नहीं रखा। जिसे कांट ने अज्ञेय वस्तुसत्ता कहा था उसको भी फिक्ट ने विषय रूप में आत्मा का स्वावस्थान ही कहकर ज्ञेय बताया; क्योंकि जब वह आत्मा की ही स्वप्रमिति ठहरी तब उसके लिये अज्ञेय कैसे हो सकती है। इस प्रकार फिक्ट के दर्शन में आत्मसत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया।

अद्वैत आत्मवाद या भाववाद में बड़ी भारी अड़चन यह थी कि यदि संसार में जो नाना पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे चित् के भाव ही हैं तो किसी एक वस्तु की समान प्रतीति सब आत्माओं में कैसे होती है, सब लोग एक सूर्य की भावना कैसे करते हैं। कांट की तरह बाह्यसत्ता का कुछ लेश रखने पर तो इसका समाधान यह मानकर हो सकता है कि एक वस्तुसत्ता भिन्न भिन्न आत्माओं में एक ही प्रकार की अलग अलग प्रतीति उत्पन्न करती है। पर उस बाह्य वस्तु को भी चित् का स्वरूप मान लेने पर केवल दो रास्ते रह जाते हैं। या तो यह कहें कि जितनी आत्माएँ हैं उतने ही सूर्य (या सूर्य की प्रतीति) हैं अथवा यह कहें कि आत्मा एक ही है, अनेक नहीं। इंग्लैंड के भाववादी दार्शनिक बर्कले ने पहला रास्ता पकड़ा था। पर फिक्ट ने

---

१. नाह आत्मनोन्यत् अनात्मभूत तत्।—तैत्तरीय भाष्य।

भिन्न भिन्न आत्माओं का प्रत्याख्यान करके भारतीय वेदांतियों के समान एक ही आत्मा माना। यूरोपीय दर्शन में इस प्रकार एक ही पूर्ण और व्यापक चैतन्य की प्रतिष्ठा हुई।

फिक्ट के पीछे शेलिंग ने प्रतिपादित किया कि एकांत चैतन्य सत्ता ही ब्रह्म है। जगत् चैतन्य वा ब्रह्म का ही भावविधान है। ब्रह्मसत्ता शाश्वत सर्वव्यापिनी बुद्धिस्वरूपा है। यह संपूर्ण जगत् उसी बुद्धि का निरूपण है जिसकी पहले जड़ जगत् के रूप में और फिर होते होते चेतन मनुष्य के रूप में अभिव्यक्ति होती है। विषयी निरंतर विषय रूप होता रहता है और ऐसी सृष्टि करता है जिसमें विषय और विषयी का एक में पर्यवसान होता है। द्वैत में अद्वैत, भेद में अभेद का यह क्रम ही आकर्षण और अपसारण का मूल है और इसकी उद्धरणी जगत् में बराबर होती रहती है। शेलिंग का कहना है कि विषयी जो विषय हो जाता है वह 'भेद में अभेद' भाव होकर फिर पलटकर अपने में मिलने के लिये ही। जगत् और ज्ञान दोनों का क्रम बुद्धिक्रम है। विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का परम चैतन्य या पूर्णबुद्धि में जाकर अभेद हो जाता है। अभेदरूप इस ऐकांतिक पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध क्योंकर हो सकता है? शेलिंग का कथन है कि प्रज्ञा से।

शेलिंग के इसी 'भेद में अभेद' के ऊपर हेगल ने अपना अद्भुत चमत्कारपूर्ण भवन खड़ा किया जिससे वाह्यार्थवादी इतना घबराते हैं। उसने शेलिंग के इस कथन को अयुक्त बताया कि पूर्ण चैतन्य सत्ता का बोध प्रज्ञा द्वारा हो सकता है। उसने कहा कि संवेदन या इंद्रियज ज्ञान से ऊपर जो बोध होगा वह अनुमान या तर्कपद्धति द्वारा ही होगा। इसके लिये उसने एक नया आंतर तर्क खड़ा किया जिसका आधार यह है कि दो जुदी वस्तुएँ यदि समान हों तो गुण की एकता से एक ही हो सकती हैं। इसी तर्कपद्धति द्वारा उसने दिखाया कि किस प्रकार अपरिच्छिन्न

सत्ता परिच्छिन्न होकर भी अपरिच्छिन्न बनी रहती है, किस प्रकार चित् का भाव जगत् हो जाता है और फिर आत्मा होकर अपने में लौट आता है, सत् किस प्रकार असत् हो जाता है और फिर अपने में लौट आता है अर्थात् किस प्रकार एक परम चैतन्य विषय विषयी, ज्ञाता ज्ञेय, प्रमाता प्रमेय के भेद की ओर प्रवृत्त होता है और फिर भी अभेद रूप रहता है। इस प्रकार हेगल ने सत् और असत् दोनों का अंतर्भाव एक परम भाव में किया। हेगल के हाथ में पड़कर जर्मनी का भाववाद चरमसीमा को पहुँच गया।

हेगल के पीछे जर्मनी में शोपेनहावर, हार्टमान, लोज, फेक्नर, पालसन आदि कई भाववादी दार्शनिक हुए हैं। इनमें से शोपेनहावर ने बौद्ध आदि पूरबी दर्शनों और उपनिषदों का भी परिशीलन किया था। शोपेनहावर भी कांट का यह निरूपण स्वीकार करके चला है कि बाह्य (नामरूपात्मक, दृश्य) जगत् चित् का भाव या प्रत्यय मात्र है, पर जगत् की जो वस्तुसत्ता है वह कर्मसंकल्पवृत्ति या इच्छास्वरूप है। यह कर्मप्रवृत्ति या कृतिशक्ति उद्देश्यज्ञानपूर्वक चेतन नहीं है, जड़ है। बुद्धि और चेतना क्या इसमें संवेदन तक नहीं, यह सर्वथा जड़ प्रवृत्ति है। इस प्रकार उसने फिक्ट, शेलिंग और हेगल के अनंतपूर्ण चैतन्य अर्थात् सर्वव्यापिनी चेतनसत्ता का प्रतिषेध किया और कहा कि अंध जड़ प्रवृत्ति या इच्छा ही परिणामरूप से हम लोगों में चैतन्य की उत्पत्ति करती है। यह दुःखमय संसार इसी रजोगुणमयी प्रवृत्ति या शक्ति का कार्य है। शोपेनहावर के दर्शन में दुःखवाद भरा हुआ है। कामना की निवृत्ति से ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है। शोपेनहावर के अनुयायियों में ही ड्यूसन हुए हैं जिन्होंने वेदांत आदि भारतीय दर्शनों की भी आलोचना की है।

शोपेनहावर ने सबसे जड़ और दुःखमयी प्रवृत्ति को ही जगत् के मूल में रखा है। उसका यह दुःखवाद जर्मनी में निट्शे ने ग्रहण किया

और अपनी चमत्कारपूर्ण अनोखी उक्तियों द्वारा अपने देश में एक इंद्रजाल सा फैला दिया। वह शोपेनहावर के दर्शन से जड़ प्रवृत्ति या संकल्पशक्ति को लेकर विकासवाद की ओर ले गया और कहने लगा कि जीवन की यही कामना विकास के इस नियम में देखी जाती है कि 'जो जीव समर्थ होते हैं वे ही रह जाते हैं और सब नष्ट हो जाते हैं।' प्रकृति द्वारा जीवित रहने का अधिकार बलवानों को ही प्राप्त है। वे दुर्बलों को संसार से हटाकर अपने लिये-अपने ज्ञान, बल, वैभव आदि के पूर्ण विस्तार के लिये—जगह करें और इस प्रकार 'ग्रहण पद्धति' द्वारा एक मनुष्योपरि योनि का विकास करें। इस मनुष्योपरि योनि के विकास के उन्माद में जर्मनी ने हाल में जो करतब किए उन्हें संसार देख चुका है।

यद्यपि भारतीय वेदांत का पद्धति योरप की ज्ञानपरीक्षावाली पद्धति से भिन्न है पर अंत में दोनों दर्शन किस प्रकार एक ही सिद्धांत पर पहुँचे हैं यह बात ध्यान देने योग्य है। वेदांत यह मानकर चला है कि क्रिया परिणामिनी है, पर चैतन्य अपरिणामी है। एक क्रिया दूसरी क्रिया के रूप में परिणत होती है पर उन क्रियाओं का ज्ञान सदा वही रहता है। बुद्ध्यादि अंतःकरण की सब वृत्तियाँ जड़ क्रिया के अंतर्गत की गई हैं, केवल उनका ज्ञान अविकृत रूप से स्थित कहा गया है। खंडज्ञान या विज्ञान का कारण बुद्ध्यादि क्रिया की विच्युति या विकार है। क्रियानुगत ज्ञाता ज्ञेय रूप में केवल क्रियाओं का ज्ञान करता है, अपने स्वरूप का नहीं जो अखंड, निर्विशेष और अपरिणामी है। इससे सिद्ध हुआ कि परिणामबद्ध क्रिया या क्रियाबीज शक्ति स्वतंत्र सत्ता नहीं हो सकती, उसकी अक्षर सत्ता चैतन्य की सत्ता में ही है। शक्ति का जो स्फुरण है उसका अधिष्ठान चैतन्य है। अतः चैतन्य ही एकमात्र शुद्ध सत्ता है। इस स्फुरण व्यापार में ब्रह्म या चैतन्य का ही आभास मिलता है। 'सर्व विशेषप्रत्यस्तमित स्वरूपत्वात् ब्रह्मणो बाह्यसत्ता-

सामान्यविषयेण 'सत्य' शब्देन लक्ष्यते' --(तैत्तिरीय भाष्य)। शुद्ध चैतन्यस्वरूप का केवल आभास मिल सकता है। उसका बोध केवल लक्षणा द्वारा हो सकता है साक्षात् संबंध द्वारा नहीं। जब कि सब प्राकृतिक व्यापार चैतन्य के ही लक्षणाभास हैं और हमें केवल इन्हीं लक्षणाभासों का ही ज्ञान हो सकता है तब इनके अनुसंधान को वेदांती अनावश्यक नहीं कह सकते।

इस संक्षिप्त निरूपण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म अनंत ज्ञानस्वरूप और अनंत शक्तिस्वरूप दोनों है। इस शक्ति को ब्रह्म का संकल्प ही समझना चाहिये जो अव्यक्त रूप में चैतन्य में अधिष्ठित रहता है। यह एक प्रकार से ज्ञान का ही एक अंग या पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति सर्गोन्मुख गति या क्रिया के रूप में होती है। इसी अर्थ में ब्रह्म या चैतन्य को 'भूत-योनि' (कारण ब्रह्म) कहते हैं। ज्ञाता ज्ञेय रूप से अपना अवस्थान कर क्रियारूप में अपनी संकल्पशक्ति को व्यक्त करता है।

वाह्यार्थवाद

वाह्यार्थवादी सर्वसाधारण की धारणा का समर्थन करते हुए भूत और आत्मा दो अलग सत्ताएँ मानते हैं। उन्हें दोनों ओर के अद्वैत-वादियों के खंडन में प्रवृत्त होना पड़ता है। अद्वैत आत्मवाद की प्रचंड युक्तियों के निराकरण में भी वे प्रवृत्त होते हैं और भूताद्वैतियों की त्रुटियों का भी दिग्दर्शन कराते हैं। जर्मनी में ही ड्यूरिंग आदि कई बाह्यार्थवादियों ने कांट के निरूपण के विरुद्ध प्रयास किया है। वाह्यार्थ-वादी भी दो प्रकार के हैं। कुछ तो भौतिक जगत् को प्रत्यक्ष नहीं मानते, अनुमान मानते हैं। वे इस युक्ति को मानते हैं कि मन का जो ज्ञान होता है वह अपने ही स्वरूपों या संस्कारों का, पर इन संस्कारों द्वारा इस बात का पूरा अनुमान होता है कि भौतिक जगत् है। शुद्ध वाह्यार्थवादी कहते हैं कि हमें भौतिक जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान

होता है, मानसिक संस्कार मध्यस्थ नहीं। इंग्लैंड में रीड, स्टिवर्ट, और हेमिल्टन शुद्धा वाह्यार्थवाद के अनुयायी हो गए हैं। मार्टिना, माइवर्ट और मेकाश आधुनिक अनुयायियों में हैं। इंग्लैंड की स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी मत की ओर अधिक है जिसमें न्याय और वैशेषिक के समान ईश्वर, आत्मा और भूत के लिये उसी प्रकार अलग अलग जगह है जिस प्रकार सर्वसाधारण के मन में।

इस मत के समर्थक भाववादियों की इस मूल प्रतिज्ञा को असिद्ध कहते हैं कि मन को जो संवेदन या ज्ञान होता है वह अपने ही संवेदन का न कि वस्तु का। वे कहते हैं कि जिसका ज्ञान होता है वह भौतिक पदार्थ से उत्पन्न भौतिक प्रभाव है, चित् का ही स्वरूप नहीं। यदि जगत् के व्यापारों को हम चित्त के भाव या कल्पना मान लें तो फिर नाना विज्ञानों के जो अन्वेषण हैं वे व्यर्थ हैं। भौतिक व्यापार अपने नियमों के अनुसार तब से बराबर होते आ रहे हैं जबसे उनकी प्रतीति करनेवाले मनुष्य के चित्त का कहीं पता भी नहीं था। यदि भूत की सत्ता स्वतंत्र न होती तो एक ही बात का पता दो अलग अलग अन्वेषकों को कैसे लगता। नेपच्यून नामक ग्रह का पता आडम्स और लवेरियर नामक ज्योतिषियों ने अपनी अपनी स्वतंत्र गणना के अनुसार एक ही समय में पाया। इस प्रकार वाह्यार्थवादी अनेक युक्तियों से योरोपीय भाववादियों (अद्वैत आत्मवादियों) के निरूपण के प्रत्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। पर सच पूछिए तो वैज्ञानिकों के अनुसंधान का द्वार भाववादी बंद नहीं करते हैं। सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का जो कुछ उन्होंने प्रतिपादन किया है उसके साथ वाह्यार्थ क्रम-विधान का समन्वय भी उन्होंने किया है। कांट ने वस्तुसत्ता को शक्तिस्वरूपा कहा था, शोपेनहावर ने उसी शक्ति को संकल्प कहा। फिक्ट ने उस शक्ति को 'विषयी का विषयरूप से स्वावस्थान' कहकर उसका अधिष्ठान चैतन्य में ही कर दिया था। पहले कहा जा चुका है

कि किस प्रकार भौतिक विज्ञान भूत या द्रव्य के मूलरूप का पता लगाते लगाते अंत में शक्ति तक पहुँच रहा है। कुछ वैज्ञानिक अब कहने लगे हैं कि द्रव्य या भूत का सबसे सूक्ष्म रूप[1] शक्ति ही है। अतः विज्ञान के नाना अनुसंधानों को भाववादी यही समझेंगे कि संकल्प या कृतिशक्ति के स्वरूप का निरूपण हो रहा है। जब कि इस संकल्प या क्रियाबीज की सत्ता भी चैतन्य सत्ता से स्वतंत्र नहीं, जब कि यह ज्ञान का ही एक विशेष (ज्ञेय) रूप में अवस्थान है, जब कि इसके नाना विशेषों या क्रियाओं की तह में अधिष्ठान रूप से निर्विशेष चैतन्य व्याप्त है तब इस ज्ञेय के द्वारा ज्ञान, चैतन्य या ब्रह्म का ही आभास अध्यात्मवादी क्यों न मानेंगे ?

प्रकृति के नाना व्यापारों के अनुसंधान द्वारा ही वैज्ञानिकों को 'भेद में अभेद' इस गूढ़ तत्त्व की उपलब्धि हुई है जो सत्ता संबंधी ज्ञान का मूल है। भूतों की विशेष क्रियाओं के अभ्यास द्वारा ही क्रिया के एक निर्विशेष रूप अक्षर शक्ति तक विज्ञान पहुँचा है, नाना क्रियाएँ जिसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। विज्ञान के किसी क्षेत्र में जाइए वहाँ एक सामान्य अनेक की तह में ओतप्रोत मिलेगा। यही सामान्य सत्ता के स्वरूप का आभास है।

नाना भेदों के बीच जो अभेद मिलता जाय उसे सत्ता के स्वरूप के पास तक पहुँचता हुआ समझना चाहिए। शुद्ध विज्ञान अपने सूक्ष्म अन्वीक्षणों द्वारा सर्वभूत की सामान्य सत्ता, शक्ति, तक पहुँच रहा है। ईथर का एक अड़ंगा रह गया है। ईश्वर भी शायद एक दिन शक्तिरूप ही प्रमाणित हो जाय (अव्यक्तमव्याकृताकाशादिशब्द वाच्यम्—कठ भाष्य)। पहले कहा जा चुका है कि विज्ञान अपनी पद्धति से चैतन्य को इस भूतशक्ति के अंतर्गत करने में समर्थ नहीं

१. अक्षरमव्याकृत नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्मम्।—शांकरभाष्य।

हुआ है। अतः चैतन्य और शक्ति का ही द्वैत अब रह गया है। सांख्य ने जहाँ छोड़ा था वहीं पर विज्ञान ने भी लाकर छोड़ दिया है। सांख्य भी पुरुष प्रकृति का सदा सलामत रहनेवाला जोड़ा देख कर लौटा था।

अब इस द्वैत को लेकर दोनों प्रकार के अद्वैतवादी का क्या रूप होगा यह देखना चाहिए। अब या तो आधिभौतिक अद्वैत के अनुसार चैतन्य को शक्ति के अंतर्भूत करें या अद्वैत आत्मवाद के अनुसार शक्ति को चैतन्य के अंतर्भूत करें—या तो शक्ति को चैतन्य का अधिष्ठान कहें, अथवा चैतन्य को शक्ति का। हैकल ने परम तत्व के भूत और शक्ति जो दो पक्ष कहे थे उनमें से भूत तो प्रायः शक्ति के ही अंतर्भूत हो गया। अतः उसका परम तत्व भी शक्तिरूप ही रह गया। उसने चैतन्य को इस शक्ति का ही एक रूप या क्षणिक परिणाम कहा है। योरप के भाववादी और भारत के वेदांती चैतन्य को ही शक्ति का अधिष्ठान कहेंगे जैसा कि वे बराबर कहते आए हैं। आधिभौतिकों या लोकायतिकों की इस युक्ति का उन पर कोई प्रभाव नहीं कि शरीर या मस्तिष्क के विकृत या नष्ट होने से चेतना भी विकृत या नष्ट होती है क्योंकि उनका पक्ष तो यह है कि मस्तिष्क (अंतःकरण या बुद्ध्यादि जड़ क्रिया) के विकृत या नष्ट होने से केवल वह क्रियाविशेष नष्ट हो जाती है जिसके द्वारा चैतन्य के लक्षण का आभास मिलता है।

जब हैकल आदि कुछ वैज्ञानिक अपने क्षेत्रों से निकल कर ईश्वर, परलोक आदि के खंडन द्वारा ईसाई धर्म पर टूटे तब बहुतों ने अपने मजहब की पौराणिक और स्थूल बातों को किनारे कर हेगल आदि के पूर्णाद्वैतवाद (फिलासफी आव् एब्सोल्यूट) या ब्रह्मवाद की ही शरण ली जिसकी आधिभौतिकों ने हँसी उड़ाई क्योंकि भाववाद में उनके स्थूल ईश्वर, फरिश्तों, दोजख की आग, पितापुत्र आदि के लिये कहीं

ठिकाना नहीं था। कैथलिक संप्रदाय के ईसाइयों ने शुद्ध वाह्यार्थवाद का अवलंबन किया। अधिकांश वैज्ञानिक अपने विषय के बाहर न जा कर संशयवादी रहे, और अब भी हैं। वे चैतन्य और उसकी सत्ता असत्ता के विषय में कुछ कहना नहीं चाहते। डारविन, हक्सले, आदि विकासवाद के प्रतिष्ठाता संशयवादी थे, अनीश्वरवादी नहीं। हर्बर्ट स्पेंसर को भी एक प्रकार का संशयवादी ही कहना चाहिए। पर लार्ड केलविन, सर आलिवर लाज ऐसे कुछ परम प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने लड़ाई में धर्माचार्यों का पूरा साथ दिया है। सर आलिवर लाज इंग्लैंड के प्रधान वैज्ञानिकों में से हैं। वे ईश्वर, परलोक, अमरत्व आदि के मंडन में बराबर दत्तचित रहते हैं। सन् १९१३ में ब्रिटिश असोसिएशन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सर आलिवर लाज ने 'अखंडत्व' पर जो व्याख्यान दिया था उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

'परलोक आदि का पुराना झगड़ा इधर मुल्तवी है। जिस गढ़ में परलोकवादी ने शरण ली है वह आक्रमण के लिये लोगों को आकर्षित नहीं करता। जिस कोने को दबाकर वह बैठा है उस पर उसका पूरा हक है। अब जो झगड़ा चल रहा है वह वैज्ञानिक दलों के बीच है जिसमें दार्शनिकों का भी योग है। परलोकवादी तो अब एक कोने में बैठा दूर से आसरा लगाए देख रहा है कि इस झगड़े से कभी न कभी उसके काम की बात निकल आवेगी। वह बैठा बैठा सोचता है कि बहुत सी बातें जिन्हें लोगों ने उतावली करके अधूरे प्रमाण पर ही झूठ ठहराया था वे किसी न किसी रूप में आगे चलकर ठीक प्रमाणित होंगी। इस प्रकार धर्मोपदेशकों (पादरियों) का पुराना द्वेष तो इधर शांत है।

'भौतिक विद्या में शक्ति पर विवाद चल रहा है। रसायन में अणुओं की बनावट का झगड़ा है। प्राणिविज्ञान में वंशपरंपरा के नियमों की छानबीन है। शिक्षापद्धति में बच्चों को अधिक स्वतंत्रता

देने के लाभ बताए जा रहे हैं। राजनीति, और समाजनीति में तो दुनिया की कौन ऐसी बात है जिस पर वाद न हो—केवल 'धन धरती' पर ही नहीं, अदन के पुराने बाग से लेकर स्त्रीपुरुष के परस्पर संबंध तक पर विवाद छिड़ा हुआ है। इसी प्रकार गणित और विज्ञान की शाखाओं में आजकल का संशयवाद अखंडत्व के संबंध में है।

'इन सब खंडवादों से बढ़कर गूढ़ और तत्वमूलक सब प्रकार के विज्ञानों के आधारों की गहरी परीक्षा है जो आजकल हो रही है। एक प्रकार का दार्शनिक संशयवाद भी बढ़ती पर है जिससे बुद्धि के शुद्ध निरूपण क्रम पर भी अविश्वास किया जा रहा है और विज्ञान की पहुँच भी परिमित बताई जा रही है।

'वैज्ञानिक भी पुराने सिद्धांतों के खंडन में लगे हैं। एक पूरा अन्यूटनिक सिद्धांत ही निकाला गया है जिसके आधार हाल में जाने हुए वे परिवर्तन हैं जो प्रकाश के तुल्य वेग से गमन करते हुए पदार्थों में पाए गए हैं। वास्तव में यह पाया गया है कि परिमाण और आकृति वेग की क्रियाएँ या गुण हैं। जैसे जैसे वेग बढ़ता है वैसे ही वैसे परिमाण बढ़ता है और आकृति में फेरफार होता है, पर साधारण अवस्था में हद से ज्यादा सूक्ष्म रूप में। भौतिक विज्ञान के अधिकांश विभागों में सुगमता के स्थान में जटिलता बढ़ती जाती है। आजकल भौतिक विज्ञान में जो मुख्य विवाद चल रहा है उसका झुकाव खंडत्व और अखंडत्व के विषय में है।

'ऊपर से देखने में सृष्टि के बीच पहले हम खंडत्व पाते हैं अर्थात् हम ऐसे पदार्थ देखते हैं जिन्हें अलग अलग गिन सकते हैं। फिर हम वायु तथा और और अंतरवर्तियों का अनुभव करते हैं और अखंडत्व या प्रवाहित द्रव्य का समर्थन करते हैं। इसके अनंतर हम अणुओं का पता लगाते हैं और फिर खंडत्व हमारे सामने आता है। तब हम ईथर का

पता लगाते हैं और फिर अखंडत्व पर विश्वास करते हैं। पर इसका अंत यहीं नहीं होने का। अंतिम परिणाम क्या निकलेगा, या कुछ निकलेगा भी, यह बताना कठिन है। आजकल की प्रवृत्ति तो प्रत्येक पदार्थ को सखंड या अणुमय बताने की है। विद्युत् या विद्युत्प्रवाह भी—सुनकर आश्चर्य होगा—अणुमय प्रमाणित हुआ है और उसके अणु का नाम विद्युदणु रखा गया है। चुंबकशक्ति तक के अणुमय होने का संदेह किया गया है और उसकी व्यष्टि या अणु का नाम चुंबकाणु रख दिया गया है। प्राणिविज्ञान में घटकरूप में शरीराणुवाद की प्रतिष्ठा थी ही, अब वंशपरंपरा के नियमों का अध्ययन कर मेंडल आदि ने बताया है कि वृद्धिकारक घटकों (शुक्रकीटाणु, गर्भांड) में भी संख्या और खंडत्व प्रत्यक्ष है और संततिभेद भी गिने और पहले से बताए जा सकते हैं। जहाँ डारविन के अनुसार अखंड परंपरागत भेद द्वारा ही ढाँचे में फेरफार माना जाता था वहाँ उसके स्थान पर या कम से कम उसके साथ साथ अब आकस्मिक या आगंतुक रूपांतर द्वारा विशिष्ट, असंबद्ध और परंपराखंडित परिवर्तन माना जाने लगा है। इतने पर भी यह निश्चय है कि अखंडत्व ही विकास सिद्धांत का मूल है। गतिशक्ति तक अणवात्मक बताई जाने लगी है। प्रो० प्लांक का शक्त्यणु (क्वांटम) वाद अत्यंत चित्ताकर्षक—कुछ लोगों की समझ में अत्यंत प्रबल भी—है। ज्योतिःप्रवाह के भी सखंड और अणुमय सिद्ध होने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। ज्योतिःप्रवाह के अणुमय होने की चर्चा अब उतनी धीमी नहीं है जितनी कि कुछ पहले पड़ गई थी। इस बात में यथार्थता चाहे जितनी हो पर ज्योतिःप्रवाह संबंधी जो विवाद है वह है बड़े महत्व का, क्योंकि वह ईथर और द्रव्य के बीच की सबसे अधिक ज्ञात और परीक्षित शृंखला है। ज्योतिःप्रवाह यद्यपि वेगप्रेरित विद्युदणु से ही उत्तेजित होता है पर आगे चलकर वह आकाशतत्व ईथर में ही विचरण करता है और एक विशिष्ट वस्तु की तरह सम तथा नियमित

गति से गमन करता है। इससे ज्योतिःप्रवाह के द्वारा हम बहुत सी बातें जान सकते हैं।

पर लक्ष्यों को हटाने में धैर्य से काम लेना चाहिए। इन लक्ष्यों में सबसे प्रधान अखंडत्व है। मैं शून्य आकाश में किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म भौतिक शक्ति की क्रिया का अनुमान नहीं कर सकता। उसके लिये एक अखंड मध्यस्थ अवश्य चाहिए। ईथर की किसी प्रकार की परीक्षा अत्यंत दुःसाध्य है। उसके विषय में हम केवल इतना ही जानते हैं कि किस वेग से उसके द्वारा शक्तिप्रवाह गमन करते हैं। वह हमारी पकड़ में नहीं आता। यदि हम उसके बीच से कोई द्रव्य तेजी से ले जायँ तो भी कोई पदार्थघटित संबंध नहीं मिलता। प्रकाश को लेकर परीक्षा करते हैं तो भी सफलता नहीं होती। जब तक कि प्रकाश की गति हमारे सापेक्ष है तभी तक हम उसका अनुभव कर सकते हैं। पर जहाँ एक द्रव्य की गति दूसरे के सापेक्ष नहीं है वहाँ उसकी गति का कुछ भी पता नहीं चलता। जैसे यदि दो मनुष्य साथ साथ समान गति से गमन करते हैं तो एक को दूसरे की गति नहीं मालूम हो सकती। इसी से कुछ लोगों का यह विचार हो रहा है कि किसी गति को ईथर के सापेक्ष बताना बात ही बात है। इसका पता कभी लग ही नहीं सकता।

हम लोगों का यह युग अत्यंत सूक्ष्म कल्पनाओं का है। बीसवीं शताब्दी का बड़ा भारी आविष्कार द्रव्य का विद्युत् सिद्धांत (अर्थात् द्रव्य विद्युत् का ही एक रूप है) है। परिमाण और आकार जो वेग की क्रियाएँ निश्चित हुए हैं वह इसी सिद्धांत के बल से। इसकी सहायता से हम उन परीक्षाओं को करते हैं जिससे ईथर और द्रव्य के संबंध का कुछ कुछ आभास मिलता है। इससे किसी दिन यह भी संभव है कि हम विद्युदणुओं की आकृति आदि के परिवर्तनों का भी पता लगा लें क्योंकि यद्यपि वे अत्यंत सूक्ष्म हैं पर उनकी गति प्रकाश की गति के

लगभग है। फिर कौन जाने इसी प्रकार ईथर के गुणों तक हमारी पहुँच हो जाय और अखंडत्व को हम अच्छी तरह समझ सकें।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि अखंडत्व का निर्धारण नाना विशेषों के भीतर एक निर्विशेष का निर्धारण है जिसके द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक स्थिति की संक्षिप्त समीक्षा कर लॉज ने अंत में प्राणशक्ति, आत्मा, अमरत्व, परलोक आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं—

'जो बात निश्चित जान पड़ती है वह यह है कि भूत के बिना प्राणशक्ति की कोई भौतिक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीसे कुछ लोगों का यह कहना या इस कहने को पसंद करना स्वाभाविक ही है कि 'हम भूत में प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की संभावना और सामर्थ्य देखते हैं'। ठीक है, पर प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की नहीं, प्रत्येक प्रकार की प्राणशक्ति की भौतिक अभिव्यक्ति की। क्योंकि प्राणशक्ति हमें भूत द्वारा व्यक्त होने के अतिरिक्त और किस प्रकार व्यक्त हो सकती है? यह भी कहा जाता है कि 'प्राणी में हम रसायन और भूतविज्ञान के नियमों के अतिरिक्त और कुछ पाते ही नहीं'। बहुत ठीक, यह भी स्वाभाविक ही है क्योंकि लोग प्राणशक्ति के भौतिक या रासायनिक रूप या व्यक्तता का तो अध्ययन ही कर रहे हैं, स्वयं प्राणशक्ति का अर्थात् मन और चेतना का अध्ययन तो वे करते नहीं हैं, उनको तो वे अपनी छानबीन के बाहर रखते हैं। भूत ही हमारी इंद्रियों को ग्राह्य है। भूतवाद भौतिक जगत के उपयुक्त है, पर दार्शनिक सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारणपरंपरा के अनुसंधान रूप में। इसके परे जो बातें हैं वे दूसरे क्षेत्र की हैं और दूसरे उपायों से मानी जाती हैं। आध्यात्मिक बातों को रसायन और भूतविज्ञान के शब्दों में बताना असंभव है, इसीसे उनका अस्तित्व ही अस्वीकार

किया जाता है, वे केवल भ्रांतिलक्षण मानी जाती हैं। पर ऐसी अनधिकार मीमासा अनुचित है।

प्राणशक्ति का पता प्रयोगशालाओं में नहीं लगता। केवल उसकी रासायनिक और भौतिक अभिव्यक्ति ही देखी जाती है, पर यह मानना पड़ेगा कि वह एक विशेषरूप से भूतों का परिचालन करती है। उसे हम तटस्थ (केटेलिटिक=जो स्वयं विकारप्राप्त न होकर भी दो रासायनिक द्रव्यों में विकार उत्पन्न करता है) परिचालक कह सकते हैं। प्राणशक्ति के व्यापारों को समझने के लिये हमें सूक्ष्म जीवों की ओर न जाना चाहिए, स्वयं अपने में उसका अधिक व्यक्त आभास समझ अपने ही अनुभवों की ओर ध्यान देना चाहिए।'

जगत् में चारों ओर क्रमव्यवस्था देखते हुए भी लोग जो नित्य चैतन्य का अधिष्ठान रूप से अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, लाज के अनुसार यह उनकी दृष्टि की संकीर्णता है। उन्होंने कहा है—

प्राकृतिक पदार्थों के भीतर एक गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। कट्टर वैज्ञानिक इस विषय में जो बातें बतलाते हैं वे उनकी विद्या की पहुँच के अनुसार ठीक हैं, पर अंशतः। जब हम मोर की पूँछ की चंद्रिकाओं में रंगों का चित्रविचित्र मेल देखते हैं कि किस प्रकार वे अपनी अपनी जगह पर एक निश्चित नमूने और नकशे को भरते हुए बैठे हैं तब यह कहना अत्यंत कठिन हो जाता है कि ऐसी क्रमव्यवस्था के साथ मेल केवल रासायनिक नियमों द्वारा होता है। फूल गर्भाधान के लिए कीड़ों को आकर्षित करते हैं और फल बीजों को फैलाने के लिए जानवरों को। पर इस संबंध में इतनी ही व्याख्या काफी नहीं है। फूलों में इतनी सुंदरता केवल कीड़ों को आकर्षित करने के लिये ही नहीं है। हमें जीवन के लिये जो इतनी हाय हाय रहती है उसे समझना चाहिए। इस प्रयत्न का कोई रहस्य होगा और विकास का

कोई उद्देश्य होगा। 'प्राकृतिक ग्रहण सिद्धांत' जहाँ तक पहुँचता है हेतुनिरूपण करता है। पर यदि इतने सौंदर्य की आवश्यकता कीड़ों के लिये है तो हम बन, पर्वत, मेघमाला आदि के सौंदर्य के लिये क्या कहेंगे? उनके सौंदर्य से कौन सा काम निकलता है, कौन सा लौकिक अर्थसाधन होता है? विज्ञान सौंदर्य का विवेचन नहीं करता न करे, पर उसका अस्तित्व अवश्य है। मैं केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि हमारे अनुसंधान में ब्रह्मांड की सारी बातें नहीं आ जातीं। इससे यदि हम निषेध करने चलते हैं और कहते हैं कि भूतविज्ञान और रसायन के ही अंतर्गत हम सारी बातों को ला सकते हैं तो हम केवल संकीर्ण पांडित्य का दंभ दिखाते हैं और अपने मनुष्यजन्म के अधिकार की पूर्णता और समृद्धि खोते हैं।

विकास परम सत्य है, बड़े महत्व का सिद्धांत है। सामाजिक उन्नति के लिये हमारे प्रयत्न इसलिये उचित हैं कि हम समष्टि के एक अंग हैं, अंग भी ऐसे जो चेतन हो गए हैं। अतः समष्टि में उद्देश्य-विधान का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि हम उसके एक अंग होकर अपने आपमें उसका अनुभव करते हैं।.....शरीरवियोग के उपरांत भी आत्मा बनी रहती है। यदि न्याय से पूछा जाय तो मैं केवल इतना ही नहीं कहता कि जो बातें अभी परोक्षवाद के अंतर्गत समझी जाती हैं वे वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा जाँची और निरूपित की जा सकती हैं बल्कि यहाँ तक कहता हूँ कि जहाँ तक परीक्षा हुई है उससे हमें यही निश्चय हुआ है कि स्मृति और अंतःकरणवृत्तियाँ भूतसंबंध ही तक परिमित नहीं हैं, संस्कार रूप में वे बराबर बनी रहती हैं। परीक्षा द्वारा मुझे यह प्रतीत होता है कि यद्यपि शुद्ध भूतनिर्लिप्त चैतन्य का साक्षात् ज्ञान हमें नहीं हो सकता पर उसका आभास भौतिक जगत् में दिखाई देता है। अतः वह कुछ घुमाव फिराव के साथ हमारी वैज्ञानिक

परीक्षा के अंतर्गत आ सकता है। कुछ सच्चे और विश्वस्त अन्वेषक आशापूर्वक ज्ञान के एक नए क्षेत्र का आभास दे रहे हैं।

यह हम कभी नहीं कह सकते कि इस लोक में सत्य का प्रादुर्भाव केवल दो एक शताब्दियों से ही होने लगा। वैज्ञानिक काल के पूर्व की प्रतिभा की पहुँच भी बड़े महत्व की थी। प्राचीन महात्माओं और कवियों का विश्व की आत्मा के विषय में बहुत कुछ प्रवेश था। हमारी अनुसंधानप्रणाली ऐसी है जिससे किसी अखंड निर्विशेषता का पता नहीं लग सकता। यहाँ पर सापेक्षिकता का सिद्धांत चलता है। इससे जब तक हमें व्याघात या विभेद नहीं मिलता तब तक हमें कोई परिज्ञान नहीं होता। हम लोग अपने चारो ओर की अंतर्व्याप्त विभूति को देख सुन नहीं सकते; इतना ही कर सकते हैं कि कालरूपी करघे से निकलकर पूर्णता की ओर अनंत गति से गमन करते हुए वस्त्र को भूतों से परे उस परमात्मा का परिधान समझें।'

जैसा पहले कहा जा चुका है आज उन थोड़े से वैज्ञानिकों में से हैं जो संशयवाद से निकलकर ईश्वर परलोक आदि के मंडन में तत्पर रहते हैं। योरप और अमेरिका में कुछ दिनों से परोक्षशक्ति के साधक भी खड़े हुए हैं जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ दिखाकर आत्मसत्ता का अस्तित्व प्रतिपादित करने का उद्योग करते हैं। ये मृत पुरुषों की आत्माओं से बातचीत करने, उनके द्वारा अलौकिक घटनाओं के होने का हाल सुनाया करते हैं। इनकी ओर से कई पत्रपत्रिकाएँ भी निकलती हैं। पर इनमें से अधिकतर छल और प्रवंचना का आश्रय लेते हैं इससे शिक्षितों और वैज्ञानिकों की इनपर आस्था नहीं है। बहुतेरे अंतःकरण की असामान्य वृत्तियों या अवस्थाओं (जैसे, दोहरी चेतना आदि) को अपने प्रयोग में लाते हैं। पर इन युक्तियों से शिक्षितों का समाधान नहीं होता।

जैसा कि लाज ने कहा है परलोक, आत्मा आदि के प्रत्याख्यान की ओर वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति इधर कम हो गई है। 'अपने काम से काम' वाली नीति पर वे चल रहे हैं। पर हैकल के संप्रदाय के अनुयायियों और आत्मवादियों के बीच छेड़छाड़ होती रहती है। हैकल की पुस्तक के जिस अँगरेजी भाषांतर का यह हिंदी अनुवाद है वह जोजफ मेककैब का किया हुआ है। इन्होंने हैकल का एक जीवनचरित और हैकल पर किए हुए आक्षेपों के उत्तर में एक पुस्तक भी लिखी है। अभी हाल में एक सभा के बीच इनसे और इंगलैंड के प्रसिद्ध कहानी-लेखक ए० कनन डायल से परलोक आदि विषय पर शास्त्रार्थ हुआ है जो पुस्तकाकार छपा है। ए० कनन डायल पूरे अध्यात्मवादी हैं।

अब तक जो कुछ लिखा गया उससे शिक्षित जगत् के ज्ञान की वर्तमान स्थिति का कुछ आभास मिला होगा और यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाना मतों और मजहबों की विशेष स्थूल बातों को लेकर झगड़ा टंटा करने का समय अब नहीं है। सब मतों और संप्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष के अंतर्गत आ सकता है। ईश्वर साकार है कि निराकार, लंबी दाढ़ी वाला है कि चार हाथवाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से, इन बातों पर विवाद करनेवाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे। इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके संबंध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ (६ दिन में सृष्टि की उत्पत्ति, आदम हौवा का जोड़ा, चौरासी लाख योनि इत्यादि) हैं वे अब ढाल तलवार का काम नहीं दे सकतीं। अब जिन्हें मैदान में जाना हो वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जायँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्य-

वादी। यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गई तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए क्योंकि चैतन्य सर्वस्वरूप है। नाना भेदों में अभेददृष्टि ही सच्ची तत्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्य का अनुभव और मतमतांतर के रागद्वेष का परिहार हो सकता है।

इतिहास से प्रकट है कि आदि में सब देशों के बीच प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों और विभूतियों या उनके भिन्न भिन्न अधीश्वरों की भावना हुई और बहुदेवोपासना प्रचलित हुई। कुछ देशों में 'भेद में अभेद' की तत्वदृष्टि का क्रमशः विकास हुआ और सब देवों की समष्टि के रूप में एक ईश्वर की प्रतिष्ठा हुई। जिन दो देशों में सबसे पूर्व इस प्रकार स्वाभाविक क्रम से एक ब्रह्म की भावना का विकास हुआ वे भारत और बाबुल थे। भारतीय आर्यों के बीच एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना का विकास शुद्ध तत्वदृष्टि से हुआ। पहले प्रकृति की भिन्न भिन्न शक्तियों या विभूतियो की उपासना चली, फिर तत्वदृष्टि से उन सबका एक में समाहार कर के ब्रह्मवाद की स्थापना हुई। संहिताकाल में ही अग्नि, वायु, वरुण, इंद्र आदि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे—

इंद्रं, मित्रं, वरुणामग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद मं १।२।१६४।६४)

उपनिषत्काल में तो एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' 'तत्वमसि' इत्यादि वेदांत के महावाक्यों का पूर्ण रूप से प्रचार हो गया था। ठीक इसी रीति से पृथ्वी पर की अत्यंत प्राचीन खाल्दी जाति के बीच एक ईश्वर की भावना का विकास हुआ था। ईसा से २००० वर्ष पूर्व के बाबुल के एक खेल में वहाँ के भिन्न भिन्न देवता एक ही प्रधान देवता मरदक के भिन्न भिन्न रूप कहे गए हैं। एक नमूना देखिए—

नरगल युद्ध का मरदक है। बेल राजसत्ता का मरदक है।
शम्श धर्म का मरदक है। अदु वर्षा का मरदक है।
नबो व्यापार का मरदक है।

जहाँ एकेश्वरवाद का पहले पहल तत्वदृष्टि द्वारा स्वाभाविक क्रम से विकास हुआ वहाँ तो बहुदेववाद के साथ उसका पूरा समन्वय रहा और किसी प्रकार के द्वेष, कलह और उपद्रव का सूत्रपात नहीं हुआ, पर जहाँ उसका कलम लगाया गया वहाँ आफत खड़ी हो गई। उपदेश देने में अधिकारियों का भेद इसीलिये किया जाता है। जब तक अंतःकरणविकास द्वारा जिस ज्ञान का जो अधिकारी नहीं हो लेता तब तक न वह उसे पूरा पूरा ग्रहण ही कर सकता है, और न अधूरा ग्रहण करके पचा ही सकता है। बाबुल के इस एकेश्वरवाद की कुछ खबर यहूदियों को लगी। फिर क्या था, दर्शनविज्ञानविहीन पुराने यहूदियों की एक शाखा को अपने कुलदेवता 'यहोवा' को दूसरी जातियों के देवताओं से बड़ा प्रकट करने की धुन समाई। जैसे लड़के एक दूसरे से अभिमान के साथ कहते हैं कि हमारा खिलौना तुम्हारे खिलौने से अच्छा है वैसे ही अपने देवता को लेकर वे कहने लगे। पहले यह 'यहोवा' साधारण कुलदेवता था जिसे इसराईल के वंशवाले बलि चढ़ाया करते थे। इसकी शक्ति और इसका ज्ञान बहुत परिमित था। जब मिस्रदेश के राजा ने इसराईलवंशवालों को बहुत सताया तब उन्होंने अपने कुलदेवता की दुहाई दी। यहोवा ने कहा 'अच्छा, आज रात को मैं मिस्रियों का नाश करूँगा। पर एक काम करना, बलिदान करके पहचान के लिये रक्त का छापा अपने दरवाजों पर लगा देना, जिसमें उन घरों को मैं बचा जाऊँ। पीछे मूसा की कृपा से यही 'यहोवा' जमीन और आसमान का बनानेवाला खुदा हो गया। मूसाई मत से ही ईसाई मत निकला। यहूदियों और ईसाइयों को इस प्रकार द्वेषवश दूसरी जातियों की निंदा करने तथा उन्हें पापी और

धर्मविमुख कहने का अवसर मिला। ज्ञान की असंस्कृत दशा में मनुष्य ऐसे अवसरों को हाथ से नहीं जाने देना चाहता। दूसरी जातियों के जो आचार व्यवहार और उपासनाविधान (जैसे, मूर्तिपूजन) थे आसमानी किताब में वे पापों की सूची में डाल दिए गए। इस प्रकार अंतःकरण की इन वृत्तियों से प्रेरित होकर एशिया के पच्छिमी कोने पर जिस एकेश्वरवाद की स्थापना हुई उसके कारण बड़े बड़े अनर्थ संसार में हुए। अरब में पहुँचकर उसने जो रूप धारण किया उसका साक्षी इतिहास है।

उपर्युक्त तीनों अनार्य (शामी) पैगंबरी मतों में एक ईश्वर की जो प्रतिष्ठा हुई वह तत्वचिंतन के उपरांत नहीं, अतः उसमें उस व्यापकत्व का अभाव रहा जो उदार दृष्टि के लिए आवश्यक है। बहुदेवोपासना में जो उदार भाव था वह इस एकेश्वरोपासन में जाता रहा। बहुदेवोपासक जगत् में अनेक देवता मानते थे इससे दूसरी जातियों को अपने से भिन्न देवताओं की उपासना करते देख वे द्वेष नहीं मानते थे। दूसरी जाति के देवताओं को ग्रहण करने या अपने देवताओं का नामांतर समझने तक के लिए वे तैयार रहते थे।[1] पर जिन जातियों के बीच इस पैगंबरी एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ वे एक ईश्वर को अपना अलग देवता मानने लगीं जिसका परिचय यदि किसी को हो सकता था तो

१. यूनानी लोग जब पहले पहल भारतवर्ष में आए तब उन्होंने शिव, विष्णु आदि देवताओं को अपने ज्युपिटर, हर्क्युलीज आदि देवताओं के ही रूपांतर समझा। सभ्य और तत्वज्ञानसंपन्न होने के कारण उनके भाव उदार थे। ईसा से १४० वर्ष पूर्व के तक्षशिला के यूनानी राजा अंटियालिकिडस के राजदूत हेलिओडोरस ने, जो विदिशा के हिंदू राजा के यहाँ रहता था, वासुदेव प्रीत्यर्थ एक विशाल गरुड़स्तंभ बनवाया था जो अभी थोड़े दिन हुए बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में मिला था। उसकी इस विष्णुभक्ति की निंदा किसी यूनानी लेखक ने नहीं की है।

उन्हीं के पैगंबरों द्वारा। प्रत्येक पैगंबरी मत के ईश्वर के साथ साथ एक एक पैगंबर लगा हुआ है जिसे मानना उस एक ईश्वर के मानने से कम आवश्यक नहीं है।

इस पैगंबरी एकेश्वरवाद के पहले संसार में मतसंबंधी युद्ध नहीं होते थे। भारतीय आर्य, पारसी, खाल्दी, मिस्री, यूनानी और रोमन इत्यादि जो ज्ञानसमृद्ध और सभ्य बहुदेवोपासक जातियाँ थीं उनके बीच कभी इस बात को लेकर युद्ध नहीं हुआ कि हमारा देवता तुम्हारे देवता से बड़ा है, तुम हमारे देवता को मानो। योरप में साहित्य, दर्शन, विज्ञान और शासनकला की जो इतनी उन्नति हुई वह बहुदेवोपासक प्राचीन यूनानियों और रोमनों के प्रसाद से, अनार्य ईसाई मत के प्रसाद से नहीं। ईसाई मत के द्वारा, सच पूछिए, तो ज्ञान की गति में बाधा ही पड़ती रही। संकीर्ण नींव पर पैगंबरी मतों की स्थापना होने के कारण उनके अनुयायियों में व्यापक उदारता का अभाव रहा। उनकी समझ में उन्हें छोड़ और सारे संसार के लोग उनके खुदा के दुश्मन थे। अँगरेज कवि अंधे मिल्टन तक ने प्राचीन सभ्य जातियों के देवताओं को शैतान की फौज में भरती करके अपने कट्टरपन का—अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति का—परिचय दिया है। उसने यह न सोचा कि ईसाई मत के प्रचार के बहुत पूर्व सभ्य मनुष्य जातियों में धर्म, शील और आचार के अत्यंत उच्च आदर्श प्रतिष्ठित थे।

भारतीय आर्यों के बीच उपनिषत्काल में ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँच गई थी इससे उसके स्थूल निरूपण से भी किसी प्रकार का विप्लव नहीं हुआ। केनोपनिषद् में ब्रह्म के बोध के संबंध में एक गाथा है जो शायद ईसाई उपदेशकों को बहुत पसंद आवे। एक बार एक बड़ा भारी यक्ष प्रकट हुआ। इंद्र ने अग्नि को उसका परिचय जानने के लिए भेजा। अग्नि से उस यक्ष ने पूछा 'तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है?' अग्नि ने कहा 'मैं अग्नि हूँ, यदि चाहूँ तो क्षण

भर में सब लोकों को भस्म कर सकता हूँ।' यक्ष ने एक तिनका दिखा दिया और कहा—'इसे तो भस्म करो'। अग्नि ने बहुत यत्न किया पर वह तिनका न जला, ज्यों का त्यों रहा। फिर वायुदेवता उस यक्ष के पास गए। यक्ष ने पूछा 'तुम कौन हो और तुम्हारी शक्ति क्या है?' वायु ने कहा—'मैं वायु हूँ, यदि चाहूँ तो क्षण भर में सब कुछ उड़ा सकता हूँ' यक्ष ने वायु को भी वही तिनका दिखाकर कहा 'इसे तो उड़ाओ'। वायु ने बहुत वेग दिखाया पर वह तिनका जगह से न हटा। अंत में इंद्र आप वहाँ गए, पर उनके जाते ही यक्ष अंतर्द्धान हो गया। इतने में वहाँ 'उमा हैमवती' प्रकट हुई। उन्होंने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था।

ब्रह्म या ईश्वर की इस स्थूल भावना से भी यहाँ किसी प्रकार का मतोन्माद नहीं उत्पन्न हुआ। बात यह थी कि जब आर्यजाति सम्यक् तत्वदृष्टि प्राप्त कर चुकी तब आगे चल कर 'एक' और 'अनेक' को लेकर झगड़ा करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही। अधिकाभेद से एक और अनेक की उपासना साथ साथ बराबर चलती रही। एक ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर भी अनेक देवताओं के निमित्त यज्ञादि होते रहे, बंद नहीं हो गए। अनेकत्व और एकत्व के बीच इस अविराधबुद्धि ने हिंदूधर्म के क्षेत्र को आरंभ ही से ऐसा अपरिमित रखा कि वह व्यक्तिबद्ध न होने पाया, उसमें वह संकीर्णता न आने पाई जो व्यक्ति विशेष के आश्रित पैगंबरी मतों में देखी जाती है। कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कांडों के परस्पर संबद्ध होने से जिस प्रकार एक में ऊँची नीची श्रेणियाँ मानी गईं उसी प्रकार दूसरे में भी। एक सत्य से दूसरे, दूसरे से तीसरे, इस प्रकार छोटे से बड़े, फिर उससे बड़े सत्य की अखंड परंपरा स्वीकृत की गई। इंगलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने भी यही कहा है कि कोई मत कैसा ही हो उसमें कुछ न कुछ सत्य का अंश रहता है। भूतप्रेतवाद से

लेकर बड़े दार्शनिक वादों तक सब में एक बात समान रूप से देखी जाती है सब के सब संसार का मूल कोई अज्ञेय और अप्रमेय रहस्य समझते हैं जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है, पर कर नहीं सकता। इसी बात पर दृष्टि रखने से हिंदुओं को दूसरी जातियों से अनाचार और अस्वच्छता (अशौच) आदि के कारण चाहे कुछ घृणा रही हो, पर अन्य देवता की उपासना के कारण द्वेष रखने की प्रवृत्ति नहीं हुई। श्रीकृष्ण भगवान् का स्पष्ट कहना है कि येऽप्यन्य देवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः। तेऽपिमामेव, कौन्तेय, यजंत्यविधिपूर्वकम्। केवल 'अविधि पूर्वकम्' के लिए मारकाट की कोई जरूरत नहीं समझी गई।

प्राचीन आर्य (भारतीय) धर्म में धर्माधर्म ईश्वर की किसी विशेष रूप में भावना या किसी देवता विशेष की आराधना पर नहीं ठहराया गया। वेदव्यास जी ने अत्यंत उदार भाव से कहा है कि धर्मात्मा पुरुष वर्णाश्रमधर्म (आर्य या हिंदूधर्म) के बाहर भी हैं। उन्होंने आर्यधर्म को न जानने या न माननेवाली विदेशी जातियों को धर्मशून्य नहीं बताया। श्रीकृष्ण ने कहा है— 'ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। यही कारण है प्राचीन आर्यों को अपना आचार और अपना विचार दूसरों के गले मढ़ने की उत्कंठा नहीं हुई। देशकाल के अनुसार जहाँ जो धर्मव्यवस्था स्थापित थी वहाँ के लिए वे उसी को उपयुक्त समझते थे। उपनिषत्काल में एक ईश्वर या ब्रह्म की भावना परिपक्व होकर पूर्णरूप से जब प्रतिष्ठित हुई तब तक भूमंडल पर शायद बाबुल को छोड़ और कहीं नहीं हुई थी। पर उस एक ईश्वर या ब्रह्म को लेकर प्राचीन आर्य दूसरी सभ्य या असभ्य जातियों का गला काटने के लिए नहीं दौड़े थे। उन्हें यह पूर्ण ज्ञान था कि यह 'एक' 'अनेक' की समष्टि है अथवा 'अनेक' इस 'एक' के ही आभास हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है 'भेदों में अभेद' दृष्टि ही सच्ची तत्वदृष्टि है। इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है। यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है। विज्ञान इसी अभेद की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।

रामचंद्र शुक्ल।

———

विश्वप्रपंच

पहला प्रकरण

जिज्ञासा

१६ वीं शताब्दी के अंत में मानवज्ञान की जो अपूर्व वृद्धि हुई है वह ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा हमारी सारी आधुनिक सभ्यता का रंग ही पलट गया है। हमलोगों ने प्राकृतिक सृष्टि का बहुत कुछ वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर केवल सच्चे और निर्भ्रांत सिद्धांत ही नहीं स्थिर किए हैं बल्कि अपने ज्ञान का विलक्षण उपयोग कलाकौशल, व्यापार, व्यवसाय आदि में करके दिखाया है। पर इस ज्ञान के द्वारा हम अपने आचार और व्यवहार में बहुत कम क्या कुछ भी उन्नति नहीं कर सके हैं। इस प्रकार की परस्परविरुद्ध गति के कारण हमारे जीवन में बड़ी भारी अव्यवस्था दिखाई पड़ती है जो आगे चलकर समाज के लिये अनर्थकारिणी होगी। अतः प्रत्येक शिक्षित और सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मानव जीवन से इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न करे। यह तभी होगा जब संसार का वास्तविक और सत्य ज्ञान होगा और उस ज्ञान के अनुसार मानवजीवन के भिन्न भिन्न अंगों की योजना होगी।

१६ वीं शताब्दी के आरंभ में विज्ञान की जो अपूर्ण दशा थी उसकी ओर ध्यान देते हुए यही कहना होगा कि गत ५० वर्षों के बीच विज्ञान ने बड़ी विलक्षण उन्नति की है, विज्ञान के प्रत्येक विभाग में बहुत सी नई नई बातों की जानकारी प्राप्त हुई है। खुर्दबीन के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का और दूरबीन के द्वारा बड़ी से बड़ी वस्तुओं का जो परिज्ञान प्राप्त हुआ है वह आज से सौ वर्ष पहले

असंभव समझा जाता था। सूक्ष्मदर्शकयंत्र के प्रयोग और प्राणिविज्ञान के गूढ़ अन्वेषणों द्वारा क्षुद्र कीटाणुओं के अनंत भेदों का ही पता नहीं चला बल्कि यह भी जाना गया कि सूक्ष्म घटक[1] ही में सेंद्रिय या सजीव सृष्टि का वह मूल तत्व है जिसकी सामाजिक योजना से सारे प्राणियों का, क्या चर क्या अचर, क्या उद्भिज क्या मनुष्य, शरीर बना है। शरीर विज्ञान के द्वारा अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि एक ही घटक से अर्थात् सूक्ष्म गर्भांड से बड़े से बड़े अनेकघटक जीवों का विकास होता है। घटक सिद्धांत के द्वारा हम अब जीवों के उन समस्त आधिभौतिक, रासायनिक और यहाँ तक कि मानसिक व्यापारों का सच्चा रहस्य जान सकते हैं जिनके लिये पहले एक 'अलौकिक शक्ति' या 'अमर आत्मा' की कल्पना करनी पड़ती थी। इस सिद्धांत के द्वारा रोगों के ठीक निदान में भी चिकित्सकों को बड़ी सहायता मिली है।

इसी प्रकार निरिंद्रिय (जड़) भौतिक सृष्टिसंबंधी आविष्कार भी कम ध्यान देने योग्य नहीं है। दृष्टिविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, चुंबकाकर्षण निर्माणविज्ञान जिसके द्वारा अनेक प्रकार की कलें आदि बनती हैं, गतिशक्तिविज्ञान इत्यादि भौतिक विज्ञान की सब शाखाओं की अद्भुत उन्नति हुई है। सब से बड़ी बात जो विज्ञान ने सिद्ध की है वह अखिल विश्व की शक्तियों की एकता है। तापसंबंधी भौतिक सिद्धांत ने स्थिर कर दिया है कि वे समस्त शक्तियाँ किस प्रकार एक दूसरे से संबंध हैं और किस प्रकार एक शक्ति दूसरी शक्ति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। किरणविश्लेषण[2] विद्या ने यह बात स्पष्ट कर

---

१. दे० भूमिका।

२. स्पेक्ट्रास्कोप नामक यंत्र से भिन्न भिन्न प्रकार के किरणों (जैसे सूर्य की, लपट की) परीक्षा की जाती है। किरणों की छोटाई, बड़ाई और रंग से यह जाना जा सकता है कि किस प्रकार के रासायनिक द्रव्यों से वे आ रही हैं।

दी है कि जिन द्रव्यों से पृथ्वी पर के सारे पदार्थ बने हैं उन्हीं द्रव्यों से ग्रह, नक्षत्र, सूर्य आदि भी बने हैं, उनमें पृथ्वी से परे कोई द्रव्य नहीं है। ज्योतिर्विज्ञान ने हमारी दृष्टि को ब्रह्मांड के बीच बहुत कुछ फैला दिया है और अब हमें अगाध अंतरिक्ष के बीच लाखों घूमते हुए पिंडों का पता है जो हमारी पृथ्वी से भी बड़े हैं और एक अखंड क्रम के साथ बनते बिगड़ते चले जा रहे हैं। रसायनशास्त्र ने हमें अनेक द्रव्यों का परिज्ञान कराया है जो सबके सब थोड़े से, लगभग ७५ मूलद्रव्यों से बने हैं। ये मूलद्रव्य इसलिये कहलाते हैं कि विश्लेषण करने पर इनमें दूसरे द्रव्य का मेल नहीं पाया जाता। इन मूलद्रव्यों में से कोई कोई जीवन व्यापार में बड़े काम के हैं। इनमें से कारबन या अंगारतत्व (कोयला) ही से अनंत प्रकार के सेंद्रिय पिंडों की योजना होती है। इसी से इसे 'जीवन का रासायनिक आधार' कहते हैं। इन सब से बढ़कर आधिभौतिक शास्त्र के एक परम गुण का प्रतिपादन है जिसके अंतर्भूत समस्त भौतिक और रासायनिक गुण हैं। सृष्टि संबंधी इस मूल सिद्धांत द्वारा यह स्थिर हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति (गति) दोनों नित्य हैं और संपूर्ण ब्रह्मांड में सदा एकरस रहते हैं। यही सिद्धांत हमारे तत्वाद्वैतवाद का आधार है जिसके द्वारा हम सृष्टिरहस्य के उद्घाटन में प्रवृत्त हो सकते हैं।

इस परमतत्व के प्रतिपादन के साथ ही साथ इसका पोषक एक दूसरा आविष्कार भी हुआ जिसे विकासवाद कहते हैं। यद्यपि हजारों वर्ष पहले कुछ दार्शनिकों ने पदार्थों के विकास की चर्चा की थी, पर यह जगत् 'परमतत्व के विकास' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यह उन्नीसवीं शताब्दी में ही पूर्णरूप से स्थिर किया गया। उक्त शताब्दी के पिछले भाग में ही यह सिद्धांत स्पष्टता और पूर्णता को पहुँचा। इसके नियमों को प्रत्यक्ष के आधार पर स्थिर करने और संपूर्ण सृष्टि में इसकी चरितार्थता दिखाने का यश डारविन को प्राप्त है। सन् १८५९

में उसने मनुष्य की उत्पत्ति के उस सिद्धांत को एक दृढ़ नींव पर ठहराया जिसका ढाँचा कुछ कुछ फरासीसी प्राणिवेत्ता 'लामार्क' ने खड़ा किया था और जिसका आभास भविष्यद्वाणी के समान जर्मनी के सबसे बड़े कवि गेटे ने सन् १७९९ में दिया था। आज जो हम इस विकासक्रम को तथा सृष्टि के बीच समस्त प्राकृतिक व्यापारों को समझने में समर्थ हुए हैं वह इन्हीं तीन नररत्नों के प्रयत्न का फल है।

प्रकृति के इस परिज्ञान के बल से हमारे जीवन के व्यवहारों में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ है। आज रेल, तार, टेलीफोन आदि के द्वारा हमने जो दिक्काल संबंधी बाधाओं को दूर किया है और भूमंडल के समस्त देशों के बीच व्यापार का जाल फैला कर 'व्यापार-युग' उपस्थित किया है, यह सब भौतिक विज्ञान की उन्नति का, विशेषतः भाप और बिजली की शक्ति के प्रयोग का, प्रसाद है। इसी प्रकार जब फोटोग्राफी द्वारा बात की बात में हम वस्तुओं का तद्रूप चित्र उतरते, कृषि आदि व्यवसायों की इतनी उन्नति होते और क्लोरोफार्म, मरफिया आदि के प्रयोग द्वारा पीड़ा को शमन होते देखते हैं तब हमें रसायन शास्त्र की उन्नति के महत्व का ध्यान होता है। पर प्राचीन काल की अपेक्षा हमने इस वर्तमान काल में वैज्ञानिक विषयों में कितनी उन्नति की है यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि अधिक विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं।

पर जिस प्रकार हमें आजकल के प्रकृति संबंधी परिज्ञान की उन्नति को देख गर्व और आनंद होता है उसी प्रकार जीवन के कुछ बड़े बड़े विभागों की दशा देख खेद और संताप होता है। हमारी शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और शिक्षा पद्धति, यहाँ तक कि हमारे सारे सामाजिक और आचारसंबंधी व्यवहार, अभी तक असभ्य दशा में हैं। न्याय ही को लीजिए जिसे देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमारे सृष्टि और मनुष्य संबंधी वर्तमान समुन्नत

ज्ञान के उपयुक्त है। नित्य अदालतों में ऐसे ऐसे विलक्षण फैसले होते हैं जिन्हें सुन कर अफसोस आता है। न्यायधीशों की भूलें अधिकतर इस कारण होती हैं कि ये अच्छी तरह तैयार नहीं रहते। उनकी ठीक शिक्षा नहीं होती। कानून की शिक्षा ही उनकी शिक्षा कहलाती है। पर यह शिक्षा कुछ पारिभाषिक शब्दों और कुछ लोगों के बनाए हुए नियमों की उद्धरणी के अतिरिक्त और है क्या ? न तो वे शरीरतत्व को जानते हैं और न उसके उन व्यापारों को जिसे 'मन' कहते हैं। उन्हें यह सब जानने के लिये समय कहाँ ? उनका समय तो इधर उधर की बातों तथा नजीरों को याद करने में जाता है।

शासन व्यवस्था पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसकी वर्तमान शोचनीय दशा सब पर विदित है। इस दशा का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान शासकवर्ग के लोग उन सामाजिक संबंधों से अनभिज्ञ होते हैं जिनके मूल रूपों का पता जंतुविज्ञान, विकासवाद, घटकवाद तथा कीटाणुवाद के अध्ययन द्वारा मिलता है। राष्ट्ररूपी समाजशरीर के संघटन और जीवन का ठीक ठीक ज्ञान हमें तभी हो सकता है जब हम उन शक्तियों के संघटन और व्यापार का जिनसे वह बना है, तथा उन घटकों का जिनसे कि प्रत्येक व्यक्ति बना है, वैज्ञानिक परिज्ञान प्राप्त करें। दूसरा बुरा प्रभाव जो शासन संस्थाओं की उन्नति का बाधक है वह मत या मजहब का है। जब तक वैज्ञानिक शिक्षा के प्रचार द्वारा मनुष्य और जगत् की प्राकृतिक स्थिति का परिज्ञान सर्वसाधारण को न कराया जायगा तब तक शासन में उन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र चाहे एकतंत्र हो चाहे लोकतंत्र (पंचायती), शासन व्यवस्था चाहे नियंत्रित हो चाहे अनियंत्रित इसकी कोई बात नहीं।

सर्वसाधारण की शिक्षा की ओर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि उसकी दशा भी हमारे इस वैज्ञानिक उन्नति के युग के अनुकूल नहीं

है। भौतिक विज्ञान, जो कि इतने महत्व का है, यदि स्कूलों में पढ़ाया भी जाता है तो गौण रूप से। प्रायः प्रधान स्थान उन मृतप्राय भाषाओं और पुरानी बातों की शिक्षा को दिया जाता है जिनसे अब कोई लाभ नहीं। सारांश यह कि इस बात का जैसा चाहिए वैसा प्रयत्न नहीं हो रहा है कि जनता से अंधविश्वास दूर हो और लोगों को बुद्धिबल द्वारा सुख और उन्नति का पथ प्राप्त करने का अवसर मिले। सर्वसाधारण अभी उन्हीं पुराने विचारों में बद्ध रक्खे गए हैं जिनकी निःसारता भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है। पुराने किस्सेकहानियों और आकाशवाणियों के आगे बुद्धि का कुछ जोर चलने नहीं पाता। क्या धर्म, क्या न्याय, सब इन पुराने बंधनों से जकड़े हुए हैं।

उपर्युक्त अव्यवस्था के प्रधान कारणों में से एक वह है जिसे हम 'पुरुषवाद' कह सकते हैं। इस शब्द के अंतर्गत वे समस्त लोकप्रचलित और प्रबल भ्रांत मत हैं जो मनुष्य को संपूर्ण प्रकृति से एक ओर करके उसे चर सृष्टि का दैवनिश्चित परम लक्ष्य बतलाते हैं। इन विचारों के अनुसार मनुष्य संपूर्ण सृष्टि से परे और ईश्वरांश है। यदि इन विचारों की अच्छी तरह परीक्षा करें तो जान पड़ेगा कि ये तीन रूपों में संसार में पाए जाते हैं—पुरुषोत्कर्षवाद; पुरुषाकारवाद और पुरुषार्चनवाद।

(१) पुरुषोत्कर्षवाद का भाव यह है कि मनुष्य सृष्टि का दैवनिश्चित परम लक्ष्य है, वह आदि ही से बड़ा बनाकर भेजा गया है। यह भ्रांति मनुष्य के स्वार्थ के अनुकूल है और तीनों शामी पैगंबरी मतों यहूदी, ईसाई और मुसलमान की सृष्टिकथा से संबंध रखती है अतः इसका प्रचार भूमंडल के बहुत बड़े भाग में है।

(२) पुरुषाकारवाद भी इन तीनों तथा और अनेक मतों से संबंध रखता है। यह जगत् की सृष्टि और परिचालन को एक चतुर

कारीगर की रचना और एक बुद्धिमान् राजा के शासन के सदृश बतलाता है इसके अनुसार पृथ्वी को बनाने, धारण करने और चलानेवाला ईश्वर मनुष्य ही की तरह विचार और काम करनेवाला है। फिर तो बनी बनाई बात है कि मनुष्य ईश्वर सदृश है। बाइबिल में लिखा है—'ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही आकार का बनाया'। प्राचीन सीधे सादे देववाद में देवता मनुष्य ही की तरह रक्त मांस के शरीरवाले समझे जाते थे। प्राचीन देववाद तो किसी प्रकार समझ में आ भी सकता है, पर आज कल का निराकार ईश्वरवाद विलक्षण है जिसमें ईश्वर को एक ऐसा अगोचर या हवाई जंतु मानकर आराधना की जाती है जो मनुष्यों की तरह विचार करता, बोलता और काम करता है।

(३) पुरुषार्चनवाद भी मनुष्य और ईश्वर के व्यापारों के मिलान का फल है। यह मनुष्य में ईश्वरत्व के गुण का आरोप करता है। इसी से आत्मा के अमरत्व का विश्वास उत्पन्न हुआ है और मनुष्य के जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) दो विभाग किए गए हैं। अब जनसाधारण की यह सनक है कि आत्मा इस नश्वर शरीर में थोड़े दिनों का मेहमान है।

इन तीनों प्रचलित प्रवादों से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हुए हैं। जगत् को इस प्रकार मानव व्यापार की दृष्टि से देखना हमारे तत्वाद्वैत सिद्धांत के नितांत विरुद्ध है और विश्वसंबंधी वैज्ञानिक विवेचन से सर्वथा असिद्ध है।

इसी प्रकार द्वैतवाद, जो आत्मा और शरीर अथवा द्रव्य और शक्ति को पृथक मानता है तथा प्रचलित मतों (मजहबों) के और और विचार भी तत्वाद्वैतवाद की विश्वविज्ञान दृष्टि से निःसार ठहरते हैं। उक्त दृष्टि से यदि देखते हैं तो हम निम्नलिखित सिद्धांतों पर

पहुँचते हैं जिनमें से अधिक की आलोचना सम्यक् रूप से हो चुकी है—

(१) जगत् नित्य, अनादि और अनंत है।

(२) इसका परमतत्व अपने दोनों रूपों, द्रव्य और शक्ति के सहित अनंत दिक् में व्याप्त है और सदा गति में रहता है।

(३) मूल गति का प्रवाह अनंत काल के मध्य अखंड क्रम से चला करता है। इसमें कहीं सृष्टि से विकृति, कहीं विकृति से सृष्टि बराबर होती रहती है।

(४) दिग्व्यापी आकाश द्रव्य (ईथर) के बीच जो असंख्य पिंड फैले हैं वे सब के सब परमतत्व के नियमों के अनुसार चलते हैं। यदि एक दिग्विभाग के कुछ घूमते हुए पिंड क्रमशः नाश या लय की ओर जाते हैं तो दूसरे दिग्विभाग में क्रमशः नए नए उत्पन्न होते और बनते हैं। यह क्रम सदा चलता रहता है।

(५) हमारा सूर्य इन्हीं असंख्य नश्वर पिंडों में से एक है और हमारी पृथ्वी उन और भी अल्पकालस्थायी छोटे छोटे पिंडों में से है जो इन्हें घेरे हैं।

(६) हमारी पृथ्वी को ठंढा होने में बहुत काल लगा है तब जाकर उस पर द्रव रूप में जल (जीवोत्पत्ति का पहला आधार) ठहरा है।

(७) एक प्रकार के मूल जीव से क्रमशः असंख्य ढाँचे के जीवों के उत्पन्न होने में करोड़ों वर्ष का समय लगा है।

(८) इस जीवोत्पत्ति परंपरा के पिछले खेवे में जितने जीव उत्पन्न हुए, रीढ़वाले जंतु, विकास या गुणोत्कर्ष द्वारा उन सबसे बढ़ गए।

(९) पीछे इन रीढ़वाले जीवों की सबसे प्रधान शाखा दूध पिलानेवाले जीव कुछ जलचरों और सरीसृपों से उत्पन्न हुए।

(१०) इन दूध पिलानेवाले जीवों में सबसे उन्नत और पूर्णता-प्राप्त किंपुरुष शाखा है, जिसके अंतर्गत मनुष्य, बनमानुस आदि हैं; जो लगभग ३० लाख वर्ष के हुए होंगे कि कुछ जरायुज जंतुओं से उत्पन्न हुई।

(११) इस किंपुरुष शाखा का सबसे नया और पूर्ण कलला मनुष्य है, जो कई लाख वर्ष हुए कुछ बनमानुसों से निकला। अस्तु।

(१२) जिसे हम संसार का इतिहास कहते हैं और जो कुछ हजार वर्षों की सभ्यता का संक्षिप्त वृत्तांत मात्र है वह इस दीर्घ परंपरा के आगे कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार इस दीर्घ परंपरा का इतिहास भी हमारे सौर जगत् के इतिहास का अत्यंत क्षुद्र अंश है। इस अनंत ब्रह्मांड के बीच हमारी पृथ्वी सूर्य की किरण में दिखाई देनेवाले अणु के समान है और मनुष्य सजीव सृष्टि के नश्वर प्रसार के बीच कललरस प्रोटोप्लाज्म की एक क्षुद्र कणिका मात्र है।

इस विशुद्ध और विस्तृत वैज्ञानिक दृष्टि से जब हम ब्रह्मांड को देखेंगे तब जाकर विश्व के अनेक रहस्यों को समझने का मार्ग पावेंगे, तब जाकर हम समझेंगे कि मनुष्य का स्थान इस सृष्टि के बीच कहाँ है। मनुष्य अहंकारवश अपने को अखिल सृष्टि से अलग करके अपने में 'अमृत तत्व' का आरोप करता है। वह अपने को 'ईश्वरांश' और अपने क्षणिक व्यक्तित्व को 'अमर आत्मा' कहता है। यह अहंकार और भ्रम बिना विस्तृत विज्ञानदृष्टि के दूर नहीं हो सकता।

असभ्यों को सृष्टि के अनेक व्यापार पहेली समझ पड़ते हैं। ज्यों ज्यों सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों इन पहेलियों या समस्याओं की संख्या घटती जाती है, बहुत से व्यापार समझ में

आने लगते हैं। अब तत्वाद्वैतवाद में केवल एक ही भारी पहेली रह गई है, एक ही 'परमतत्व' की समस्या रह गई है। जर्मनी के एक वक्ता ने थोड़े दिन हुए संसार संबंधी ये सात समस्याएँ गिनाई थीं—

(१) द्रव्य और शक्ति का वास्तविक तत्व।
(२) गति का मूल कारण।
(३) जीवन का मूल कारण।
(४) सृष्टि का इस कौशल के साथ क्रमविधान।
(५) संवेदना और चेतना का मूल कारण।
(६) विचार और उससे संबद्ध वाणी की शक्ति।
(७) इच्छा का स्वातंत्र्य।

इनमें से पहली दूसरी और पाँचवीं तो उस वक्ता की समझ में नितांत अज्ञेय और भूतादि से परे हैं। तीसरी, चौथी और छठीं का समाधान हो सकता है पर अत्यंत कठिन है। सातवीं के विषय में वह अपना कोई निश्चय नहीं बतला सका।

मेरी संमति में जो तीन समस्याएँ भूतों से परे कही गई हैं उनका समाधान हमारे परमतत्व विषयक विवेचना से हो जाता है[1] और जो तीन अत्यंत कठिन बतलाई गई हैं उनका ठीक ठीक उत्तर आधुनिक विकासवाद से मिल जाता है। अब रहीं सातवीं, इच्छा की स्वतंत्रता। उसके विषय में विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि वह शुद्ध भ्रम और मिथ्या प्रवाद मात्र है।

इन समस्याओं के समाधान के लिये हमने उसी प्रणाली का अनुसरण किया है जिससे और सब वैज्ञानिक अन्वेषण किए जाते हैं—प्रथम तो प्रत्यक्षानुभव, फिर अनुमान। वैज्ञानिक अनुभव हमें साक्षात्कार और परीक्षा द्वारा प्राप्त होता है जिसमें पहले तो इंद्रियों के व्यापार

१. दे० प्रकरण १२ बाँ।

से सहायता ली जाती है फिर मस्तिष्क में स्थित अंतःकरण के व्यापार से। पहले के आधारभूत सूक्ष्म करण इंद्रियघटक हैं और दूसरे के मस्तिष्क ग्रंथिघटक। बाह्य जगत् के जो अनुभव हम इन करणों द्वारा प्राप्त करते हैं उनसे मस्तिष्क के दूसरे भाग में भाव बनते हैं जो अनुबंध द्वारा मिलकर शृंखला को योजना करते हैं। इस विचारशृंखला की योजना दो प्रकार से होती है—व्याप्तिग्रह अर्थात् यह अनुमान कि जो बात किसी वर्ग की कुछ वस्तुओं के विषय में ठीक है वही उसके अंतर्गत सब वस्तुओं के विषय में भी ठीक है, और व्यष्टिग्रह अर्थात् यह अनुमान कि जो बात किसी समूह के विषय में ठीक है वही उसके अंतर्गत किसी एक वस्तु के विषय में भी ठीक है, के रूप में। चेतना, विचार और तर्क आदि सब मस्तिष्क में स्थित ग्रंथिघटकों के व्यापार हैं। इन सब व्यापारों का अंतर्भाव 'बुद्धि' शब्द में हो जाता है।

बुद्धि ही के द्वारा हम संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसकी समस्याओं को समझ सकते हैं। बुद्धि मनुष्य की बड़ी भारी संपत्ति है, मनुष्य और पशु में बुद्धि ही का भेद है। पर मानव-बुद्धि इस पद को शिक्षा और संस्कार की उन्नति तथा ज्ञान की वृद्धि द्वारा पहुँची है। इस पर भी कुछ लोगों का ख्याल है कि इस बुद्धि के अतिरिक्त ज्ञान के दो साधन और भी हैं—मनोद्गार और ईश्वराभास (इलहाम)। जहाँ तक शीघ्र हो सके हमें इस भारी भ्रम को दूर कर देना चाहिए। मनोद्गार अंतःकरण की वह क्रिया है जिसके अंतगत इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, श्रद्धा, घृणा आदि हैं। मनोद्गार हमारे भिन्न भिन्न अवयवों के व्यापारों, जैसे पेट में लगी भूख तथा इंद्रियों की वासनाओं, जैसे प्रसंग की वासना आदि से प्रेरित हो सकते हैं। उनसे भला सत्य के निर्णय में क्या सहायता मिल सकती है? हाँ! बाधा अलबत्तः पहुँच सकती है। यही बात ईश्वराभास (इलहाम) वा 'ईश्वरप्रेरित ज्ञान' के विषय में भी कही जा सकती है जो धोखे के सिवाय और

कुछ नहीं, चाहे धोखा जान बूझकर दिया गया हो चाहे लोगों ने यों ही खाया हो।

जगत् संबंधी प्रश्नों के हल करने के लिये अनुभव और चिंतन ये दो ही मार्ग हैं। हर्ष का विषय है कि ये दोनों अब समान रूप से स्वीकृत हो चले हैं। दार्शनिक, चिंतन करनेवाले अब समझने लगे हैं कि कोरे चिंतन से जैसा कि प्लेटो और हैगल ने[1] अपने भावात्मक दर्शनों में किया है सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैज्ञानिक भी अब यह जान गए हैं कि केवल प्रत्यक्षानुभव, जिसके आधार पर बेकन और मिल ने अपना प्रत्यक्षवाद स्थापित किया था, पूर्ण तत्वज्ञान के लिये काफी नहीं है। सत्यज्ञान की प्राप्ति इंद्रिय और अंतःकरण दोनों की क्रियाओं के योग से हो सकती है। पर अभी कुछ ऐसे दार्शनिक भी हैं जो यों ही बैठे बैठे अपने भावमय जगत् की रचना किया करते हैं और अनुभवात्मक विज्ञान का इसलिये तिरस्कार करते हैं कि उन्हें संसार का यथार्थ बोध नहीं होता। इसी प्रकार कुछ वैज्ञानिक ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि विज्ञान का परम लक्ष्य भिन्न भिन्न व्यापारों का अन्वेषण मात्र है, दर्शन का जमाना अब गया इस प्रकार के एकांगदर्शी विचार परम भ्रमात्मक हैं। प्रत्यक्षानुभव और चिंतन—ज्ञानप्राप्ति की ये दोनों प्रणालियाँ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे की सहायक हैं। विज्ञान के सबसे पहुँचे हुए आविष्कार, जैसे घटक सिद्धांत, ताप का गत्यात्मक सिद्धांत, विकासवाद, परमतत्व की नियम व्यवस्था, दार्शनिक विचार के फल हैं। पर वे कोरे अनुमान के फल नहीं, अत्यंत विस्तृत, प्रत्यक्षाश्रित अनुमान के फल हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अब स्थिति बहुत कुछ बदल गई है। अब दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों दल के लोग एक दूसरे की सहायता करते हुए दो भिन्न भिन्न मार्गों से एक ही प्रधान लक्ष्य की ओर जा रहे हैं।

१. भारत के दार्शनिकों ने भी इसी प्रणाली का अनुसरण किया था।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से दार्शनिकों के परस्पर दो विरुद्ध दल दिखाई पड़ते हैं। एक तो द्वैतवादियों का, दूसरा अद्वैतवादियों का। द्वैतवाद ब्रह्मांड को दो भिन्न भिन्न भिन्न तत्वों में विभक्त करता है—एक भौतिक जगत् और दूसरा उसका बनाने, धारण करने और चलाने वाला ईश्वर जो समस्त भूतों से परे है। अद्वैतवाद ब्रह्मांड में केवल एक परमतत्व मानता है जो ईश्वर और प्रकृति दोनों है। वह शरीर और आत्मा या द्रव्य और शक्ति को परस्पर अभिन्न या अनवच्छेद्य मानता है। द्वैतवाद के भूतातीत ईश्वर को माननेवाले दैववादी और जगत् और ईश्वर को ओतप्रोत भाव से माननेवाले ब्रह्मवादी या सर्वात्मवादी कहलाते हैं।

उपर्युक्त अद्वैतवाद और भूतवाद को एक मानकर प्रायः लोग गड़-बड़ करते हैं। इस गड़बड़ से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। अतः यहाँ पर दो बातें संक्षेप में बतला देना आवश्यक है—

(१) शुद्ध अद्वैतवाद न तो वह भूतवाद है जो आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करता और जगत् को जड़ परमाणुओं का ढेर बतलाता है, और न वह अध्यात्मवाद है जो भूतों का अस्तित्व नहीं मानता और जगत् को अभौतिक शक्तियों के विधान का समाहार मात्र बतलाता है।

(२) हमारा सिद्धांत तो यह है कि न तो द्रव्य की स्थिति और क्रिया आत्मा या शक्ति के बिना हो सकती है और न आत्मा की द्रव्य के बिना। द्रव्य या अनंतव्यापी तत्व और आत्मा शक्ति या संविद् चेतन तत्व, दोनों उस विभु परम तत्व के दो मूल रूप या गुण हैं।

दूसरा प्रकरण

हमारा शरीर

जीवों के समस्त व्यापारों और धर्मों के अन्वेषण के लिए हमें पहले शरीर को लेना चाहिए जिसमें जीवनसंबंधिनी भिन्न भिन्न क्रियाएँ देखी जाती हैं। शरीर के केवल बाहरी भागों की परीक्षा से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें अपनी दृष्टि भीतर धँसाकर शरीररचना के साधारण विधानों तथा सूक्ष्म ब्योरों की जाँच करनी चाहिए। जो विद्या इस प्रकार का मूल अन्वेषण करती है उसे अंगविच्छेदशास्त्र[1] कहते हैं।

मनुष्य के शरीर की जाँच का काम पहले पहल चिकित्सा में पड़ा, अतः तीन चार हजार वर्ष पहले के प्राचीन चिकित्सकों को मनुष्य के शरीर के विषय में कुछ न कुछ जानकारी हो गई थी। पर ये प्राचीन शरीरविज्ञानी अपना ज्ञान मनुष्य के शरीर की चीरफाड़ द्वारा नहीं प्राप्त करते थे; क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार मनुष्य का शरीर चीरना फाड़ना बड़ा भारी अपराध गिना जाता था। बंदर आदि मनुष्य से मिलते जुलते जीवों के शरीर की चीड़फाड़ द्वारा ही वे शरीर-संबंधिनी बातों का पता लगाते थे। सन् १५४३ में विसेलियस ने मनुष्य शरीररचना पर एक बड़ी पुस्तक लिखी और शरीर विज्ञान की नींव डाली। स्पेन में उस पर जादूगर होने का अपराध लगाया

१. वह विद्या जिससे शरीर के भिन्न भिन्न भीतरी अवयवों के स्थान और उनकी बनावट का बोध होता है। इसमें चीरफाड़ कर अंगों की परीक्षा की जाती है इससे इसे अंगविच्छेदशास्त्र कहते हैं।

गया और उसे प्राणदंड की आज्ञा मिली। अपना प्राण बचाने के लिए वह ईसा की जन्मभूमि यरूशलम तीर्थ करने चला गया, वहाँ से वह फिर न लौटा।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह विशेषता हुई कि शरीर की बनावट की छानबीन के लिए दो प्रकार की परीक्षाएँ स्थापित हुईं। तारतम्यिक अंगविच्छेद विज्ञान[1] और शरीराणु विज्ञान। तारतम्यिक अंगविच्छेद विज्ञान की स्थापना सन् १८०३ में हुई जब कि फरासीसी जंतुविद् क्यूवियर ने अपना वृहद् ग्रंथ प्रकाशित करके पहले पहल मनुष्य और पशुशरीर संबंधी कुछ सामान्य नियम स्थिर किए। उसने समस्त जीवों को चार प्रधान भागों में विभक्त किया—मेरुदंड या रीढ़वाले जीव, कीटवर्ग मकड़ी, केकड़े, बिच्छू, गुबरैले आदि शुक्तिवर्ग—घोंघे आदि और उद्भिदाकार कृमि[2]। यह बड़ा भारी काम हुआ क्योंकि इससे मनुष्य रीढ़वाले जीवों की कोटि में रक्खा गया। इसके उपरांत अनेक शरीरविज्ञानियों ने इस विद्या में बहुत उन्नति की और अनेक नई नई बातों का पता लगाया। जर्मनी के कार्ल जिजिनबावर ने तारतम्यिक शरीरविज्ञान पर डारविन के विकासवाद के नियमों को घटाकर इस शास्त्र की मर्यादा बहुत बढ़ा दी। उसके पिछले ग्रंथ 'मेरुदंड जीवों की तारतम्यिक अंगविच्छेद परीक्षा' के आधार पर ही मनुष्य में मेरुदंड जीवों के सब लक्षण निर्धारित किए गए।

शरीराणु विज्ञान का प्रादुर्भाव एक दूसरी ही रीति से हुआ। सन् १८०२ में एक फारसीसी वैज्ञानिक ने मनुष्य के अवयवों के सूक्ष्म

---

१ भिन्न भिन्न जंतुओं के अंगों को चीरफाड़ कर उनकी परीक्षा और उनका परस्पर मिलान।

२. बहुत से ऐसे जीव होते हैं जो देखने में पौधों की डाल पत्तियों के रूप के होते हैं। गूँगा इसी प्रकार का कृमि है जो समुद्र में पाया जाता है।

विधान का खुर्दबीन द्वारा विश्लेषण करने का प्रयत्न किया। उसने शरीर के सूक्ष्म तंतुओं के संबंध को देखना चाहा पर उसे कुछ सफलता न हुई क्योंकि वह समस्त जंतुओं के उस एक समवाय कारण से अनभिज्ञ था जिसका पता पीछे से चला। सन् १८३८ में श्लेडेन ने उद्भिद् सृष्टि में समवाय रूप घटक का पता पाया जो पीछे से जंतुओं में भी देखा गया। इस प्रकार घटकवाद की स्थापना हुई। सन् १८६० में कालिकर और विरशो ने घटक तथा तंतुजाल संबंधी सिद्धांतों को मनुष्य के एक एक अवयव पर घटाया। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो गया कि मनुष्य तथा और सब जीवों का शरीरतंतुजाल अत्यंत सूक्ष्म; खुर्दबीन से भी जल्दी न दिखाई देनेवाले घटकों से बना है। ये ही घटक वे स्वतः क्रियमाण जीव हैं जो करोड़ों की संख्या में व्यवस्थापूर्वक बस कर शरीररूपी विशाल राज्य की योजना करते हैं। इन्हीं की बस्ती या समवाय को शरीर कहते हैं। ये सब के सब घटक एक साधारण घटक से जिसे गर्भांड कहते हैं, उत्तरोत्तर विभाग-क्रम द्वारा उत्पन्न होते हैं। मनुष्य तथा और दूसरे रीढ़वाले जीवों की शरीररचना और योजना एक ही प्रकार की होती है। इन्हीं में स्तन्य या दूध पिलानेवाले जीव हैं जिनकी उत्पत्ति पीछे हुई है और जो अपनी उन विशेषताओं के कारण जो पीछे से उत्पन्न हुईं, सबसे उन्नत और बढ़े चढ़े हैं।

कालिकर के सूक्ष्मदर्शक यंत्रों के अन्वेषण द्वारा हमारा मनुष्य और पशुशरीरसंबंधी ज्ञान बहुत बढ़ गया और हमें घटकों और तंतुओं के विकासक्रम का बहुत कुछ पता चला गया। इस प्रकार सिबोल्ड (१८४५) के उस सिद्धांत की पुष्टि हो गई कि सबसे निम्न श्रेणी के कीटाणु एक घटक अर्थात् जिनका शरीर एक घटक मात्र है; जीव हैं।

हमारा शरीर, उसके ढाँचे का सारा ब्योरा, यदि देखा जाय तो उसमें रीढ़वाले जीवों के सब लक्षण पाए जायँगे। जीवों के इस उन्नत

वर्ग का निर्धारण पहले पहले लामार्क ने १८०१ में किया। इसके अंतर्गत उसने रीढ़वाले जीवों को चार बड़े कुलों में बाँटा—दूध पिलानेवाले, पक्षी, जलस्थलचारी[1] और मत्स्य। बिना रीढ़वाले कीड़े मकोड़ों के उसने दो विभाग किए। इसमें कोई संदेह नहीं कि सारे रीढ़वाले जीव हर एक बात में परस्पर मिलते जुलते हैं। सबके शरीर के भीतर एक कड़ा ढाँचा अर्थात् तरुणास्थियों और हड्डियों का पंजर होता है। इस पंजर में मेरुदंड और कपाल प्रधान हैं। यद्यपि कपाल की उन्नत रचना में छोटे से बड़े जीवों में उत्तरोत्तर कुछ भेद दिखाई पड़ता है पर ढाँचा एक ही सा रहता है। समस्त रीढ़वाले प्राणियों में 'अंतःकरण' अर्थात् संवेदनवाहक सूत्रजाल का केंद्रस्वरूप मस्तिष्क इस मेरुदंड के छोर पर होता है। यद्यपि उन्नति की श्रेणी के अनुसार भिन्न भिन्न जीवों के मस्तिष्क में बहुत कुछ विभिन्नताएँ दिखाई पड़ती हैं पर सामान्य लक्षण सब में वही रहता है।

इसी प्रकार यदि हम अपने शरीर के और अवयवों का दूसरे रीढ़वाले जीवों के उन्हीं अवयवों से मिलान करें तो भी यही बात देखी जायगी। पितृपरंपरा के कारण सबके शरीर का मूल ढाँचा और उसके अवयवों के विभाग समान पाए जाते हैं, यद्यपि स्थितिभेद के अनुसार भिन्न भिन्न जंतुओं के विशेष विशेष अंगों की बड़ाई छोटाई तथा बनावट में फर्क देखा जाता है। सबमें रक्त दो प्रधान नलों से होकर बहता है जिनमें से एक अँतड़ियों के ऊपर ऊपर जाता है और दूसरा नीचे नीचे। यही दूसरा नल जिस स्थान पर चौड़ा हो जाता है वही हृदय है। हृदय रीढ़वाले जीवों में पेट की ओर होता है और कीटपतंग

---

१. इन जीवों को पानी में साँस लेने के लिए गलफड़े (जैसे मछलियों के) और बाहर साँस लेने के लिए फेफड़े दोनों होते हैं। इससे वे जल में भी और स्थल पर भी रह सकते हैं।

आदि में पीठ की ओर। इसी प्रकार और और अंगों की बनावट भी सब रीढ़वाले जीवों की एक सी होती है। अस्तु मनुष्य एक रीढ़वाला जीव है।

प्राचीन लोग मनुष्य और पक्षियों के अतिरिक्त तिर्यक् पशुओं, गाय, कुत्ते आदि को चतुष्पद कहते थे। क्यूवियर ने पहले पहल यह स्थिर किया कि द्विपाद मनुष्य और पक्षी भी वास्तव में चतुष्पद ही हैं। उसने अच्छी तरह दिखलाया कि मेढक से लेकर मनुष्य तक मस्तक स्थलचारी उन्नत रीढ़वाले जीवों के चार पैरों की रचना एक ही नमूने पर कुछ विशेष अवयवों से हुई है। मनुष्य के हाथों और चमगादर के डैनों की ठटरी का ढाँचा वैसा ही होता है जैसा कि चौपायों के अगले पैर का। यदि हम किसी मेढक की ठटरी लेकर मनुष्य या बंदर की ठटरी से मिलावें तो इस बात का ठीक ठीक निश्चय हो सकता है। सन् १८६४ में जिजिनबावर ने यह दिखलाया कि किस प्रकार स्थलचारी मनुष्यों का पाँच उँगलियोंवाला पैर आदि में प्राचीन मछलियों के इधर उधर निकले हुए परों ही से क्रमशः उत्पन्न हुआ है। अस्तु मनुष्य एक चतुष्पद जीव है।

रीढ़वाले जानवरों में दूध पिलानेवाले सबसे उन्नत और पीछे के हैं। पक्षियों और सरीसृपों के समान निकले तो ये भी प्राचीन जलस्थलचारी जंतुओं ही से हैं पर इनके अवयवों में बहुत सी विशेषताएँ हैं। बाहर इनके शरीर पर रोएँदार चमड़ा होता है। इनमें दो प्रकार की चर्मग्रंथियाँ होती हैं—एक स्वेदग्रंथि दूसरी मेदग्रंथि। उदराशय के चर्म में एक विशेष स्थान पर इन ग्रंथियों की वृद्धि से उस अवयव की उत्पत्ति होती है जिसे स्तन कहते हैं और जिसके कारण इस वर्ग के प्राणी स्तन्य कहलाते हैं। दूध पिलाने का यह अवयव दुग्धग्रंथियों और स्तनकोश से बना होता है। वृद्धि प्राप्त होने पर चूचुक (ढिपनी) निकलते हैं जिनसे बच्चा दूध खींचता है। भीतरी रचना में एक अंतरपट

मांस की झिल्ली और नसों का बना हुआ परदा, की विशेषता होती है जो उदराशय को वक्षआशय से जुदा करता है। दूसरे रीढ़वाले जानवरों में यह परदा नहीं होता. यह केवल दूध पिलानेवालों में होता है। इसी प्रकार मस्तिष्क, घ्राणेंद्रिय, फुप्फुस, वाह्य और आभ्यंतर जननेंद्रिय आदि की बनावट में भी बहुत सी विशेषताएँ दूध पिलानेवाले जीवों में होती हैं। इन सब पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि दूध पिलानेवाले जीव सरीसृपों और जलस्थलचारी जीवों से उत्पन्न हुए। यह बात कम से कम १२०००००० वर्ष पहले हुई होगी। अस्तु, मनुष्य एक दूध पिलानेवाला स्तन्य जीव है।

आधुनिक जंतु विज्ञान में स्तन्य जीवों के भी तीन भेद किए गए हैं—अडजस्तन्य[1] अजरायुज पिंडज (थैलीवाले)[2] और जरायुज। ये तीनों सृष्टि के भिन्न भिन्न युगों में क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य जरायुज जीवों के अंतर्गत है क्योंकि उसमें वे सब विशेषताएँ हैं जो जरायुजों में होती हैं। पहली वस्तु तो वह है जिसे जरायु[1] कहते हैं

---

१. इस वर्ग के जीवों में एक ही कोठा होता जिसमें मलवाहक, मूत्रवाहक और वीर्यवाहक नल गिरते हैं। मादा चिड़ियों की तरह अंडे भी देती है और स्तन्य जीवों की तरह दूध भी पिलाती है। इस प्रकार के दो एक जानवर आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं। एक वत्तख घूस होती है जिसका सब आकार घूँस की तरह होता है पर मुँह वत्तख की चोंच की तरह का और पंजे वत्तख के पंजों की तरह के होते हैं। इसी प्रकार की एक साही भी होती है। ये पक्षियों और स्तन्य जीवों के बीच के जंतु हैं।

२. इस वर्ग के जीव भी आस्ट्रेलिया तथा उसके आसपास के द्वीपों में पाए जाते हैं। इनके गर्भ में जरायु नहीं होता जिससे गर्भ के भीतर बच्चों का पोषण होता है, अतः बच्चे अच्छी तरह बनने के पहले ही उत्पन्न हो जाते हैं और मादा उन्हें बहुत दिनों तक पेट के पास बनी थैली में लिए फिरती है। कँगारू नाम का जंतु इसी वर्ग का है।

१. जरायु के द्वारा ही भ्रूण माता के गर्भाशय से संयुक्त रहता है। यह गोल चक्र या तश्तरी के आकार का और स्पंज की तरह छिद्रमय होता है। मुख

और जिसके कारण जरायुज नाम पड़ा है। इसके द्वारा गर्भ के भीतर शिशु का बहुत दिनों तक पोषण होता है। यह गर्भ को आवृत करनेवाली झिल्ली से नल के रूप में निकल कर माता के गर्भाशय की दीवार से संयुक्त रहता है। इसकी बनावट इस प्रकार की होती है कि माता के रक्त का पोषक द्रव्य शिशु के रक्त में जाकर मिलता रहता है। गर्भपोषण की इस विलक्षण युक्ति के बल से शिशु को गर्भ के भीतर बहुत दिनों तक रहकर वृद्धि प्राप्त करने का अवसर मिलता है। यह बात बिना जरायु के गर्भ में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की उन्नत रचना आदि के कारण भी जरायुज जीव अपने पूर्वज अजरायुज जीवों की अपेक्षा बढ़े चढ़े होते हैं। अस्तु, मनुष्य एक जरायुज जीव है।

जरायुज जीव भी अनेक शाखाओं में विभक्त किए गए हैं जिनमें से चार प्रधान हैं—छेद्यदंत (कुतरनेवाले[1]); खुरपाद[2], मांसभक्षी[3] और किंपुरुष। इसी किंपुरुष शाखा के अंतर्गत बंदर, बनमानुस और मनुष्य हैं। इन तीनों में दूसरे जरायुज जीवों से बहुत सी विशेषताएँ समानरूप से पाई जाती हैं। तीनों के शरीर में लंबी लंबी हड्डियाँ होती हैं जो इनके शाखाचारी जीवन के अनुकूल हैं। इनके हाथों और पैरों में पाँच पाँच उँगलियाँ होती हैं। लंबी लंबी उँगलियाँ पेड़ों की

की ओर तो यह माता के गर्भाशय की दीवार से जुड़ा रहता है, पृष्ठ की ओर इसमें से एक लंबा नाल निकल कर भ्रूण की नाभि तक गया रहता है। जरायु-चक्र में बहुत से सूक्ष्म घट या उभरे हुए छिद्र रहते हैं जो गर्भाशय की दीवार के छिद्रों में घुसे होते हैं। इसी के द्वारा भ्रूण के शरीर में रक्त संचार, पोषक द्रव्यों का समावेश और श्वासविधान होता है। जरायु या उल्वनाल केवल पिंडजों अर्थात् सजीव डिंभ प्रसव करनेवाले जीवों में ही होता है, अंडजों आदि में नहीं।

१. चूहे, गिलहरी, खरगोश आदि। २. गाय, बकरी, हिरन आदि। ३. भेड़िया, बाघ इत्यादि।

शाखाओं को पकड़ने के उपयुक्त होती हैं। नख चौड़े होते हैं, टेढ़े नुकीले नहीं। तीनों की दंतावली पूर्ण होती है अर्थात् इन्हें चारों प्रकार के दाँत होते हैं—छेदनदंत, कुकुरदंत, अग्रदंत और चर्वणदंत (चौभर) किंपुरुष शाखा के प्राणियों के कपाल और मस्तिष्क की रचना में भी विशेषता होती है। उन प्राणियों में जो काल पाकर अधिक उन्नत हो गए हैं और जिनका प्रादुर्भाव इस पृथ्वी पर पीछे हुआ है विशेषता अधिक होती गई है। सारांश यह कि मनुष्य शरीर में भी किंपुरुष शाखा के सब लक्षण विद्यमान हैं। अस्तु, मनुष्य किंपुरुष शाखा का एक जीव है।

ध्यानपूर्वक देखने से इस किंपुरुष शाखा के भी दो भेद हो जाते हैं—एक बंदर दूसरे पूरे बनमानुस। बंदर निम्न श्रेणी के और पहले के हैं, बनमानुस अधिक उन्नत और पीछे के हैं। बंदर की माता का गर्भाशय और दूसरे स्तन्य जीवों की तरह दोहरा होता है। इसके विरुद्ध पूरे बनमानुस के दहिने और बाएँ दोनों गर्भाशय मिले होते हैं और इस मिले हुए गर्भाशय का आकार वैसा ही होता है जैसा मनुष्य के गर्भाशय का। नर कपाल के समान बनमानुस के कपाल में भी नेत्रों के गोलक कनपटी के गड्ढों से हड्डी के एक परदे के द्वारा विच्छिन्न होते हैं। पर साधारण बंदरों में या तो यह परदा बिलकुल नहीं होता अथवा अपूर्ण रूप में होता है। इसके अतिरिक्त बंदर का मस्तिष्क या तो बिलकुल समतल होता है अथवा बहुत थोड़ा खुरदुरा या ऊँचा नीचा होता है और कुछ छोटा भी होता है। बनमानुस का मस्तिष्क बड़ा, उसके तल की रचना अधिक जटिल होती है। जितना ही जो बनमानुस मनुष्य के अधिक निकट तक पहुँचा हुआ होता है उसके मस्तिष्क के तल में उतने ही अधिक उभार, अखरोट की गिरी के समान होते हैं। अस्तु, मनुष्य में बनमानुस के सब लक्षण पाए जाते हैं।

बनमानुसों के दो विलक्षण विभाग देश के अनुसार किए गए हैं। पश्चिमी गोलार्ध या अमेरिका के बनमानुस चिपटी नाकवाले कहलाते हैं और पूर्वीयगोलार्ध या पुरानी दुनिया के पतली नाकवाले। चिपटी नाकवाले बनमानुसों का वंश इधर के पतली नाकवाले बनमानुसों से बिलकुल अलग चला है। वे पुरानी दुनियाँ (एशिया, अफ्रिका) के बनमानुसों की उपेक्षा अनुन्नत हैं। अतः मनुष्य एशिया और अफ्रिका के पतली नाकवाले बनमानुसों ही की किसी अप्राप्य श्रेणी से उद्भूत हुए हैं।

एशिया और अफ्रिका में अब तक पाए जानेवाले पतली नाकवाले बनमानुसों के भी दो भेद हैं, पूँछवाले बनमानुस और बिना पूँछवाले नराकार बनमानुस। बिना पूँछवाले मनुष्य जाति से अधिक समानता रखते हैं। नराकार बनमानसों के पुट्ठे की रीढ़ पाँच कशेरुकाओं के मेल से बनी होती है और पूँछवाले बनमानुसों की तीन कशेरुकाओं के मेल से। दोनों के दाँतों की बनावट में भी अंतर होता है। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि यदि हम गर्भाशय की झिल्ली तथा जरायुज आदि की बनावट की ओर ध्यान देते हैं तो नराकार बनमानुस में भी वे ही विशेषताएँ पाई जाती हैं जो मनुष्य में। एशियाखंड के ओरंगओटंग और गिबन तथा अफ्रिका के गोरिल्ला और चिंपाजी नामक बनमानुस मनुष्य से सबसे अधिक समानता रखते हैं। अस्तु, मनुष्य और बनमानुस का निकट संबंध अब अच्छी तरह सिद्ध हो गया है।

इस बात के प्रमाण में अब कोई संदेह नहीं रह गया है कि मनुष्य और बनमानुस के शरीर का ढाँचा एक ही है। दोनों की ठटरियों में वे ही २०० हड्डियाँ समान क्रम से बैठाई है, दोनों में उन्हीं ३०० पेशियों की क्रिया से गति उत्पन्न होती है, दोनों की त्वचा पर रोएँ होते हैं, दोनों के मस्तिष्क उन्हीं संवेदनात्मक तंतु-ग्रंथियों के योग से बने हुए होते हैं, वही चार कोठों का हृदय दोनों

में रक्तसंचार का स्पंदन उत्पन्न करता है, दोनों के मुँह में ३२ दाँत उसी क्रम से होते हैं, दोनों में पाचन ष्टीवन ग्रंथि[1], यकृद्ग्रंथि और क्लोमग्रंथि[2] की क्रिया से होता है, उन्हीं जननेंद्रियों से दोनों के वंश की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि डीलडौल तथा अवयवों की छोटाई बड़ाई में दोनों में कुछ भेद देखा जाता है पर इस प्रकार का भेद तो मनुष्यों की ही समुन्नत और बर्बर जातियों के बीच परस्पर देखा जाता है, यहाँ तक कि एक ही जाति के मनुष्यों में भी कुछ न कुछ भेद होता है। कोई दो मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जिनके ओंठ, आँख, नाक, कान आदि बराबर और एक से हों। और जाने दीजिए दो भाइयों की आकृति में इतना भेद होता है कि जल्दी विश्वास नहीं होता कि वे एक ही माता पिता से उत्पन्न हैं। पर इन व्यक्तिगत भेदों से रचना के मूल सादृश्य के विषय में कोई व्याघात नहीं होता।

---

१. अत्यंत सूक्ष्म छोटे छोटे दाने जिनसे थूँक निकलता है।

२. आमाशय की त्वचा पर के सूक्ष्म दाने जिनसे पित्त के समान एक प्रकार का अम्ल रस निकलता है जो भोजन के साथ मिल कर उसे पचाता है।

तीसरा प्रकरण

हमारा जीवन

उन्नीसवीं शताब्दी में ही मनुष्यजीवनसंबंधी ज्ञान को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ है। सजीव व्यापारों का अन्वेषण करनेवाली विद्या को शरीरव्यापारविज्ञान[1] कहते हैं। यह विद्या आजकल अत्यंत उन्नत अवस्था को पहुँच गई है। प्राचीन काल में ही लोगों का ध्यान सजीव व्यापारों की ओर गया था। वे जीवों का इच्छानुसार हिलना डोलना, हृदय का धड़कना, साँस खींचना, बोलना आदि देखकर इन व्यापारों का कारण जानना चाहते थे। अत्यंत प्राचीन काल में तो सजीव पदार्थों के हिलने में और निर्जीव पदार्थों के हिलने डोलने में विभेद करना सहज नहीं था। नदियों का बहना, हवा का चलना, लपट का भभकना आदि जंतुओं के चलने फिरने के समान ही जान पड़ते थे। अतः इन निर्जीव पदार्थों में भी उस काल के लोगों को एक स्वतंत्र जीव मानना पड़ता था। पर पीछे जीवन के संबंध में में जिज्ञासा आरंभ हुई। १७०० वर्ष हुए कि यूरप में पहले पहल यूनानी हकीम गैलन का ध्यान शरीरव्यापार के कुछ तत्वों की ओर गया। इन तत्वों का पता उसने जीते हुए कुत्तों, बंदरों आदि को चीर-फाड़कर लगाया था। पर जीवित जंतुओं का चीरना फाड़ना एक

१. अंगविच्छेदशास्त्र केवल भीतरी अवयवों के स्थान और उनकी बनावट बतलाता है पर शरीरव्यापारविज्ञान उनके व्यापारों और कार्यों की व्यवस्था प्रकट करता है। अंगविच्छेदशास्त्र केवल यही बतलावेगा कि अमुक अवयव शरीर के अमुक स्थान पर होता है और इस आकार का होता है, वह यह न बतलावेगा कि वह अवयव क्या काम करता है।

अत्यंत निर्दयता का काम समझा जाता था। परंतु बिना इस प्रकार की चीरफाड़ किए शरीर के व्यापारों का रहस्य नहीं खुल सकता।

सच पूछिए तो १६वीं शताब्दी में ही शरीर के व्यापारों की ठीक ठीक जाँच यूरप में कुछ डाक्टरों के द्वारा आरंभ हुई। सन् १६२८ में हार्वे ने अपने रक्तसंचारसंबंधी आविष्कार का विवरण प्रकाशित करके यह दिखलाया कि हृदय एक प्रकार का पंप या नल है जो अचेतनरूप से क्षण क्षण पर अपनी पेशियों के आकुंचन द्वारा निरंतर लाल रंग के खून की धारा धमनियों के मार्ग से छोड़ा करता है। जीवधारियों के प्रसवविधान के संबंध में उसने जो अन्वेषण किए वे भी बड़े काम के थे। पहले पहल उसी ने इस नियम का प्रतिपादन किया कि 'प्रत्येक जीवधारी गर्भांड से उत्पन्न होता है।' १८वीं शताब्दी के अंत में हालर ने शरीरव्यापारसंबंधी विद्या को चिकित्साशास्त्र से अलग करके स्वतंत्र वैज्ञानिक आधार पर स्थिर किया, पर उसने संवेदनात्मक चेतनाव्यापारों के लिये एक विशेष 'संविद् शक्ति' का प्रतिपादन किया जिससे 'अभौतिक शक्ति' माननेवालों को भी सहारा मिल गया। १९वीं शताब्दी के मध्य तक शरीरव्यापारविज्ञान में यही सिद्धांत ग्राह्य रहा कि जीवों के कुछ व्यापार तो भौतिक और रासायनिक कारणों से होते हैं पर कुछ ऐसे हैं जो एक विशेष शक्ति द्वारा होते हैं। यह शक्ति समस्त भूतों से परे तथा द्रव्य की भौतिक और रासायनिक क्रिया से सर्वथा स्वतंत्र मानी गई है। यह स्वयंप्रकाश शक्ति जड़ पदार्थों में नहीं होती और भूतों को अपने आधार पर चलाती है। संवेदनसूत्रों की वेदनात्मक क्रिया, चेतना, उत्पत्ति, वृद्धि आदि ऐसी बातें थीं जिनके लिये भौतिक और रासायनिक कारण बतलाना अत्यंत कठिन था। इस अभौतिक शक्ति का व्यापार उद्देश्यात्मक[1] माना गया जिससे दर्शनशास्त्र

१. यह सिद्धांत कि सृष्टि के व्यापार उद्देश्य रखनेवाली एक चेतन शक्ति के विधान द्वारा होते हैं।

में उद्देश्यवाद का समर्थन हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने भी कह दिया कि यद्यपि सिद्धांतदृष्टि से सृष्टि के व्यापारों का भौतिक कारण बतलाने में बुद्धि में अपार सामर्थ्य है पर जीवधारियों के चेतन व्यापारों का भौतिक कारण बतलाना वास्तव में उसकी सामर्थ्य के बाहर है, अतः हमें उनका एक ऐसा कारण मानना ही पड़ता है जो उद्देश्यात्मक अर्थात् भूतों से परे है। फिर तो उद्देश्यवाद एक प्रकार निर्विवाद सा मान लिया गया। बात स्वाभाविक ही थी; क्योंकि शरीर के भीतर रक्तसंचार आदि व्यापारों का भौतिक और पाचन आदि क्रियाओं का रासायनिक हेतु तो बतलाया जा सकता था पर पेशियों और संवेदन सूत्रों की अद्भुत क्रियाओं तथा अंतःकरण (मन) की विलक्षण वृत्तियों का कोई समाधानकारक हेतु निरूपित नहीं हो सकता था। इसी प्रकार किसी प्राणी में भिन्न भिन्न शक्तियों की जो उपयुक्त योजना देखी जाती है उसे भी भूतों के द्वारा संपन्न नहीं मानते बनता था। ऐसी दशा में शरीरव्यापारसंबंधी विज्ञान में भी पूरी द्वैतभावना स्थापित हुई। निरिंद्रिय जड़ प्रकृति और सेंद्रिय सजीव सृष्टि के बीच, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विधानों के बीच, शरीर और आत्मा के बीच, द्रव्यशक्ति और जीवशक्ति के बीच पूरा पूरा प्रभेद माना गया। १६वीं शताब्दी के आरंभ में भूतातिरिक्तशक्तिवाद की जड़ शरीरव्यापारविज्ञानों में अच्छी तरह जम गई।

१७ वीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध फरासीसी तत्ववेत्ता डेकार्ट ने हार्वे के रक्त संचार संबंधी सिद्धांत को लेकर यह प्रतिपादित किया कि और जंतुओं की भाँति मनुष्य का शरीर भी एक कल है और उसका संचालन भी उन्हीं भौतिक नियमों के अनुसार होता है जिनके अनुसार मनुष्य की बनाई हुई मशीन का होता है। साथ ही उसने मनुष्य में एक भूतातीत आत्मा[1] का होना भी बतलाया और कहा कि स्वयं अपने

१. पशुओं में इस प्रकार की आत्मा डेकार्ट नहीं मानता था।

ही व्यापारों का जो अनुभव आत्मा को होता है (अर्थात् विचार) केवल वही संसार में ऐसी वस्तु है जिसका हमें निश्चयात्मक बोध होता है। उसका सूत्र है कि—'मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ।'[1] पर यह द्वैत सिद्धांत रखते हुए भी उसने शरीर व्यापार संबंधी हमारे भौतिक ज्ञान को बहुत कुछ बढ़ाया। डेकार्ट के बाद ही एक वैज्ञानिक ने प्राणियों के अंग संचालन को शुद्ध भौतिक नियमों का अनुसारी सिद्ध किया और दूसरे ने पाचन और श्वास[2] की क्रिया का रासायनिक विधान बतलाया। पर उनके युक्तिवाद पर उस समय लोगों ने ध्यान न दिया। शक्तिवाद का प्रचार बढ़ता ही गया। उसका पूर्णरूप से खंडन तब हुआ जब भिन्न भिन्न जीवों के शरीरव्यापारों का मिलान करनेवाले विज्ञान का उदय हुआ।

तारतम्यिक शरीरव्यापारविज्ञान का प्रादुर्भाव १९ वीं शताब्दी में हुआ। बर्लिन विश्वविद्यालय के जोंस मूलर नामक उद्भट प्राणिवेत्ता ने ही पहले पहल इस विषय को अपने हाथ में लिया और २५ वर्ष तक लगातार परिश्रम किया। उसने मनुष्य से लेकर कीटपतंग तक सारे जीवों के अंगों और शरीरव्यापारों को लेकर दार्शनिक रीति से मिलान किया और इस प्रकार वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों से प्राणतत्व संबंधी ज्ञान में बहुत बढ़ गया। मूलर भी अपने सहयोगी शरीर-विज्ञानियों के समान शक्तिवादी ही रहा। पर उसके हाथ में पड़ कर शक्तिवाद का कुछ रूप ही और हो गया। उसने जीवों के समस्त व्यापारों के भौतिक हेतु निरूपण का प्रयत्न किया। उसने जिस शक्ति का रूपांतर से प्रतिपादन किया वह प्रकृति के भौतिक और रासायनिक नियमों से परे नहीं थी; उससे सर्वथा बद्ध थी। उसने इंद्रियों और

---

१. कामिटो इरगो सम (आई थिंक देयरफोर आइ एम्)

२. जिससे शरीर के भीतर ऑक्सिजन या प्राणवायु जाती और कारबन निकलता है।

मन की क्रियाओं का उसी प्रकार भौतिक हेतु बतलाने का प्रयत्न किया जिस प्रकार पेशियों की क्रियाओं का। मूलर की सफलता का कारण यह था कि वह सदा अत्यंत निम्नकोटि के जीवों के आणव्यापार को लेकर चलता और क्रम क्रम से उन्नत जीवों की ओर बढ़ती अनुसंधान परंपरा को बढ़ाता हुआ मनुष्य तक ले जाता था। मूलर की मृत्यु के पीछे सन् १८५८ में उसके विस्तृत विषय के कई विभाग हो गए—मानव और तारतम्यिक अंगविच्छेद परीक्षा, चिकित्सासंबंधी अंगविच्छेद परीक्षा, शरीरव्यापार विज्ञान और विकासक्रम का इतिहास।

मूलर के अनेक शिष्यों में से थिउडरश्वान को सबसे अधिक सफलता हुई। १८३८ में जब प्रसिद्ध उद्भिद्विज्ञानवेत्ता थिउडर श्वान ने घटक को सारे पौधों का संयोयक अवयव बतलाया और सिद्ध किया कि पौधों का सारा तंतुजाल इन्हीं घटकों के योग से बना है, मूलर ने इस आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने प्राणियों के शरीरतंतुओं को भी इसी प्रकार के योग से संघटित सिद्ध करना चाहा। पर यह कठिन कार्य उसके शिष्य श्वान ने किया। इस प्रकार घटक सिद्धांत की नींव पड़ी जिसका महत्व अंगविच्छेद शास्त्र और शरीरव्यापार विज्ञान में दिन पर दिन स्वीकृत होता गया। इसके अतिरिक्त अन्स्ट ब्रुक और एलबर्ट कालिकर नामक मूलर के दो दूसरे शिष्यों ने यह दिखलाया कि विश्लेषण करने पर जीवों की समस्त क्रियाएँ शरीरतंतु को संघटित करनेवाले इन्हीं सूक्ष्म घटकों की क्रियाएँ ठहरती हैं। ब्रुक ने इन घटकों को 'मूलजीव' कहा और बतलाया कि समवाय रूप से ये ही जीवविधान के कारण हैं। कालिकर ने सिद्ध किया कि जीवधारियों का गर्भांड एक शुद्ध घटक मात्र है।

'घटकात्मक शरीरव्यापार विज्ञान' की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा सन् १८८६ में जरमनी के मैक्स वरवर्न द्वारा हुई। उसने अनेक परीक्षाओं

के उपरांत दिखलाया कि मेरा उपस्थित किया हुआ घटकात्मा[1] संबंधी सिद्धांत एक घटकात्मक अणुजीवों के पर्यालोचन से पूर्णरूप से प्रतिपादित हो जाता है और इन अणुजीवों के चेतन व्यापारों का मेल जलसृष्टि की रासायनिक क्रियाओं से मिल जाता है। उसने बतलाया कि मूलर की मिलानवाली प्रणाली तथा घटक की सूक्ष्म आलोचना द्वारा हो हम तत्व को यथार्थ रूप में समझ सकते हैं।

इस घटकवाद से चिकित्साशास्त्र को भी बहुत लाभ पहुँचा। मूलर के एक दूसरे शिष्य विरशे ने रुग्ण घटकों का स्वस्थ घटकों से मिलान करके रुग्ण होने पर उनकी दशा के उन सूक्ष्म परिवर्तनों को दिखलाया जो उन विस्तृत परिवर्तनों के मूल स्वरूप होते हैं जिनसे रोग या मृत्यु होती हैं। उसने यह सिद्ध कर दिया कि रोग किसी अलौकिक कारण से नहीं होते बल्कि भौतिक और रासायनिक परिवर्तनों के ही कारण होते हैं।

आधुनिक जंतुविभागविद्या के अंतर्गत जितने जीव हैं सब में स्तनपायी जीव प्रधान हैं। मनुष्य इसी स्तन्यवर्ग के अंतर्गत है अतः उसमें वे सब लक्षण होने चाहिए जो और स्तन्य जीवों में होते हैं। मनुष्यों में भी रक्तसंचालन तथा श्वास क्रिया उसी प्रकार और ठीक उन्हीं नियमों के अनुसार होती है जिस प्रकार और जिन नियमों के अनुसार और स्तन्य जीवों में। ये दोनों क्रियाएँ हृत्कोश और फुप्फुस (फेफड़े) की विशेष बनावट के अनुसार होती हैं। केवल स्तन्य जीवों में रक्त हृदय के बाएँ कोठे से धमनी की वाम कंदरा (शाखा) में प्रवाहित होता है। पक्षियों में यह रक्त धमनी की दक्षिण कंदरा से होकर और सरीसृपों में दोनों कंदराओं से होकर जाता है। दूध पिलानेवाले जीवों के रक्त में और दूसरे रीढ़वाले जीवों के रक्त से यह विशेषता पाई जाती है कि

१. सन् १८६६ में हेकल ने यह सिद्धांत उपस्थित किया था।

उसके सूक्ष्म घटकों के मध्य में गुठली (न्यूक्लस) नहीं होती। इसी वर्ग के जीवों की श्वासक्रिया अंतरपट (डाइफागम) के योग से होती है क्योंकि इन्हीं जीवों में उदराशय और वक्षआशय के बीच यह परदा होता है। बड़ी भारी विशेषता तो माता के स्तनों में दूध उत्पन्न होने और बच्चों को पालने के ढंग की है। दूध की बड़ी भारी ममता होती है इसी से स्तन्य जीवों में शिशु पर माता का बहुत अधिक स्नेह देखा गया है।

स्तन्य जीवों में बनमानुस ही मनुष्य से सबसे अधिक समानता रखता है, अतः उसमें वे सब लक्षण मिलते हैं जो मनुष्य में पाए जाते हैं। सब लोग देखते हैं कि किस प्रकार बनमानुसों की रहनसहन, स्वभाव, समझ, बच्चों के पालने पोसने का ढंग आदि मनुष्य के से होते हैं। शरीर व्यापार विज्ञान ने और बातों में भी सादृश्य दिखलाया है जो साधारण दृष्टि से देखने में नहीं आता—हृपिंड की क्रिया में, स्तनों के विभाग में, दांपत्य विधान में। दोनों के स्त्री-पुरुष-धर्म मिलते जुलते हैं। बनमानुसों की बहुत सी ऐसी जातियाँ होती हैं जिनकी मादा के गर्भाशय से उसी प्रकार सामयिक रक्तस्राव होता है जिस प्रकार स्त्रियों को मासिकधर्म होता है। बनमानुस की मादा में दूध उसी प्रकार उतरता है जिस प्रकार स्त्रियों में। दूध पिलाने का ढंग भी एक ही सा है।

सबसे बढ़कर ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि मिलान करने पर बनमानुसों की बोली मनुष्य की वर्णात्मक वाणी के विकास की आदिम अवस्था प्रतीत होती है। एक प्रकार का बनमानुस होता है जो कुछ कुछ मनुष्यों की तरह गाता और सुर निकालता है। कोई निष्पक्ष भाषातत्वविद् इस बात को मानने में आगापाछा न करेगा कि मनुष्य की विचार व्यंजक विशद वाणी पूर्वज बनमानुसों की अपूर्ण बोली से क्रमशः धीरे धीरे निकली है।

चौथा प्रकरण

गर्भविधान

तारतम्यिक गर्भविधान विद्या की उत्पत्ति भी उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुई है। माता के गर्भ में बच्चा किस प्रकार बनता है? गर्भांड से जीव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं? बीज से वृक्ष कैसे पैदा होता है? इन प्रश्नों पर हजारों वर्षों से लोग विचार करते आए पर इनका ठीक ठीक समाधान तभी हुआ जब गर्भविज्ञानविद् बेयर ने गर्भविधान के रहस्यों को जानने का उचित मार्ग दिखलाया। बेयर से तीस वर्ष पीछे डारविन ने अपने उत्पत्ति सिद्धांत के प्रतिपादन द्वारा गर्भविधान के परिज्ञान की प्रणाली एक प्रकार से स्थिर कर दी। यहाँ पर मैं गर्भसंबंधी मुख्य मुख्य सिद्धांतों पर ही विचार करूँगा। इस विचार के पहले गर्भवृद्धि संबंधी प्राचीन सिद्धांतों का उल्लेख आवश्यक है।

प्राचीनों का विचार था कि जीवों के गर्भांड में पूरा शरीर अपने संपूर्ण अवयवों के साथ पहले से निहीत रहता है, पर वह इतना सूक्ष्म होता है कि दिखाई नहीं पड़ सकता[1], अतः गर्भ का सारा

---

१. सुश्रुत ने कई ऋषियों के नाम देकर लिखा है कि कोई कहता है कि गर्भ में पहले बच्चे का सिर पैदा होता है, कोई कहता है कि हृदय, कोई कहता है नाभि कोई कहता है हाथ पावँ, सुभूति गौतम कहते हैं जड़ जिससे सब अंग सन्निबद्ध रहते हैं, पर धन्वंतरि जी कहते हैं कि इनमें से किसी का मत ठीक नहीं, बच्चों के सब अंग एक साथ ही पैदा हो जाते हैं, बाँस के कल्ले या आम के फल के समान—'सर्वांगप्रत्यंगानि युगपत्संभवतीत्याह धन्वंतरि, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते, वंशांकुरवच्चूतलवच्च।'—सुश्रुत, शारीरस्थान।

विकास या वृद्धि अंतर्मुख अंगों का प्रस्तार मात्र है। इसी भ्रांत विचार का नाम 'पूर्वकृत' या 'युगपत्' सिद्धांत है। सन् १७५९ में उल्फ नामक एक नवयुवक डाक्टर ने अनेक श्रमसाध्य और कठिन परीक्षाओं के उपरांत इस सिद्धांत का पूर्णरूप से खंडन किया। अंडे को यदि हम देखें तो उसके भीतर बच्चे या उसके अंगों का कोई चिह्न पहले नहीं रहता, केवल एक छोटा चक्र जरदी के सिरे पर होता है। यह बीजचक्र धीरे धीरे वर्तुलाकार हो जाता और फिर फूट कर चार झिल्लियों के रूप में हो जाता है। ये ही चार झिल्लियाँ शरीर के चार प्रधान विभागों के मूलरूप हैं। चार विभाग या विधान ये हैं— ऊपर संवेदनविधान जिससे समस्त संवेदनात्मक और चेतन व्यापार होते हैं, नीचे पेशी विधान, फिर नाड़ीघट[1] हृदय नाड़ी आदि विधान, और अंत्रविधान। इससे प्रकट है कि गर्भविकास पूरे अंगों का प्रस्तार मात्र नहीं है बल्कि नवीन रचनाओं का क्रम है। इस सिद्धांत का नाम 'नवविधान' वाद है। ५० वर्ष तक उल्फ की सच्ची बात की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया क्योंकि प्रसिद्ध वैज्ञानिक हालर बराबर उसका विरोध करता गया। हालर ने कहा—'गर्भ में नये विधानों की योजना नहीं होती। प्राणी के अंग एक दूसरे के आगे पीछे नहीं बनते सब एक साथ बने बनाए रहते हैं।'

जब सन् १८०६ में जरमनी के ओकेन ने उल्फ की कही हुई बातों का फिर से पता लगाया तब कई जरमन वैज्ञानिक गर्भविधान के ठीक ठीक अन्वेषण में तत्पर हुए। उनमें सबसे अधिक सफलता बेयर को हुई। उसने अपने ग्रंथ में गर्भबीज की रचना का पूरा ब्योरा दिखाया और बहुत से नए नए विचारों का समावेश किया। मनुष्य

---

१. जिससे रक्तसंचार होता है और जिसके अंतर्गत रक्तवाहिनी नलियाँ और हृदय है।

तथा और दूसरे स्तन्य जीवों के भ्रूण के आकार प्रकार दिखाकर उसने बिना रीढ़वाले क्षुद्र जंतुओं के उत्पत्तिक्रम पर भी विचार किया जो सर्वथा भिन्न होता है। रीढ़वाले उन्नत जीवों के गर्भबीज के गोलचक्र में पत्ते के आकार के जो दो पटल दिखाई देते हैं बेयर के कथनानुसार पहले वे दो और पटलों में विभक्त होते हैं। ये चार पटल पीछे चार कोशों के रूप में हो जाते हैं जिनसे शरीर के चार विभाग सूचित होते हैं—त्वक्कोश, पेशीकोश, नाड़ीघटकोश और लालाकोश।

बेयर का सबसे बड़ा काम मनुष्य गर्भांड का पता लगाना था। पहले लोग समझते थे कि गर्भाशय में डिंभकोश[1] के भीतर जो बहुत से सूक्ष्म संपुट दिखाई पड़ते हैं वे ही गर्भांड हैं। १८२७ में बेयर ने पहले पहल सिद्ध किया कि वास्तविक गर्भांड इन संपुटों के भीतर बंद रहते हैं और बहुत छोटे-एक इंच के १२०वें भाग के बराबर-होते हैं और बिंदु के समान दिखाई देते हैं। उसने दिखलाया कि स्तन्य जीवों के इस सूक्ष्म गर्भांड से पहले एक बीजवर्तुल या कलल[2] उत्पन्न होता है। यह बीजवर्तुल एक खोखला गोला होता है जिसके भीतर एक प्रकार का रस भरा रहता है। इस गोले का जो झिल्लीदार आवरण होता है उसे बीजकला कहते हैं। बेयर के इस बीजकला सिद्धांत की स्थापना के दस वर्ष पीछे सन् १८३८ में जब घटकवाद स्वीकृत हुआ तब अनेक प्रकार के नए प्रश्न उठे? गर्भांड तथा बीजकला का उन घटकों और तंतुओं से क्या संबंध है जिनसे मनुष्य का पूर्ण शरीर बना है। इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर रेमक और

---

१. ये डिंभकोश गर्भाशय के दोनों ओर होते हैं और पुरुष के अंडकोश के स्थान पर हैं। जिस प्रकार पुरुष के अंडकोश के भीतर शुक्रकीटाणु रहते हैं उसी प्रकार इन कोशों के भीतर गर्भांड या रजः कीटाणु रहते हैं।

२. हारीत ने लिखा है कि प्रथम दिन शुक्र शोणित के संयोग से जिस सूक्ष्म पिंड की सृष्टि होती है उसे कलल कहते हैं।

कालिकर नामक मूलर के दो शिष्यों ने दिया। उन्होंने दिखलाया कि गर्भांड पहले एक सूक्ष्म घटक मात्र रहता है। गर्भित होने पर उत्तरोत्तर विभाग द्वारा उसी से जो अनेक बीजवर्तुल या कलल होते जाते हैं वे भी शुद्ध घटक ही हैं। उनके शहतूत की तरह के गुच्छे से पहले कलाओं या झिल्लियों की रचना होती है, फिर विभेद या कार्य-विभाग क्रम द्वारा भिन्न भिन्न अवयवों की सृष्टि होती है। कालिकर ने यह भी स्पष्ट किया कि नरजीवों का वीर्य भी सूक्ष्म घटकों ही का समूह है। उसमें आलपीन के आकार के जो अत्यंत सूक्ष्म वीर्यकीटाणु होते हैं वे रोईंदार घटक मात्र हैं जैसा कि मैंने १८६६ में स्पंज (मुरदा बादल) की बीजकलाओं को लेकर निर्धारित किया था। इस प्रकार जीवोत्पत्ति के दोनों उपादानों-पुरुष के वीर्य कीटाणु और स्त्री के गर्भांड—का सामंजस्य घटकसिद्धांत के साथ पूर्णतया हो गया। इस आविष्कार का दार्शनिक महत्व कुछ दिनों पीछे स्वीकार किया गया।

गर्भसंबंधी विधानों की जाँच पहले पक्षियों के अंडों की परीक्षा द्वारा की गई थी। इस प्रकार की परीक्षा द्वारा हम देख सकते हैं कि किस प्रकार तीन सप्ताहों के बीच एक के उपरांत दूसरी रचना उत्तरोत्तर होती है। इस परीक्षा द्वारा बेयर को केवल इतना ही पता लगा कि बीजकलाओं की आकृति और अवयवों की सृष्टि का क्रम सब मेरुदंड; रीढ़वाले जीवों में एक प्रकार का है, पर बिना रीढ़वाले असंख्य कीटों को गर्भवृद्धि दूसरे ही ढंग से होती है; अधिकांश में बीज कलाओं के कोई चिह्न दिखाई ही नहीं पड़ते। थोड़े दिन पीछे कुछ बिना रीढ़वाले कीटों में भी—जैसे कई प्रकार के सामुद्रिक घोंघों और उद्भिदाकार कृमियों में—ये बीज कलाएँ पाई गईं। १८८६ में कोवालुस्की नामक एक वैज्ञानिक ने एक बड़ी भारी बात का पता

लगाया। उसने दिखलाया कि सबसे क्षुद्र रीढ़वाले जंतु अकरोटी मत्स्य[1] का गर्भस्फुरण भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार बिना रीढ़वाले जीवों का। मैं उन दिनों स्पंजों, मूँगों तथा उद्भिदाकार कृमियों के गर्भस्फुरण विधान का अन्वेषण कर रहा था। जब मैंने इन समस्त जीवों में इन दो बीजकलाओं को पाया तब मैंने निश्चित किया कि गर्भ का यह लक्षण समस्त जीवधारियों में पाया जाता है। विशेष ध्यान देने की बात मुझे यह प्रतीत हुई कि स्पंजों और छत्रक[2] आदि कुछ उद्भिदाकार कृमियों का शरीर बहुत दिनों तक—और किसी किसी का तो आयुभर घटकों के दो पटल या कलाओं के रूप में ही रहता है। इन सब परीक्षाओं के आधार पर मैंने १८७२ में गर्भस्फुरण संबंधी अपना द्विकलघट सिद्धांत प्रकाशित किया जिसकी मुख्य मुख्य बातें ये हैं :—

(१) समस्त जीवसृष्टि दो भिन्न वर्गों में विभक्त है—एकघटक आदिम अणुजीव[3] तथा अनेकघटक समष्टिजीव। अणुजीव का सारा शरीर आयुभर एक घटक के रूप में, अथवा घटकों के ऐसे समूह के रूप में जो तंतुओं द्वारा संबद्ध वा एकीकृत नहीं होता, रहता है।

---

१. जोंक के आकार की चार पाँच अंगुली की लंबी एक प्रकार की मछली जो समुद्र के किनारे बालू में बिल बनाकर रहती है। इसे कहीं रीढ़ नहीं होती, नरम लचीली हड्डियों का तरुणास्थिदंड होता है। कपाल भी इसे नहीं होता। इसी से यह अकरोटी अक्रानिया वर्ग में समझी जाती है।

२. यह जंतु खुमी या छत्रक के आकार का होता है पर इसमें एक मध्यदंड के स्थान पर किनारे की ओर कई पैर सूत की तरह के होते हैं जिनसे वह समुद्र पर तैरा करता है।

३. ये अणुजीव जल में पाए जाते हैं और अच्छे खुर्दबीन के द्वारा ही देखे जा सकते हैं।

समष्टिजीव का शरीर आरंभ में तो एकघटक रहता है पर पीछे अनेक ऐसे घटकों का हो जाता है जो मिलकर जाल के रूप में गुछ जाते हैं।

(२) अतः इन दोनों जीववर्गों के प्रजनन और गर्भस्फुरण का क्रम भी अत्यंत भिन्न होता है। अणुजीवों की वृद्धि अमैथुनीय विधान से अर्थात् विभागपरंपरा[1] द्वारा होती है; उनमें गर्भकीटाणु और वीर्यकीटाणु नहीं होते। पर समष्टिजीवों में पुरुष और स्त्री का भेद होता है। उनका प्रजनन मैथुन विधान से अर्थात् गर्भकीटाणु से होता है जो शुक्रकीटाणु द्वारा गर्भित होता है।

(३) अतः वास्तविक बीजकलाएँ और उनसे बने हुए तंतु केवल समष्टिजीवों में होते हैं, अणुजीवों में नहीं।

(४) सारे समष्टिजीवों के गर्भकाल में पहले ये ही दो कलाएँ—आवरण या झिल्लियाँ प्रकट होती हैं। ऊपरी कला से बाहरी त्वक् और संवेदनसूत्रों का विधान होता है, भीतरी कला से अंत्र तथा और और अवयव उत्पन्न होते हैं।

(५) गर्भाशय में स्थित बीज को, जो गर्भित रजःकीटाणु से पहले-पहल निकलता है और दो कलाओं के रूप में ही होता है, द्विकलघट कह सकते हैं। इसका आकार कटोरे का सा होता है। आरंभ में इसके भीतर केवल वह खोखला स्थान होता है जिसे आदिम जठराशय कह सकते हैं और बाहर की ओर एक छिद्र होता है जिसे आदिम मुख कह सकते हैं। समष्टिजीवों के शरीर के ये ही सबसे पहले उत्पन्न होने-

---

१. ऐसे जीवों की वंशवृद्धि विभाग द्वारा इस प्रकार होती है। एक अणुजीव जब बढ़ते बढ़ते बहुत बढ़ जाता है तब उसकी गुठली के दो विभाग हो जाते हैं। क्रमशः उस जीव का शरीर मध्य भाग से पतला पड़ने लगता है और अंत में उस जीव के दो विभाग हो जाते हैं।

वाले अवयव हैं। ऊपर लिखी दोनों कलाएँ या झिल्लियाँ ही आदि तंतुजाल हैं, उन्हीं से पीछे और सब अवयवों की उत्पत्ति होती है।

(६) सारे समष्टिजीवों के गर्भविधान में इस द्विकलघट को पाकर मैंने सिद्धांत निकाला कि सारे समष्टिजीव आदि में मूल द्विकलात्मक जीवों से उत्पन्न हुए हैं और मूल जीवों का यह रूप अबतक बड़े जीवों की गर्भावस्था में पितृपरंपरा के धर्मानुसार पाया जाता है।

(७) वर्गोत्पत्तिविषयक इस सिद्धांत की पुष्टि इस बात से पूर्णतया होती है कि अब भी ऐसे द्विकलात्मक जीव पाए जाते हैं। यहीं तक नहीं है, ऐसे भी जीव; स्पंज, मूँगा आदि ८ामुद्रिक जीव, मिलते हैं जिनकी बनावट इन द्विकलात्मक जीवों से थोड़ी ही उन्नत होती है।

(८) द्विकलघट से घटकजाल के रूप में संयोजित होकर बढ़नेवाले समष्टिजीवों के भी दो प्रधान भेद हैं—एक तो आदिम रूप के जिनके शरीर में कोई आशय, मलद्वार और रक्त नहीं होता; स्पंज आदि समुद्र के जीव इसी प्रकार के हैं; दूसरे उनसे पीछे के और उन्नत शरीर वाले जिनके शरीर में आशय, मलद्वार और रक्त होता है। इन्हींके अंतर्गत सारे कृमि, कीट आदि हैं जिनसे क्रमशः शंबुक सीप, घोंघे आदि रज्जुदंडजीव जिनके शरीर में रीढ़ के स्थान पर रज्जु के आकार का एक लचीला दंड होता है और मेरुदंड जीव हुए हैं।

यही मेरे द्विकलघटसिद्धांत का सारांश है। पहले तो इसका चारो ओर से विरोध किया गया पर अब इसे प्रायः सब वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर लिया है। अब देखना यह है कि इससे क्या क्या परिणाम निकलते हैं। बीज के इस विकासक्रम की ओर ध्यान देने से सृष्टि के बीच मनुष्य की क्या स्थिति निर्धारित होती है?

और जंतुओं के समान मनुष्य का रजःकीटाणु भी एक सादा घटक मात्र है। यह सूक्ष्म घटकांड जिसका व्यास $\frac{१}{१२०}$ इंच के लगभग होता

है ,आकारप्रकार में वैसा ही होता है जैसा कि और सजीव डिंभप्रसव करनेवाले जीवों का। कलल की सूक्ष्म गोली एक झलझलाती हुई झिल्ली से आवृत रहती है। यहाँतक कि कललरस की इस गोली के भीतर जो बीजाशय या गुठली होती है वह भी उतनी ही बड़ी और वैसी ही होती है जितनी बड़ी और जैसी और स्तन्य जीवों में। यही बात पुरुष के शुक्रकीटाणु के विषय में भी कही जा सकती है। ये शुक्रकीटाणु भी सूत या आलपीन के आकार के रोएँदार अत्यंत सूक्ष्म घटक मात्र हैं जो वीर्य के एक बूँद में न मालूम कितने लाख होते हैं। इन दोनों मैथुनीय घटकों की उत्पत्ति समस्त स्तन्य जीवों में समान रूप से अर्थात् मूल बीजकलाओं से होती है।

प्रत्येक मनुष्य क्या समष्टिजीव मात्र के जीवन में वह क्षण बड़े महत्व का है जिसमें उसका व्यक्तिगत अस्तित्व आरंभ होता है। यह वही क्षण है जिसमें उसके माता पिता के पुरुष और स्त्री घटक; रजःकीटाणु और शुक्रकीटाणु परस्पर मिलकर एक घटक हो जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न नया घटक मूलघट कहलाता है जिसके उत्तरोत्तर विभागक्रम द्वारा ऊपर कही हुई दोनों कलाओं या झिल्लियों को बनानेवाले घटक उत्पन्न होते हैं। इसी मूलघट की स्थापना अर्थात् गर्भाधान के साथ ही व्यक्ति का अस्तित्व आरंभ होता है। गर्भाधान की इस प्रक्रिया से कई बातों का निरूपण होता है। पहली बात तो यह कि मनुष्य अपनी शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ अपने मातापिता से प्राप्त करता है। दूसरी बात है कि जो नूतन व्यक्ति इस प्रकार उद्भूत होता है वह 'अमरत्व' का दावा नहीं कर सकता।

गर्भाधान के विधानों का ठीक ठीक ब्योरा १८७५ में प्राप्त हुआ जब कि हर्टविग ने अपने अनुसंधान का फल प्रकाशित किया। हर्टविग ने पता लगाया कि गर्भाधान में सबसे पहली बात पुरुष और स्त्री घटक का, रजःकीटाणु और वीर्यकीटाणु का, तथा उनकी गुठलियों

का परस्पर मिलकर एक हो जाना है। गर्भाशय के भीतर बहुत से शुक्रकीटाणु गर्भकीटाणु को घेरते हैं; पर उनमें से केवल एक ही उसके भीतर गुठलीतक घुसता है। घुसने पर दोनों की गुठलियाँ एक अद्भुत शक्ति द्वारा, जिसे प्राण से मिलतीजुलती एक प्रकार की रासायनिक प्रवृत्ति समझना चाहिए, एक दूसरे की ओर वेग से आकर्षित होकर मिल जाती हैं। इस प्रकार पुरुष और स्त्री गुठलियों के संवेदनात्मक अनुभव द्वारा, जो एक प्रकार के रासायनिक प्रेमाकर्षण (हरोटिक केमिको ट्रापिज्म) के अनुसार होता है, एक नवीन अंकुरघटक की सृष्टि होती है जिसमें माता और पिता दोनों के गुणों का समावेश होता है।

मूलघट के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा बीजकलाओं की रचना, द्विकलघट की उत्पत्ति तथा और और अंगों के विधान का क्रम मनुष्यों और दूसरे उन्नत स्तन्य जीवों में एक ही सा है। स्तन्यजीवों के अंतर्गत जरायुज जीवों में जो विशेषताएँ हैं वे गर्भ की प्रारंभिक अवस्था में नहीं दिखाई पड़तीं। द्विकलघट के उपरांत रज्जुदंड की उत्पत्ति समस्त मेरुदंड जीवों के भ्रूण में एक ही प्रकार से होती है। भ्रूणपिंड की लंबाई के बल बीचोबीच एक पृष्ठरज्जु (डोर्सल कोर्ड) प्रकट होता है। फिर इस पृष्ठरज्जु के ऊपर तो बाहरी कला (झिल्ली) से मज्जा निकलकर चढ़ने लगती है और नीचे आशय; आमाशय, अंत्र आदि, प्रकट होने लगते हैं। इसके अनंतर पृष्ठदंड के दाहिने और बाएँ दोनों ओर उसकी शाखाओं का विधान होता है और पेशीपटल के ढांचे बनते हैं जिनसे भिन्न भिन्न अवयवों की रचना आरंभ होती है। आशय के अग्रभाग अर्थात् गलप्रदेश में गलफड़ों के दो छेद उसी प्रकार के उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के मछलियों में होते हैं। मछलियों में तो ये गलफड़े इसलिये होते हैं कि श्वास के लिए जो जल मुख के मार्ग से चला जाता है वह इनसे होकर बाहर निकल जाय। पर

मनुष्य के भ्रूण में इनका कोई प्रयोजन नहीं होता। इनसे केवल यही बात सूचित होती है कि मनुष्य का विकास भी इन जलचर पूर्वज जीवों से ही क्रमशः हुआ है। इसीसे जलचर पूर्वजों का यह लक्षण मनुष्य में अबतक गर्भावस्था में देखा जाता है। कुछ काल पीछे ये गलफड़े मनुष्य भ्रूण में नहीं रह जाते, गायब हो जाते हैं। फिर तो इस मत्स्याकार गर्भपिंड में कपाल आदि की विशेषताएँ प्रकट होने लगती हैं, हाथ पैर के अंकुर निकलने लगते हैं और आँख, कान आदि के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था में भी यदि मनुष्य-भ्रूण को देखें तो उसमें और दूसरे मेरुदंड जीवों के भ्रूण में कोई विभिन्नता नहीं दिखाई देती।

मेरुदंड जीवों की तीनों उन्नत जातियों, सरीसृप, पक्षी और स्तन्य, के भ्रूण झिल्लियों के कोश के भीतर रहते हैं जो जल से भरा रहता है। इस जल में भ्रूण पड़ा रहता है और आघात आदि से बचा रहता है। इस जलमय कोश की व्यवस्था उस युग में हुई होगी जिसमें जल-स्थलचारी जीवों से स्थलचारी सरीसृप आदि के पूर्वज उत्पन्न हुए होंगे। मछलियों और मेढकों के भ्रूण इस प्रकार की झिल्ली से रक्षित नहीं रहते।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य जरायुज जीव है। पर जरायु भी एकबारगी नहीं उत्पन्न हुआ है। पहले उत्पन्न होनेवाले निम्न कोटि के जरायुजों में चक्रनालयुक्त पूर्ण जरायु का विधान नहीं होता। उनके गर्भपिंड की सारी ऊपरी झिल्ली पर छेददार रोइयाँ सी उभरी होती हैं जो गर्भाशय के त्वक् से कुछ लगी रहती हैं पर बहुत जल्दी अलग हो सकती हैं। ह्वेल आदि कुछ जलचर स्तन्य तथा घोड़े, ऊँट आदि कुछ खुरपाद इसी प्रकार के अपूर्ण जरायुज जंतु हैं। पूर्ण जरायुजों में माता के गर्भाशय की झिल्ली से लगा हुआ जरायु का भाग एक चक्र के आकार का होता है जिसके पृष्ठ भाग से एक नाल

भ्रूणपिंड तक गया रहता है। यह जरायुकचक्र माता के गर्भाशय की दीवार से बिल्कुल मिला रहता है जिससे प्रसव होनेपर इस चक्र के साथ गर्भाशय का कुछ भाग भी उचड़ आता है और कुछ रक्तस्राव भी होता है। मनुष्य के गर्भपिंड में भी एकबारगी पूर्ण जरायु का विधान नहीं हो जाता, पहले वह अपूर्ण रूप में रहता है जैसा कि अपूर्ण जरायुओं में; फिर चक्र और नाल के रूप में आता है। हाथी का जरायु बलय के आकार का होता है। चूहे, गिलहरी, खरहे आदि कुतरनेवाले जंतुओं तथा घूस, बनमानुस और मनुष्य का जरायु चक्राकार होता है।

गर्भ की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य के भ्रूण और दूसरे मेरुदंड जीवों के भ्रूण के बीच यह सादृश्य ध्यान देने योग्य है। इस सादृश्य का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि समस्त जीव एक ही आदिम जीव से उत्पन्न हुए हैं—जीवों के भिन्न भिन्न रूप एक ही आदि पुरातनरूप से प्रकट हुए हैं। गर्भ की विशेष अवस्था में हम मनुष्य, बंदर, कुत्ते, सूअर, भेड़ इत्यादि के भ्रूणों में कोई विभेद नहीं कर सकते। इसका कारण एक मूल से उत्पत्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? विकासवाद के विरोधी बहुत दिनों तक मनुष्य-भ्रूण के जरायु आदि में कुछ विशेषताएँ बतलाकर मनुष्य की स्वतंत्र उत्पत्ति का राग अलापते रहे। पर १८३० में सेलेनका ने ओरंग नामक बनमानुस के भ्रूण में भी उन विशेषताओं को स्पष्ट दिखा दिया। फिर तो हक्सले का यह सिद्धांत और भी पुष्ट हो गया कि 'मनुष्य और उन्नत बनमानुषों के बीच उतना भेद नहीं है जितना नराकार बनमानुसों और निम्न श्रेणी के बंदरों के बीच।'

शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से जो मनुष्य के गर्भस्फुरण-क्रम को देखेगा और उसे दूसरे स्तन्य जीवों के गर्भविधान से मिलावेगा उसे मनुष्य की उत्पत्ति को समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

———

पाँचवाँ प्रकरण

मनुष्य की उत्पत्ति

जीवविज्ञान की सब शखाओं में जीववर्गोत्पत्ति विद्या सब से पीछे निकली है। इसका प्रादुर्भाव भी गर्भविकास विद्या के पीछे हुआ है और इसके मार्ग में कठिनाइयाँ भी बहुत अधिक पड़ी हैं। गर्भ-विकास विद्या का उद्देश्य उन विधानों का परिज्ञान प्राप्त करना है जिनके अनुसार उद्भिद् या जंतु का शरीर मूलांड से क्रमशः उत्पन्न होता है, पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या इस बात का निर्णय करती है कि जीवों के भिन्न भिन्न वर्ग किस प्रकार उत्पन्न हुए।

गर्भविकास विद्या में तो बहुत सी बातों को प्रत्यक्ष देखने का सुभीता है; क्योंकि वे बातें हमारे सामने बराबर होती रहती हैं। गर्भांड से स्फुरित होनेपर भ्रूण में एक एक दिन और एक एक घड़ी में उत्तरोत्तर क्या क्या परिवर्तन होते हैं यह देखा जा सकता है। पर जीववर्गोत्पत्ति विद्या का विषय परोक्ष होने के कारण अधिक कठिन है। उन क्रियाविधानों के धीरे धीरे होने में जिनके द्वारा उद्भिदों और प्राणियों के नए नए वर्गों की क्रमशः सृष्टि होती है, लाखों वर्ष लगते हैं। उनके बहुत ही थोड़े अंश का प्रत्यक्ष हो सकता है। उन क्रियाविधानों का परिज्ञान हमें अनुमान और चिंतन द्वारा तथा गर्भविधान और निःशेष जीवों के भूगर्भस्थित अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा ही विशेषतः होता है। प्राणियों के विकास के इस वैज्ञानिक निरूपण का पहले बहुत विरोध किया गया क्योंकि वह देवकथाओं और धर्मसंबंधी प्रवादों के प्रतिकूल था। प्राचीन समय में

सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में बहुत सी कथाएँ भिन्न भिन्न मतों में प्रचलित थीं। योरप में ईसाई धर्म का डंका बजता था। ईसाई धर्माचार्य ही ऐसे विषयों के निर्णय के अनन्य अधिकारी माने जाते थे। अतः उनका निर्णय इंजील में जो सृष्टि की उत्पत्ति की कथा लिखी है, उसी के अनुसार होता था। यहाँतक कि सन् १७३५ में जब लिने नामक स्वेडन के एक वैज्ञानिक ने संसार के जीवों का वर्गविभाग किया तब वह भी बाइबिल का सिद्धांत मानते हुए चला। बड़ा भारी काम उसने यह किया कि प्राणिविज्ञान में वर्गविवरण के लिए दोहरे नामों की प्रथा चलाई। प्रत्येक जंतु के लिए एक तो उसने भेदसूचक या योनिसूचक नाम रक्खा; फिर उसके आदि में उसका वर्गसूचक नाम रख दिया। जैसे श्वन् शब्द के अंतर्गत उसने कुत्ता, भेड़िया, गीदड़, लोमड़ी आदि जंतु के लिए, फिर इन जंतुओं को इस प्रकार अलग अलग वैज्ञानिक नाम दिए—श्वकुक्कुर (पालतू कुत्ता), श्ववृक (भेड़िया), श्वजंबुक (गीदड़), श्वलोमशा (लोमड़ी)। श्वन् एक वर्ग का नाम हुआ और कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़ आदि अलग अलग विशिष्ट योनियों के नाम हुए। दोहरे नामकरण की यह प्रथा इतनी उपयोगी सिद्ध हुई कि इसका प्रचार वैज्ञानिक मंडली में हो गया।

लिने ने जीवों का वर्गविभाग तो किया पर वह भिन्न भिन्न वर्गों के अवांतर भेदों या विशिष्ट उत्पत्तिक्रम आदि का कुछ विवेचन न कर सका। बाइबिल की बात को मानते हुए उसने यही कहा कि संसार में उतनी ही योनियाँ दिखाई पड़ती हैं जितनी के ढाँचे सृष्टि के आरंभ में ईश्वर ने गढ़े थे[1]। इस भ्रांत विचार के कारण जीववर्गोत्पत्ति के

१. पुराणों में तो इन योनियों की गिनती चौरासी लाख बतला दी गई है। उनके अनुसार इतनी ही योनियाँ सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न की गई थीं, इतनी ही बराबर रही हैं और इतनी ही रहेंगी।

परिज्ञान के लिए कोई वैज्ञानिक प्रयत्न बहुत दिनोंतक नहीं हो सका। लिने को केवल उन्हीं जीवों और उद्भिदों का परिज्ञान था जो इस समय पृथ्वीपर मिलते हैं। उसे उन जीवों की कुछ भी खबर न थी जो किसी समय इस पृथ्वीपर रहते थे पर अब जिनके केवल अस्थि-पंजर भूगर्भ के नीचे दबे मिलते हैं।

इन पंजरावशिष्ट जीवों की खबर पहलेपहल सन् १८१२ के लगभग क्यूवियर ने दी। उसने इन अप्राप्य जीवों के संबंध में एक पुस्तक लिखी जिसमें इनका सविस्तर विवरण दिया। उसने दिखलाया कि इस पृथ्वी पर भिन्न भिन्न कल्पों में भिन्न भिन्न जीव परंपरानुसार एक दूसरे के पीछे रहे हैं। पर क्यूवियर ने भी लिने के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों को अचल और स्थायी माना। इससे उसे पृथ्वी के इतिहास में संहार और नवीन सृष्टि अनेक बार होने की कल्पना करनी पड़ी। उसने बतलाया कि प्रत्येक प्रलय के समय सब जीवों का नाश हो जाता है और फिर से सब नए जीवों की सृष्टि होती है। क्यूवियर का यह 'प्रलयवाद' नितांत भ्रांतिमूलक होनेपर भी तबतक सर्वमान्य रहा जबतक डारविन का समय आकर नहीं उपस्थित हुआ।

पर विविध योनियों को स्थिर और अपरिणामशील तथा उनकी सृष्टि को दैवी विधान मानने से विचारशील पुरुषों को संतोष नहीं हुआ। कुछ लोग सृष्टिविधान के प्राकृतिक हेतुओं के निरूपण की चेष्टा में लगे रहे। इनमें मुख्य था जर्मनी का प्रसिद्ध कवि और तत्व-वेत्ता गेटे जिसने भिन्न भिन्न जीवों के शरीरों की परीक्षा करके समस्त जीवधारियों के परस्पर घनिष्ठ संबंध और एक मूल से उत्पत्ति का निश्चय किया। सन् १७९० में उसने सब प्रकार के पौधों को एक आदिम पत्ते से निकला हुआ बतलाया। मेरुदंड और कपाल की परीक्षा द्वारा उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मनुष्य से लेकर समस्त मेरुदंड जीवों के कपाल एक विशेष क्रम से बैठाई हुई

हड्डियों के समूह से बने हैं और ये हड्डियाँ मेरुदंड या रीढ़ के विकार या रूपांतर मात्र हैं। इस सूक्ष्म पंजरपरीक्षा के आधारपर उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि सारे जीवों की उत्पत्ति एक ही मूल से है। उसने दिखलाया कि मनुष्य का पंजर भी उसी ढाँचेपर बना है जिस ढाँचेपर और रीढ़वाले जीवों का। उस मूल ढाँचे में पीछे से परिवर्तन या विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाली दो प्रधान विधायिनी शक्तियाँ हैं— एक तो शरीर के भीतर की अंतर्मुख शक्ति जो केंद्र की ओर ले जाती है और नियति या विशिष्टता की ओर प्रवृत्त करती है और दूसरी बहिर्मुख शक्ति जो केंद्र के बाहर ले जाती है और रूपांतर अर्थात् बाह्यावस्थानुरूप परिवर्तन की ओर प्रवृत्त करती है। पहली शक्ति वही है जिसे आजकल पैतृक प्रवृत्ति[1] कहते हैं और दूसरी वह है जो अब स्थितिसामंजस्य[2] कहलाता है। गेटे के विचार यद्यपि अनेक प्रकार के प्रमाणों से पुष्ट नहीं हो पाए थे पर उनसे डारविन और लामार्क के सिद्धांतों का आभास पहले से मिल गया।

जीवों के क्रमशः रूपांतरित होने का सिद्धांत पूर्णरूप से फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क द्वारा ही स्थापित हुआ। १८०२ में उसने जीवों की परिवर्तनशीलता और रूपांतरविधान के संबंध में अपने नवीन विचार प्रकट किए जिन्हें आगे चलकर उसने पूर्णरूप से स्थिर किया। पहलेपहल उसीने जीवभेदों के स्थायित्वसंबंधी प्रवाद के विरुद्ध यह

---

१. पैतृक प्रवृत्ति द्वारा जीवों का एक विशिष्ट ढाँचा वंशपरंपरागत बराबर चला चलता है।

२. स्थितिसामंजस्य के द्वारा बाह्य अवस्था के अनुसार प्राणियों के अंगों में कुछ विभेद होता जाता है। जैसे मछली और मेढक के शरीर का भेद जो जल की स्थिति से जल और स्थल की उभयात्मक स्थिति में आने के कारण हुआ है।

मत प्रकट किया कि योनिभेद भी जाति, वर्ग, कुल आदि के समान बुद्धिकृत प्रत्याहार या सापेक्ष भावनामात्र है। उसने निर्धारित किया कि सब योनियाँ (जीवभेद) परिवर्तनशील हैं और काल पाकर अपने से प्राचीन योनियों से उत्पन्न हुई हैं। जिन आदिम मूल जीवों से ये सब योनियाँ उत्पन्न हुई हैं वे अत्यंत क्षुद्र और सादे जीव थे। सब से आदिम मूल जीव जड़ द्रव्य से उत्पन्न हुए थे। पैतृक प्रवृत्ति द्वारा ढाँचे का मूलरूप तो बराबर वंशपरंपरानुगत चला चलता है पर स्वभावपरिवर्तन और अवयवों के न्यूनाधिक प्रयोगभेद द्वारा स्थितिसामंजस्य जीवों में बराबर फेरफार करता रहता है। हमारा यह मनुष्यशरीर भी इसी प्राकृतिक क्रिया के अनुसार बनमानुसों के शरीर से क्रमशः परिवर्तित होते होते बना है। सृष्टि के समस्त व्यापारों का क्या बाह्य क्या मानसिक—प्रकृत कारण लामार्क ने भौतिक और रासायनिक क्रियाओं को ही माना।

आदि ही से एक एक जीव की स्वतंत्र सृष्टि माननेवालों का भ्रम तो लामार्क ने अच्छी तरह दिखला दिया पर उसके सिद्धांतों का अच्छा प्रचार न हो सका। अधिकांश वैज्ञानिक उसका विरोध ही करते रहे। इस विषय में पूर्ण सफलता आगे चलकर डारविन को हुई। उसने अपने समय के सब वैज्ञानिकों से बढ़कर काम किया। उसने अपने 'योनियों की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ के द्वारा विज्ञानक्षेत्र में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। उसके सिद्धांत से सृष्टिसंबंधी बहुत सी समस्याओं का समाधान हो गया। प्राणिविज्ञान के भिन्न भिन्न विभागों में जिन जिन बातों का पता लगा था सबका सामंजस्य डारविन ने अपने उत्पत्ति सिद्धांत में किया। यही नहीं, उसने एक रूप के जीव से वंशपरंपराक्रम द्वारा दूसरे रूप के जीव में परिणत होने का जो कारण 'ग्रहण क्रिया' है उसका भी पता लगाया। उसने दिखाया कि जिस प्रकार मनुष्य कुछ विशेषता रखनेवाले जंतुओं को

चुनकर उनसे एक नए प्रकार की नसलें पैदा करता है उसी प्रकार प्रकृति भी रक्षा के लिए ऐसे जीवों को चुन लेती है जिनमें स्थिति के अनुकूल अंग आदि में विशेषता आ जाती है। इस प्रकार उसने प्राकृतिक 'ग्रहण सिद्धांत' की स्थापना की[1]।

---

१. इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि जिस स्थिति में जो जीव पड़ जाते हैं उस स्थिति के अनुरूप यदि वे अपने को बना सकते हैं तो रह सकते हैं अन्यथा नहीं; अतः जितने जीवों के अंग आदि स्थिति के अनुकूल बन जाते हैं उतने रह जाते हैं, जिनके नहीं बनते वे नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रकृति इस प्रकार चुने हुए जीवों को रक्षा के लिए ग्रहण करती है। स्थिति के अनुकूल बनने की क्रिया के कारण ही जीवों के अंगों में भिन्नता आती है और भिन्न भिन्न रूप के जीव उत्पन्न होते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि स्थितिपरिवर्तन के अनुरूप किसी वर्ग के कुछ जीवों में यदि औरों से कोई विशेषता उत्पन्न हो जाती है तो वह विशेषता पुश्त दर पुश्त चली चलती है। इस रीति से उस वर्ग में एक नए ढाँचे के जंतु का विकास हो जाता है। जंतुव्यवसायी प्रायः ऐसा करते हैं कि किसी वर्ग के कुछ जंतुओं में कोई विलक्षणता देखकर उनको चुन लेते हैं, और उन्हीं के जोड़े लगाते हैं। फिर उन जोड़ों से जो जंतु उत्पन्न होते हैं उनमें से भी उन्हें चुनते हैं जिनमें वह विलक्षणता अधिक होती है। इस रीति से वे कुछ पुश्तों के पीछे एक नए ढाँचे का जंतु ही उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे जंगली नोले (गोले) कबूतर से अनेक रंग और ढंग के पालतू कबूतर बनाए गए हैं। यह तो हुआ मनुष्य का चुनाव या 'कृत्रिम ग्रहण'। इसी प्रकार का चुनाव या ग्रहण प्रकृति भी करती है जिसे 'प्राकृतिक ग्रहण' कहते हैं। दोनों में अंतर यह है कि मनुष्य अपने लाभ के विचार से जंतुओं को चुनता है पर प्रकृति का यह चुनाव जीवों के लाभ के लिए होता है। प्रकृति उन्हीं जीवों को रखने के लिए चुनती या रहने देती है जिनमें स्थितिपरिवर्तन के अनुकूल अंग आदि हो जाते हैं। हेल को लीजिए। उसके गर्भ की अवस्थाओं का अन्वीक्षण करने से पता चलता है कि वह स्थलचारी जंतुओं से उत्पन्न हुआ है, उसके पूर्वज पानी के किनारे दलदलों के पास रहते थे फिर क्रमशः ऐसी अवस्था आती गई जिससे उनका जमीनपर रहना कठिन होता

जीवविज्ञान में डारविन ने इस बातपर बहुत जोर दिया कि जंतुओं और उद्भिदों की उत्पत्तिपरंपरा स्थिर कर दी जाय। किस प्रकार एक प्रकार के जीवों से उत्तरोत्तर अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि होती गई इसका क्रम निर्धारित कर दिया जाय। तदनुसार सन् १८६६ में मैंने इस विषयपर एक पुस्तक लिखकर इस बात का प्रयत्न किया। पहले एक विशिष्ट रूप के जीव को लेकर मैंने यह दिखलाया कि किस प्रकार गर्भावस्था में क्रमशः उसके विविध अंगों का स्फुरण होता है, फिर यह निर्धारित किया कि किस क्रम से सजीवसृष्टि में उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न रूपों, योनियों का विधान हुआ है। विकास से पहले गर्भ का उत्तरोत्तर स्फुरण ही समझा जाता था। पर मैंने यह स्थिर किया कि गर्भ के उत्तरोत्तर क्रमविधान के अनुसार ही जीववर्गों का भी उत्तरोत्तर क्रमविधान हुआ है जिस क्रम से भ्रूण

गया और स्थितपरिवर्तन के अनुसार उनके अवयवों में फेरफार होता गया, यहाँतक कि कुछ काल पीछे उनकी संतति में जल में रहने के उपयुक्त अवयवों का विधान हो गया, जैसे उनके अगले पैर मछली के परों के रूप के हो गए, यद्यपि उनमें हड्डियाँ वेही बनी रहीं जो घोड़े, गदहे आदि के अगले पैर में होती हैं। कई प्रकार के ह्वेलों में पिछली टाँगों का चिह्न अबतक मिलता है।

जीवों के ढाँचों में बहुत कुछ परिवर्तन तो अवयवों के न्यूनाधिक व्यवहार के कारण होता है। अवस्था बदलनेपर कुछ अवयवों का व्यवहार अधिक करना पड़ता है और कुछ का कम। जिनका व्यवहार अधिक होने लगता है वे वृद्धि को प्राप्त होने लगते हैं और जिनका कम होने लगता है वे दब जाते हैं। मनुष्य ही को लीजिए, जिसकी उत्पत्ति बनमानुसों से धीरे धीरे हुई है। ज्यों त्यों ज्यों दो पैरों के बल खड़े होने और चलने की वृत्ति अधिक होती गई त्यों त्यों उसके पैर चिपटे, चौड़े और कुछ दृढ़ होते गए और पँड़ी पीछे की ओर कुछ बढ़ गई। बनमानुष से मनुष्य में ढाँचे आदि का बहुत अधिक विभेद नहीं हुआ। एक ही ओर बहुत अधिक विशेषता हुई; उसके अंतःकरण या मस्तिष्क की वृद्धि अधिक हुई।

गर्भ के भीतर एक अणुजीव से एक रूप के उपरांत दूसरे रूप को प्राप्त होता हुआ पूरा सावयव जंतु हो जाता है उसी क्रम से एकघटक अणुजीव से भिन्न भिन्न रूपों के छोटे बड़े जीवों की उत्पत्ति होती गई है। अस्तु, दोनों प्रकार के विकास समान नियमों के अनुसार होते हैं। गर्भविधान या व्यक्तिविकास विधान वर्गविकास विधान की संक्षिप्त उद्धरणी है जो प्रजनन और संरक्षण क्रियाओं के अनुसार होती है। सारांश यह कि व्यक्तिविकास और वर्गविकास का क्रम एक ही है।

उपर्युक्त सिद्धांत की व्यापकता का आभास लामार्क ने १८०९ में ही दे दिया था। उसने यह दिखा दिया था कि मनुष्य भी जीवों की उस शाखा से उत्पन्न हुआ है जिस शाखा से और सब स्तन्यजीव और स्तन्य-जीव भी उसी कांड से निकले हैं जिस कांड से और सब रीढ़वाले जंतु। उसने यहाँतक कहा कि मनुष्य का बनमानुस से निकलना दिखाया जा सकता है। डारविन भी इस सिद्धांतपर पहुँचा था पर उसने अपना यह मत बहुत दिनोंतक प्रकट नहीं किया। अंत में सन् १८७१ में 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में उसने अपना मत अत्यंत दृढ़ प्रमाणों से सिद्ध करके प्रकाशित किया।

इस बनमानुसी सिद्धांत के संबंध में सबसे कठिन कार्य अब यह रह गया कि मनुष्य के सब से निकटस्थ पूर्वजों और फिर उनके पहले के और प्राचीन पूर्वजों का पता चलाया जाय जो पृथ्वी के अत्यंत प्राचीन युग में थे और जिनका विकास करोड़ों वर्ष में हुआ था। मैं इस प्रकार की पूर्वज परंपरा दिखाने का प्रयत्न बराबर करता रहा। अंत में सन् १८९१ में मैंने अपने ग्रंथ का जो संस्करण निकाला उसमें भ्रूगर्भपंजरपरीक्षा, गर्भविज्ञान और शरीरविज्ञान के प्रमाणों के आधारपर जीवों की विकासपरंपरा निश्चित की। भूगर्भ की खोदाई और छानबीन से पीछे जो और ठठरियाँ मिलीं उनसे मेरे

निश्चित क्रम की और भी पुष्टि हुई। इस प्रकार गर्भविज्ञान और शरीरविज्ञान के आधारपर जो जीवोत्पत्ति परंपरा अर्थात् किस प्रकार के जीव से किस प्रकार के दूसरे जीव उत्पन्न हुए, निर्धारित हुई थी उसका सामंजस्य भूगर्भ में मिली हुई अप्राप्य जीवों की ठठरियों से पूरा पूरा हो गया। संक्षेप में यह परंपरा इस प्रकार है—

सब से पहले आदिम मत्स्य, फिर फेफड़ेवाले मत्स्य[1], फिर जलस्थलचारी जंतु मेढक आदि सरीसृप, और स्तन्य जंतु। स्तन्य जीवों में अंडजस्तन्य सबसे पहले हुए, फिर उन्हींसे क्रमशः थैलीवाले अजरायुज पिंडज और जरायुज जंतु उत्पन्न हुए। इन जरायुजों से ही किंपुरुष निकले जिनमें पहले बंदर फिर बनमानुस उत्पन्न हुए। पतली नाकवाले बनमानुसों में पहले पूँछवाले कुक्कुराकार बनमानुस हुए, फिर उनसे बिना पूँछवाले नराकार बनमानुस हुए। इन्हीं नराकार बनमानुसों की किसी शाखा से बनमानुसों के से गूंगे मनुष्य उत्पन्न हुए और उनसे फिर बोलनेवाले मनुष्यों की उत्पत्ति हुई।

रीढ़वाले जंतुओं के उत्पत्तिक्रम की शृंखला तो इस प्रकार मिल जाती है पर उनसे पहले के बिना रीढ़वाले जंतुओं की शृंखला मिलाना कठिन है। भूगर्भ के भीतर उनका कोई चिह्न नहीं मिल सकता; इससे प्राग्जंतुविज्ञान[2] कुछ सहायता नहीं दे सकता। पर तारतम्यिक शरीरविज्ञान और गर्भविज्ञान आदि के प्रमाणोंपर हम इस शृंखला को मूलतक ले जा सकते हैं। हम यह दिखला सकते हैं कि मनुष्य का भ्रूण भी दूसरे रीढ़वाले जंतुओं के भ्रूण के समान कुछ दिनोंतक सूत्रदंड अवस्था में; जब कि रीढ़ के स्थान में सूत की तरह लचीली

१. इस प्रकार की मछलियाँ अब बहुत कम मिलती हैं; आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका में दो तीन जातियाँ पाई जाती हैं। ये मछलियों और मेढक आदि जलस्थलचारी जंतुओं के बीच में हैं।

२. भूगर्भ के भीतर प्राचीन जंतुओं के चिह्नों की खोज करनेवाली विद्या।

शलाका होती है, रहता है। अतः जीव सृष्टि के नियमानुसार[1] हम निश्चित कर सकते हैं कि पूर्वकाल के जीव सूत्रदंड और द्विकलघट रूप के रहे हैं। सबसे अधिक ध्यान देने की बात तो यह है कि मनुष्य का भ्रूण भी और प्राणियों के भ्रूण के समान आदि में एक-घटक के रूप का ही होता है। यह एकघटक पिंड इस बात का पता देता है कि जीवसृष्टि के आदिम काल में एक घटक जीव ही रहे होंगे।

हमारे तत्वाद्वैतवाद की स्थापना के लिए बस इतना ही देखना काफी है कि मनुष्ययोनि बनमानुसयोनि से निकली है जो क्षुद्र मेरुदंड जीवों की परंपरा से विकसित हुई है। हाल में जो भूगर्भस्थपंजर मिले हैं उनसे इस बनमानुसी सिद्धांत की पुष्टि अच्छी तरह हो गई है। जरायुज जंतुओं के जो मांसभक्षी खुरपाद और किंपुरुष आदि भिन्न भिन्न वर्ग हैं उनकी परंपरा की शृंखला आजकल पाए जानेवाले जंतुओं को देखने से ठीक ठीक नहीं मिलती थी। बीच में बहुत से स्थान खाली पड़ते थे। भूगर्भ की छानबीन से अब इन स्थानों की पूर्ति हो गई है, बहुत से ऐसे जंतुओं के पंजर मिले हैं जो उपर्युक्त भिन्न भिन्न वर्गों के मध्यवर्ती जंतु थे। इन जंतुओं को किसी एक वर्ग में रखना कठिन जान पड़ता है क्योंकि इनमें भिन्न भिन्न वर्गों के लक्षण मिलेजुले हैं। पूर्ण जरायुज अवस्था में आने के पहले की अवस्था के जो क्षुद्र जीव (पंजर) मिले हैं उनमें खुरपाद, मांसभक्षी

१. यह नियम कि गर्भ के बढ़ने का क्रम और एक जीव से दूसरे जीव के उत्पन्न या विकसित होने का क्रम एक ही है। गर्भ में भ्रूण जिस एक मूलरूप से क्रमशः जिन दूसरे रूपों में होता हुआ कुछ महीनों में एक विशेष रूप का होकर तैयार हो जाता है सृष्टि में भी उसी एक मूल रूप से उन्हीं दूसरे रूपों में होती हुई अनेक योनियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई हैं। अंतर इतना ही है कि मछली से मनुष्य होने में तो करोड़ों वर्ष लगे होंगे पर मत्स्याकार गर्भपिंड से नराकार शिशु होने में कुछ महीने ही लगते हैं।

आदि वर्गों के लक्षण मिले जुले हैं। सब के पंजरों का ढाँचा एक सा है, सब ४४ दाँतवाले हैं, सबका आकार छोटा तथा मस्तिष्क की बनावट अपूर्ण है। तीस लाख वर्ष पहले ये जीव इस पृथ्वी पर थे। जीवसृष्टि क्रम के विचार से कहा जा सकता है कि ये पूर्वजरायुज जंतु भी थैलीवाले मांसभक्षी क्षुद्र जंतुओं से जरायु की विशेषता उत्पन्न हो जाने के कारण निकले हैं।

भूगर्भ की छानबीन से सबसे काम की चीजें जो मिली हैं वे किंपुरुषवर्ग के जंतुओं के पंजर हैं। पहले इन जंतुओं के पंजर नहीं मिलते थे। पर अब बहुत से मिल गए हैं। सब से महत्व का जो पंजर मिला है वह जावाद्वीप के वानराकार मनुष्य का है जो १८९४ में मिला था। उसे न हम ठीक ठीक बनमानुस का पंजर कह सकते हैं, न मनुष्य का। जिस जीव का वह पंजर है वह बनमानुष और मनुष्य के बीच का जीव था। ऐसे जीव की खोज बहुत दिनों से थी। जावा के इस वानराकार नरपंजर के मिलने से मनुष्य का वनमानुस से क्रमशः निकलना प्राग्जंतुविज्ञान द्वारा भी उसी निश्चयात्मकता के साथ सिद्ध हो गया जिस निश्चयात्मकता के साथ शरीरविज्ञान और गर्भविज्ञान द्वारा सिद्ध था। अस्तु, मनुष्यजाति की उत्पत्ति के संबंध में तीनों प्रकार के प्रमाणों की एकरूपता हो गई।

छठाँ प्रकरण

आत्मा का स्वरूप

'आत्मा की क्रिया' या मानसिक व्यापार[1] से जिन व्यापारों का ग्रहण होता है वे जिस प्रकार अत्यंत कौतूहलप्रद और महत्व के हैं उसी प्रकार अत्यंत जटिल और दुर्बोध हैं। प्रकृति का परिज्ञान आत्मा के व्यापार का ही अंग है और इस व्यापार की यथार्थता पर ही जंतुविज्ञान, सृष्टिविज्ञान आदि अवलंबित हैं इसलिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनोविज्ञान आत्मा के व्यापारों का बोध करानेवाला शास्त्र और सब विज्ञानों का आधारस्वरूप है या यों कहिए कि वह दर्शन, शरीरविज्ञान, जंतुविज्ञान, आदि का अंग ही है।

मनोविज्ञान के सिद्धांतों के वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादन में बड़ी भारी अड़चन यह पड़ती है वह बिना शरीर के भीतरी अवयवों, विशेष कर मस्तिष्क का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किए ठीक ठीक हो नहीं सकता। पर अधिकांश मनोविज्ञानी आत्मा के व्यापारों के विधायक अवयवों का बहुत कम परिज्ञान रखते हैं। इसीसे दर्शन और मनोविज्ञान में जितना मतभेद देखा जाता है उतना और किसी विज्ञान में नहीं।

---

१. यद्यपि न्याय और वैशेषिक ने आत्मा के जो लक्षण कहे हैं वे मानसिक व्यापारों से भिन्न नहीं जान पड़ते पर शेष दर्शनों के समान उन्होंने भी अंतःकरण या मन से आत्मा को भिन्न माना है। हैकल ने आधिभौतिक दृष्टि से अंतःकरण को ही आत्मा माना है।

जिसे आत्मा कहते हैं वह, मेरी समझ में, एक प्राकृतिक व्यापार मात्र है। अतः मनोविज्ञान को मैं आधिभौतिक शास्त्रों की ही एक शाखा और शरीरविज्ञान का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इस बात को जोर देकर कहता हूँ कि इस विज्ञान के तत्वों का अन्वेषण भी उन्हीं प्रणालियों से हो सकता है जिन प्रणालियों से और विज्ञानों के तत्वों का हो सकता है। पहले तो हमें प्रत्यक्षानुभव से परीक्षा करनी चाहिए, फिर विकाससिद्धांत का आरोप करना चाहिए। इसके उपरांत शुद्ध तर्क के आधार पर चिंतन करना चाहिए। मनोविज्ञान के संबंध में पहले द्वैत और तत्वाद्वैत सिद्धांतों का थोड़ा वर्णन कर देना आवश्यक है।

मानसिक व्यापार के संबंध में साधारण विश्वास, जिसका हमें खंडन करना है, यह है कि शरीर और आत्मा दो पृथक् पृथक् सत्ताएँ हैं। ये दोनों सत्ताएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् पृथक् रह सकती हैं, यह आवश्यक नहीं कि दोनों संयुक्त ही रहें। यह सावयव शरीर नश्वर और भौतिक है अर्थात् कललरस तथा उसके विकारों के रासायनिक योग से संघटित है। पर आत्मा अमर तथा भूतों से परे एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता है जिसके गूढ़ व्यापार बोधगम्य नहीं हैं। यह मत आध्यात्मिक पक्ष का है, इसके विरुद्ध जो मत है वह अधिभौतिक पक्ष का कहा जा सकता है। यह आध्यात्मिक मत सर्वातीतवादी है क्योंकि यह ऐसी शक्तियों का अस्तित्व मानता है जो बिना भौतिक आश्रय के काम करती हैं। इसके अनुसार प्रकृति से परे और बाह्य एक अभौतिक आध्यात्मिक जगत् है जिसका हमें कुछ भी अनुभव नहीं और जिसका कुछ भी ज्ञान हम भौतिक परीक्षाओं द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते।

यह 'आध्यात्मिक जगत्', जो भूतात्मक जगत् से सर्वथा स्वतंत्र माना गया है और जिसके आधार पर द्वैतवाद खड़ा किया गया है,

कवि कल्पना मात्र है। यही बात 'आत्मा के अमरत्व' संबंधी विश्वास के विषय में भी कही जा सकती है जिसकी असारता आगे चलकर दिखाई जायगी। यदि अध्यात्मवादियों के विश्वास का कोई दृढ़ आधार होता तो मानसिक व्यापार प्रकृति या परमतत्व के नियमाधीन न होते। दूसरी बात यह कि प्रकृति के नियमबंधनों से मुक्त सत्ता यदि मानी जाय तो यह आवश्यक है कि वह सृष्टि के पिछले कल्प में ही प्रकट हुई होगी जब कि मनुष्य आदि उन्नत जीवों का प्रादुर्भाव हो चुका होगा; क्योंकि भूतों से परे आत्मा की धारणा मनुष्य आदि के मानसिक व्यापारों को देख कर ही हुई है।[1] आत्मा की इच्छा किसी प्रकार के नियमों से बद्ध नहीं है, सर्वथा स्वतंत्र है, यह मत भी भ्रांत है।

हमारे प्राकृतिक निरूपण के अनुसार आत्मा की क्रिया द्रव्यशक्ति-संभूत ऐसे व्यापारों का संघात है जो और प्राकृतिक व्यापारों के समान एक विशिष्ट भौतिक आधार पर अवलंबित है। समस्त मनोव्यापारों के इस आधारभूत द्रव्य को हम मनोरस कहेंगे। कारण यह है कि रासायनिक विश्लेषण के द्वारा परीक्षा करने पर यह उसी कोटि का द्रव्य ठहरता है जिस कोटि के द्रव्य कललरस[2] विशिष्ट

---

१. भारतीय तत्ववेत्ताओं ने मनुष्य से लेकर कीटपतंग तक में आत्मा को माना है। डेकार्ट आदि कुछ पाश्चात्त दार्शनिकों ने मनुष्य में ही 'आत्मा' मानी है, पशवादिकों में नहीं।

२. कललरस प्रोटोप्लाज्म एक चिपचिपा कुछ दानेदार पदार्थ है जो जीवन का मूल द्रव्य समझा जाता है। प्राणियों और उद्भिदों के सूक्ष्म घटक इसी के होते हैं। आहारग्रहण, वृद्धि, स्वेच्छा गति, संवेदन आदि व्यापार इसमें पाए जाते हैं। रसायनिक विश्लेषण द्वारा यह कललरस आक्सिजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजिन और कारबन के विलक्षण अणवात्मक योग से संघटित पाया जाता है। जल और लवण का भी इसमें मेल रहता है। पर संयोजक मूल द्रव्यों को जान लेने पर भी मनुष्य कललरस नहीं बना सका है।

कहलाते हैं। ये द्रव्य अंडसाररस और अंगारक[1] के रासायनिक संयोग से बनते हैं और समस्त चेतन व्यापारों के मूल हैं। उन्नत जीवों में जिन्हें संवेदनसूत्रजाल और अनुभवात्मक इंद्रियाँ होती हैं उपर्युक्त मनोरस से ही संवेदनसूत्ररस अर्थात् संवेदनसूत्र निर्मित करनेवाली धातु का विधान होता है। इस विषय में हमारा यह निरूपण भौतिक है। इसे प्राकृतिक और परीक्षात्मक भी कह सकते हैं क्योंकि विज्ञान ने अभी तक किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं प्रतिपादित किया है जिसका कुछ भौतिक आधार न हो। प्रकृति से परे किसी आध्यात्मिक जगत् का पता नहीं लगा है।

और प्राकृतिक व्यापारों के समान मनोव्यापार या आत्मव्यापार भी परमतत्व या मूलप्रकृति के अटल और सर्वव्यापक नियम के अधीन हैं। एकघटक अणुजीवों तथा दूसरे अत्यंत क्षुद्रकोटि के जीवों में जो मनोव्यापार देखे जाते हैं—जैसे उनका संक्षोभ, उनकी संवेदना, उनकी प्रतिक्रिया[2] उनकी आत्मरक्षण प्रवृत्ति इत्यादि

१. एक गाढ़ा चिपचिपा पदार्थ जो अंडों की जर्दी, जीवों के रक्त आदि में रहता है। यह आक्सिजन, कारबन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन और कुछ गंधक के मेल से बना होता है।

२. क्षुद्र जीवों के शरीर पर बाहरी संपर्क या उत्तेजन से उत्पन्न क्षोभ प्रवाह के रूप में कललरस के अणुओं द्वारा भीतर केंद्र में पहुँचता है और वहाँ से प्रेरणा के रूप में बाहर की ओर पलट कर शरीर में गति उत्पन्न करता है। वस्तु संपर्क के प्रति यह एक प्रकार की अचेतन क्रिया है जो ज्ञानकृत वा इच्छाकृत नहीं होती, केवल कललरस के भौतिक और रासायनिक गुणों के अनुसार होती है, जैसे छूने से लजालू की पत्तियों का सिमटना, उँगला रखने से क्षुद्र कीटों का अंग मोड़ना इत्यादि। चेतना विशिष्ट मनुष्य आदि बड़े जीवों में भी यह अचेतन प्रतिक्रिया होती है। उनमें क्षोभ अंतर्मुख संवेदनसूत्रों द्वारा भीतर की ओर जाता है पर मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता बीच ही से मेरुरज्जु या किसी और स्थान से पलट पड़ता है। आँख के पास किसी वस्तु के आते ही पलकें आप से आप, बिना इच्छा या संकल्प के, गिर पड़ती हैं।

वे घटक के भीतर के कललरस की क्रिया के अनुसार अर्थात् वंशपरंपरा और स्थितिसामंजस्य द्वारा उपस्थित भौतिक और रासायनिक विकारों के अनुसार ही होते हैं। यही बात मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियों के उन्नत मनोव्यापारों के संबंध में भी कही जा सकती है क्योंकि वे ऊपर कहे हुए क्षुद्र मनोव्यापारों ही से क्रमशः स्फुरित हुए हैं। उनमें जो पूर्णता आई है वह अधिक मात्रा में समन्वय होने के कारण — उन व्यापारों की विशेष संगति और योजना के कारण जो पहले पृथक् पृथक् थे। सारांश यह कि क्षुद्रकोटि के मनोव्यापारों और उन्नत कोटि के मनोव्यापारों में— मनुष्यबुद्धि और पशुबुद्धि में केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नहीं।

प्रत्येक विज्ञान का पहला काम यह है कि जिस वस्तु के संबंध में उसे अन्वेषण करना हो उसकी स्पष्ट परिभाषा या व्याख्या कर ले। पर मनोविज्ञान के संबंध में यह प्रारंभिक कार्य अत्यंत कठिन है। सब से विलक्षण बात यह है कि मनोविज्ञान के संबंध में आज तक नए पुराने दार्शनिकों ने जो मत प्रकट किए हैं उनका परस्पर विरोध देखकर बुद्धि चकरा जाती है। आत्मा क्या है? इंद्रियानुभव और भावना में क्या अंतर है? मन में कोई बात किस प्रकार उपस्थित होती है? बुद्धि और विचारों में क्या अंतर है। मनोवेगों राग, द्वेष, क्रोध आदि का वास्तविक रूप क्या है? अंतःकरण की इन समस्त वृत्तियों का शरीर से क्या संबंध है? इन अनेक प्रश्नों के तथा इसी प्रकार के और प्रश्नों के जो उत्तर दार्शनिकों ने दिए हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं। यही नहीं, एक ही वैज्ञानिक वा दार्शनिक ने पहले कुछ और विचार प्रकट किया, पीछे और। इस प्रकार मनोविज्ञान भानमती का पिटारा बन गया है। जितनी गड़बड़ी इस विज्ञान में दिखाई देती है उतनी और किसी में नहीं।

कुछ दृष्टांत लीजिए। जरमनी के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने पहले अपनी युवावस्था में यह स्थिर किया कि परोक्षवाद के तीन बड़े विषय—ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और आत्मा का अमरत्व—शुद्धबुद्धि[1] के निरूपण से असिद्ध हैं। पीछे वृद्धावस्था में उसीने यह कहा कि ये तीनों बातें व्यवसायात्मिका बुद्धि[2] के स्वयंसिद्ध निरूपण हैं और अनिवार्य हैं। इसी प्रकार विरचो और रेमंड नामक प्रसिद्ध जरमन वैज्ञानिकों ने पहले बहुत दिनों तक भूतातिरिक्त शक्ति, शरीर और आत्मा की पृथक् भावना आदि का घोर विरोध किया, पर पीछे उन्होंने चेतना को भूतातिरिक्त व्यापार कहा।

अंतःकरण की वृत्तियों की, विशेषतः चेतना की, परीक्षा के लिए वैज्ञानिक अनुसंधानप्रणाली में कुछ फेरफार करना पड़ता है। वैज्ञानिक अनुसंधान बहिर्मुख दृष्टि से होती है अर्थात् उसमें मन अपने से भिन्न विषयों का निरीक्षण और विचार करता है। मनोव्यापारों के अनुसंधान में हमें इन बहिर्मुख निरीक्षण के अतिरिक्त अंतर्मुख निरीक्षण या आत्मनिरीक्षण भी बहुत अधिक करना पड़ता है। इस स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण में मन अपना ही अर्थात् अपने ही व्यापारों का चेतना के दर्पण में निरीक्षण करता है[3]। अधिकांश

---

१. प्योर रीजन।

२. प्रैक्टिकल रीजन।

३. कांट आदि प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण असंभव कहा है। वे उसके संबंध में यह बाधा उपस्थित करते हैं—'निरीक्षण करने के लिए तुम्हारी बुद्धि को अपनी क्रिया रोकनी पड़ेगी और उसी क्रिया का तुम निरीक्षण किया चाहते हो। यदि तुम क्रिया रोकते हो तो निरीक्षण करने के लिए कोई वस्तु ही नहीं रह जाती'। यह बाधा तो आधिभौतिक मनोविज्ञानक्षेत्र की हुई जिसमें जैसे अंतःकरण की और सब वृत्तियों का निरूपण होता है वैसे ही चेतना का भी। भारतीय दार्शनिकों ने भी मन को

मनोविज्ञानी केवल इसी आत्मनिश्चय या अहंकारवृत्ति का अनुसन्धान करके चले हैं, जैसे डेकार्ट ने स्पष्ट कहा है कि 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।' अतः पहले इस आत्मनिरीक्षण प्रणाली पर कुछ विचार करके तब हम दूसरी बाह्यनिरीक्षण प्रणाली की व्याख्या करेंगे।

इन दो हजार वर्षों के बीच आत्मा के संबंध में जितने सिद्धांत उपस्थित किए गए हैं सब इसी अंतर्मुख प्रणाली के अनुसार स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण के आधार पर। अपनी आत्मा में जिस प्रकार के अनुभव हुए उनकी संगति और आलोचना द्वारा किए हुए निश्चय ही दार्शनिक प्रकट करते रहे हैं।

बात यह है कि मनोविज्ञान के एक प्रधान अंग का विचार, विशेष कर चेतना के धर्म आदि का निरूपण, केवल इसी एक प्रणाली से हो सकता है। मस्तिष्क की यह वृत्ति (चेतना) विशेष रूप की है। इसके कारण जितने दार्शनिक भ्रम हुए हैं उतने और किसी वृत्ति के कारण नहीं। मन की इस स्वनिरीक्षण क्रिया को ही मनोविज्ञान के

युगपत् क्रिया असंभव बतलाई है, अर्थात् मन एक ही समय एक साथ दो व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकता, पर उन्होंने सब व्यापारों के द्रष्टा आत्मा को मन या अंतःकरण से भिन्न माना है। अध्यात्म या परविद्या के क्षेत्र में भी आत्मबोध के संबंध में इस कठिनाई का सामना पड़ा है। चैतन्य वा आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा वा विषयी है अतः अपने ज्ञान के लिए उसे ज्ञेय, दृश्य वा विषय होना पड़ेगा। पर न विषयी विषय हो सकता है, न विषय विषयी। शंकर स्वामी अपने भाष्य में कहते हैं—'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिनोः तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायाम्...'।

हर्बर्ट स्पेंसर ने भी यही कहा है—

शंकराचार्य ने तो यह कहकर उक्त बाधा दूर की कि चैतन्य वा आत्मा 'कूटस्थनित्यचैतन्यज्योति' है, वह ज्ञानस्वरूप है उसे ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं। पर हर्बर्ट स्पेंसर आदि पश्चिमी तत्ववेत्ताओं ने इसी विरोध को लेकर आत्मा, परमात्मा आदि को अज्ञेय ठहराया और संशय की स्थिति में रहना ही ठीक समझा।

निरूपण का एक मात्र साधन समझना, जैसा कि बहुतेरे दार्शनिकों ने किया है, बड़ी भारी भूल है। मन के बहुत से व्यापारों का, जैसे इंद्रियों और वाणी की क्रिया आदि का, निरूपण उसी रीति से हो सकता है जिस रीति से शरीर के और व्यापारों का, अर्थात् पहले तो भीतरी अवयवों की सूक्ष्म विश्लेषणपरीक्षा से और फिर उनके आश्रय से होनेवाले व्यापारों के जीवविज्ञानानुकूल निरीक्षण से। अतः बिना इस प्रकार के बाह्य निरीक्षण के केवल आत्म निरीक्षण द्वारा निश्चित मनोव्यापार संबंधिनी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। पर बाह्यनिरीक्षण की पूर्णता के लिये शरीरविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र, शरीराणुविज्ञान[1], गर्भविज्ञान और जीवविज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। मनोविज्ञानवेत्ता कहलानेवालों में से अधिकांश का नरतत्वशास्त्र[2] की आधार स्वरूपिणी इन विद्याओं में कुछ भी प्रवेश नहीं होता। अतः वे अपनी आत्मा के गुण धर्म की विवेचना करने के भी अयोग्य हैं। एक और बात ध्यान में रखने की यह है कि इन मनोविज्ञानवेत्ताओं का अंतःकरण एक सभ्यजाति के उन्नत अंतःकरण का नमूना है जो अनेक पूर्ववर्त्ती अवस्थाओं में वंशपरंपराक्रम से होता हुआ वर्तमान उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ है। अतः उसके गुण धर्म ठीक ठीक समझने के लिए असंख्य क्षुद्र कोटि के पूर्वरूपों का विचार आवश्यक है। यह मैं मानता हूँ कि आत्मनिरीक्षण प्रणाली परम आवश्यक है, पर साथ ही और दूसरी प्रणालियों (बाह्यनिरीक्षण आदि) की सहायता भी निरंतर अपेक्षित है[3]।

---

१. हिस्टोलाजी

२. एन्थ्रापालाजी

३. जो लोग समझते हैं कि आँख मूँदकर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की बातें सूझने लगती हैं उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिए।

आधुनिक काल में ज्यों ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता गया और भिन्न भिन्न विज्ञानों की अनुसंधानप्रणाली पूर्णता को पहुँचती गई त्यों त्यों यह इच्छा बढ़ती गई कि उन विज्ञानों के निरूपण बिलकुल ठीक ठीक नपे तुले हों, उनमें रत्ती भर का भी बल न पड़े, अर्थात् व्यापारों का निरीक्षण जहाँ तक हो सके प्रत्यक्षानुभव के रूप में हो और जो नियम निरूपित किए जायँ वे जहाँ तक हो सकें ठीक ठीक और स्पष्ट हों जैसे कि गणित के होते हैं। पर इस प्रकार का नपा तुला ठीक ठीक निरूपण कुछ थोड़े से शास्त्रों में ही संभव है, विशेषतः उन विद्याओं में जिनमें परिमेय, गिनती या माप के योग्य, परिमाण का विचार होता है, जैसे गणित में तथा ज्योतिष, कलाविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, और रसायनशास्त्र के बहुत से अंशों में। इसीसे ये सब विद्याएँ 'ठीक नपीतुली विद्याएँ' कहलाती हैं। पर समस्त भौतिक विद्याओं को बिलकुल ठीक और नपी तुली समझ कर उन्हें इतिहास, तर्क, आचारशास्त्र आदि से सर्वथा भिन्न कोटि में रखना भूल है। भौतिक विज्ञान का बहुत सा अंश ऐसा है जिसकी बातों को हम इतिहास की बातों से अधिक ठीक और नपी तुली नहीं कह सकते। यही प्राणिविज्ञान और उससे संबद्ध मनोविज्ञान के संबंध में भी कहा जा सकता है। जब कि मनोविज्ञान शरीरविज्ञान का ही एक अंग है तब उसका निरूपण भी उसी प्रणाली से होना चाहिए जिस प्रणाली से शरीरविज्ञान का होता है। अस्तु, मनोविज्ञान में पहले तो हमें प्रत्यक्षानुभव प्रणाली का अनुसरण कर के जहाँ तक हो सके इंद्रिय, संवेदनसूत्र, मस्तिष्क आदि की क्रियाओं का निरीक्षण और परीक्षा करनी चाहिए, उसके पीछे फिर मन के व्यापारों का आत्म-निरीक्षण करके उनके नियमों को तर्क द्वारा स्थिर करना चाहिए। पर यह समझ रखना चाहिए कि इस प्रकार के नियम गणित के समान ठीक ठीक नाप तौल के साथ सर्वत्र नहीं स्थिर किए जा

सकते। शरीरविज्ञान में केवल इंद्रियों के व्यापारों का निरूपण गणित की रीति से कुछ हो सकता है, मस्तिष्क के और व्यापारों का नहीं।

प्राणिविज्ञान के एक छोटे से अंग का गणित की रीति से कुछ प्रतिपादन हो सका है और उसका नाम मनोभूतविज्ञान (साइको-फिजिक्स) रक्खा गया है। इस विज्ञान के प्रतिष्ठाता फेक्नर और वेवर नामक वैज्ञानिकों ने पहले यह पता लगाया कि सब प्रकार के इंद्रियानुभव बाहरी विषयसंपर्क की उत्तेजना पर निर्भर हैं और जिस हिसाब से विषयसंपर्क की उत्तेजना घटती या बढ़ती है उसी हिसाब से इंद्रियसंवेदन भी घटता या बढ़ता है। उन्होंने स्थिर किया कि कम से कम इतनी मात्रा की उत्तेजना होगी तभी इंद्रियसंवेदन होगा, और प्राप्त उत्तेजना में इतनी मात्रा का अंतर पड़ेगा तब संवेदन में कुछ अंतर जान पड़ेगा। दर्शन, श्रवण, स्पर्श (दबाव) संवेदनों के विषय में यह निर्दिष्ट नियम है कि उनमें अंतर उत्तेजना के संबंध के अंतर के हिसाब से पड़ता है। अस्तु, फेक्नर ने अपने मनोभूतविज्ञान का एक प्रधान नियम स्थिर किया कि संवेदना की वृद्धि संख्योत्तर क्रम जैसे २,४,६,८,१० से होती है और उत्तेजना की गुणोत्तर क्रम से जैसे २, ४, ८, १६, ३२।[1] पर फेक्नर के ये भौतिक निरूपण

१. मान लीजिए कि आँख पर पहले एक दरजे का प्रकाश पड़ा फिर तुरंत १०० दरजे का अर्थात् उससे सौ गुना प्रकाश पड़ा और हमें एक विशेष अंतर जान पड़ा। अब यदि एक दरजे के स्थान पर २ दरजे का प्रकाश पहले पड़े तो फिर २०० दरजे का प्रकाश पड़ने से, अर्थात् दो का सौ गुना प्रकाश पड़ने से, उतना ही अंतर जान पड़ेगा। इसी प्रकार ३ और ३०० में वही अंतर जान पड़ेगा। तात्पर्य यह कि पहली उत्तेजना जितनी गुनी अधिक होगी दूसरी के भी उतनी ही गुनी अधिक होने से उतना ही अंतर जान पड़ेगा। १४ रत्ती का बोझ यदि हाथ पर (हाथ स्थिर और किसी वस्तु के आधार पर रहे) रक्खा जाय तो फिर उस पर एक रत्ती और रखने से बोझ में कुछ अंतर न जान पड़ेगा। जब पाँच रत्ती और रक्खा जायगा तब जान पड़ेगा। अब यदि पहले

सर्वांश में स्वीकृत नहीं हुए हैं। मनोभूत विज्ञान से जैसी सफलता की आशा की गई थी वैसी नहीं हुई। वह आगे नहीं बढ़ सका। उसका विस्तार बहुत ही थोड़ा है। उससे इतना अवश्य सिद्ध हुआ है कि कम से कम आत्मा के एक व्यापार पर भौतिक नियम घटाए जा सकते हैं। पर कहना यही पड़ता है कि मनोव्यापारों को तौलने का प्रयत्न निष्फल हुआ है, उससे कुछ विशेष परिणाम नहीं निकला है। विज्ञान का लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि सर्वत्र साध्य नहीं है। अतः जीवसृष्टि, मनोव्यापार आदि के संबंध में तारतम्यिक – परंपरा मिलान करने की; और गर्भविधान निरीक्षण, प्रणाली ही विशेष उपयोगी है।

मनुष्य और दूसरे उन्नत जंतुओं जैसे कुत्ते, बंदर आदि के मनोव्यापारों में जो विलक्षण सादृश्य है वह सब पर प्रकट है। प्राचीन दार्शनिक मनुष्य की आत्मा और पशु की आत्मा में कोई 'वस्तुभेद' नहीं समझते थे, केवल मात्राभेद समझते थे। ईसाई मत के कारण योरप में लोग मनुष्य की अमर आत्मा और पशु की नश्वर आत्मा में भेद मानने लगे। इस भेद पर डेकार्ट आदि द्वैतवादी दार्शनिकों ने और भी लोगों का विश्वास जमा दिया। डेकार्ट (सन् १६४३) कहता था कि केवल मनुष्य ही को वास्तविक आत्मा है, मनुष्य ही में संवेदन और स्वतंत्र इच्छा, प्रयत्न आदि होते हैं। पशु केवल जड़ मशीन के तुल्य हैं, उनमें किसी प्रकार की संवेदना या इच्छा, प्रयत्न आदि नहीं[1]। डेकार्ट के पीछे योरप में बहुत दिनों तक लोगों की यही धारणा रही।

---

३० रत्ती का बाझ रक्खा जाय तो फिर पाँच रत्ती और रखने से अंतर न जान पड़ेगा, दस रत्ती और रखने से जान पड़ेगा। गुरुत्व और शब्द-संवेदना में ३-४ का अंतर पड़ने से भेद मालूम होता है, पेशी के तनाव में १५-१६, दृष्टि में ००-१०१ का।

१. न्याय और वैशेषिक ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि को आत्मा का लिंग या लक्षण माना है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में जीवसृष्टिविज्ञान और शरीर-विज्ञान की उन्नति के साथ पशुओं के मनोव्यापारों की ओर भी तत्व-वेत्ताओं का ध्यान गया। मूलर ने अपने शरीर विज्ञान के गूढ़ अन्वेषणों द्वारा पशुबुद्धिपरीक्षा का मार्ग सुगम कर दिया। डारविन के पीछे उसके विकाससिद्धांत का प्रयोग मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी किया गया।

वुंट जरमनी के सबसे बड़े मनोविज्ञानवेत्ता हैं। और दार्शनिकों से उनमें यह विशेषता है कि उन्हें प्राणिविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र और शरीरव्यापारविज्ञान का भी पूरा पूरा अभ्यास है। उन्होंने भौतिक विज्ञान और रसायन के नियमों का बहुत कुछ प्रयोग शरीरविज्ञान और उससे संबद्ध मनोविज्ञान के क्षेत्र में करके दिखाया है। १८६३ में उन्होंने अपना 'मानव और पाशव मनोविज्ञान पर व्याख्यान' प्रकाशित किया और सिद्ध किया कि मुख्य मनोव्यापार 'अचेतन आत्मा' में होते हैं। वुंट ने मस्तिष्क के उन पुरजों को दिखाया जो आत्मा के अचेतन पट पर वाह्य-विषय-संपर्क से उत्पन्न उत्तेजना के प्रभावों को अंकित करते हैं। सबसे बड़ा काम वुंट ने यह किया कि उन्होंने वेगसंबंधी भौतिक नियम पहले पहल मनोव्यापारों के क्षेत्र में घटाए और मनस्तत्व के प्रतिपादन में शरीरगत विद्युद्विधान की बहुत सी बातों का प्रयोग किया।

तीस वर्ष पीछे १८९२ में वुंट ने जब अपने ग्रंथ का दूसरा परिवर्तित और संक्षिप्त संस्करण निकाला तब उसमें अपना सिद्धांत एकदम बदल दिया। पहले संस्करण में जो महत्व के सिद्धांत निरूपित किए गए थे वे सब परित्यक्त कर दिए गए और अद्वैत भाव के स्थान पर द्वैतभाव स्थापित किया गया। वुंट ने इस दूसरे संस्करण की भूमिका में साफ कहा है कि—'पहले संस्करण में जो भ्रम मुझसे हुए थे उनसे मैं मुक्त हो गया। कुछ दिनों पीछे जब मैंने विचार किया तब मालूम हुआ कि पहले जो कुछ मैंने कहा था वह सब युवावस्था का अविवेक था, वह मेरे चित्त में बराबर खटकता रहा और मैं जहाँ तक

शीघ्र हो सके उस पाप से मुक्त होने के लिए देखता रहा।' इस प्रकार वुंट के ग्रंथ के दो संस्करणों में किए हुए मनस्तत्वनिरूपण एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। पहले संस्करण के निरूपण तो सर्वथा भौतिक हैं और अद्वैतवाद लिए हुए हैं और दूसरे संस्करण के निरूपण आध्यात्मिक और द्वैतभावापन्न हैं। पहले में तो मनोविज्ञान को वुंट ने एक भौतिक विज्ञान मानकर उसका निरूपण उन्हीं नियमों पर किया है जिन नियमों पर शरीरविज्ञान के और सब अंगों का होता है। पर तीस वर्ष पीछे उन्होंने मनोविज्ञान को आध्यात्मिक विषय कहा और उसके तत्वों और सिद्धांतों को भौतिक विज्ञान के तत्वों और सिद्धांतों से सर्वथा भिन्न बतलाया। अपनी मनःशरीर-संबंधी व्याख्या में उन्होंने कहा है कि प्रत्येक मनोव्यापार का कुछ न कुछ सहवर्ती भौतिक या शारीरिक व्यापार अवश्य होता है, पर दोनों व्यापार सर्वथा स्वतंत्र हैं, उनमें कोई प्राकृतिक कार्य कारण आदि संबंध नहीं। वुंट ने जो इस प्रकार शरीर और आत्मा को पृथक बतलाकर द्वैतवाद का डंका बजाया उससे दार्शनिक मंडली में बड़ा आनंद फैला। द्वैतवादी दार्शनिक यह देखकर कि इतना बड़ा और प्रसिद्ध वैज्ञानिक पहले विरुद्ध मत प्रकट करके पीछे अनुकूल मत प्रकाशित कर रहा है एक स्वर से कहने लगे कि मनोविज्ञान की उन्नति हुई। पर लगातार चालीस वर्ष के अध्ययन के उपरांत अब भी मैं उसी 'अविवेक' में पड़ा हूँ। लाख चेष्टा करने पर भी उससे मुक्त नहीं हो सका हूँ। अतः मैं जोर के साथ कहता हूँ कि जिसे वुंट ने अपनी युवावस्था का 'अविचार' कहा है वही सच्चा विचार है, वही सच्चा ज्ञान है। उस सच्चे विचार का समर्थन बुड्ढे दार्शनिक वुंट के मत के विरुद्ध मैं बराबर करता रहूँगा।

वुंट, कांट, विरशो, रेमंड, बेयर इत्यादि का इस प्रकार अपने सिद्धांतों को बदलना ध्यान देने योग्य है। युवावस्था में तो ये योग्य तत्ववेत्ता जीवविज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र में अत्यंत विस्तृत अन्वेषण करते

रहे और सब तत्वों की एक मूल प्रकृति ढूँढ़ने के प्रयत्न में लगे रहे, पर पीछे बुढ़ापा आनेपर उसे पूर्णतया साध्य न समझ इन्होंने अपना उद्देश्य ही परित्यक्त कर दिया—अपना रंग ही बदल दिया। इस परिवर्तन का कारण लोग यह कह सकते हैं कि युवावस्था में बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण इन्होंने सब बातों की ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं दिया था, पीछे बुद्धि के परिपक्व होने पर और अनुभव बढ़ने पर इन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और इन्होंने वास्तविक ज्ञान का मार्ग पाया। पर यह क्यों न कहा जाय कि युवावस्था में अन्वेषण श्रम की शक्ति अधिक रहती है, बुद्धि अधिक निर्मल और विचार अधिक स्वच्छ रहता है, पीछे बुढ़ाई आने पर जैसे और सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती हैं वैसे ही बुद्धि भी सठिया जाती है, जीर्ण हो जाती है। जो कुछ हो, पर वैज्ञानिकों का यह सिद्धांत परिवर्तन मनोविज्ञान में मनन करने योग्य विषय है। इससे यह सूचित होता है कि जीवों के और व्यापारों के समान मनोव्यापार या आत्मव्यापार भी अपना रूप बदलते रहते हैं अर्थात् आत्मा भी सदा एकरूप नहीं रहती।

भिन्न भिन्न श्रेणियों के जीवों के मनोव्यापारों को परस्पर मिलान करनेवाली विद्या को तारतम्यिक मनोविज्ञान कहते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रकार जीवसृष्टि विज्ञान[1] में जीवों की ऊँचीनीची परंपरा का क्रम स्थिर है उसी प्रकार मनोव्यापारों की ऊँचीनीची परंपरा का क्रम भी स्थिर किया जाय। ऐसा होने से ही हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार एकघटक अणुजीव के क्षुद्र व्यापारों से लेकर मनुष्य के उन्नत मनोव्यापारों तक एक अखंडित शृंखला बँधी हुई है। मनोव्यापारों का यह श्रेणीभेद मनुष्य की भिन्न जातियों में भी परस्पर देखा जाता है। एक अत्यंत असभ्य जाति के जंगली मनुष्य की बुद्धि में और एक अत्यंत सभ्य जाति के मनुष्य की बुद्धि में बड़ा भारी भेद होता है।

१. जूलाजी।

इसी भेदपरंपरा के अन्वेषण के विचार से असभ्य बर्बर जातियों की जाँच की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है और मनोविज्ञान के तत्वों के निरूपण के लिये भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों का विवरण बड़े काम का माना जाने लगा है।

मनोविज्ञान में आत्मा के क्रमविकास का निरीक्षण बहुत जरूरी है। इसके द्वारा जितनी जल्दी हम मिथ्या धारणाओं और भ्रमों को हटाकर आत्मवृत्तियों के यथार्थ रूप का आभास पा सकते हैं उतनी जल्दी और किसी प्रणाली के द्वारा नहीं। विकास के दो रूप मैं पहले बतला चुका हूँ—गर्भविकास और जातिविकास। आत्मा का गर्भ-विकास या स्फुरणक्रम देखने से यह पता चलता है कि किस क्रम से एक व्यक्ति की आत्मा गर्भकाल से लेकर बराबर वृद्धि को प्राप्त होती जाती है और किन नियमों के अनुसार उसका विधान होता है। शिशु का अंतःकरण किस प्रकार क्रमशः पुष्ट और उन्नत होता जाता है। मातापिता, शिक्षक आदि अत्यंत प्राचीन समय से देखते आ रहे हैं, पर उनके चित्त में आत्मा की पूर्णता, अमरता आदि की जो धारणा बँधी चली आ रही है उससे उनका देखना और न देखना बराबर हो जाता है। पर अब इधर कुछ दिनों से बालक की आत्मा के विकासक्रम का विचार होने लगा है। इस विषयपर पुस्तकें भी लिखी गई हैं।

पहले कहा जा चुका है कि जीवसृष्टि में गर्भविकास और जाति-विकास का क्रम एक ही है। डारविन ने जीवों की भिन्न भिन्न योनियों के विकास की परंपरा का क्रम दिखाकर उसी क्रम से मनोवृत्तियों के विकास का होना भी दिखाया है। उसने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि जंतुओं की अंतःप्रवृत्ति भी जीवों की और और बातों के समान वृद्धिपरंपरा के नियमाधीन है। विशेष विशेष जीवों में अंतःप्रवृत्ति की जो विशेषता देखी जाती है वह स्थितिसामंजस्य या अवस्थानुरूप परिवर्तन के कारण होती है। यह विशेषता पैतृक परंपरा द्वारा

बराबर आगे की पीढ़ियों में चली चलती है। जीवों की अंतःप्रवृत्ति का निर्माण और संरक्षण भी उसी प्रकार ग्रहण सिद्धांत[1] के नियमानुसार होता है जिस प्रकार और शारीरिक शक्तियों का। डारविन ने कई पुस्तकें लिखकर दिखाया है कि 'मनोविकास' संबंधी वे ही नियम समस्त जीवसृष्टि पर घटते हैं—क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या उद्भिद्। जिस प्रकार भिन्न भिन्न जीवों की एक मूल से उत्पत्ति देखने से समस्त जीवसृष्टि की एकता प्रमाणित होती है उसी प्रकार अणुजीव से लेकर मनुष्य तक मनस्तत्व की एकता भी सिद्ध होती है।

रौमेंज ने डारविन के मनोविज्ञान को और प्रवर्द्धित किया। उसने दो ग्रंथ विकासक्रमबद्ध मनोविज्ञान पर लिखे जो अपने ढंग के निराले हुए। पहला ग्रंथ जंतुओं के मनोविकास पर है। उसमें उसने क्षुद्र जंतुओं के संवेदन व्यापार और अंतःप्रवृत्ति से लेकर उन्नत जीवों की चेतना और बुद्धि तक की शृंखलाबद्ध परंपरा दिखाई है। दूसरे ग्रंथ में उसने मनुष्य के अंतःकरण का विकास और उसकी शक्तियों का उद्भव दिखाया है। उसमें पूर्णरूप से सिद्ध किया गया है कि मनुष्य और पशु के अंतःकरण या आत्मा में कोई तत्वभेद नहीं है। मनुष्य में संकल्प-विकल्पात्मक विचार और प्रत्याहार आदि करने की जो शक्ति है वह दूध पिलानेवाले मनुष्येतर जीवों के अकल्पनात्मक कोटि के अंतःसंस्कारों से ही क्रमशः स्फुरित और विकसित हुई है। मनुष्य की बुद्धि, वाणी, और आत्मबोध आदि की उन्नत शक्तियाँ किंपुरुष, बनमानुस आदि पूर्वजों की मानसिक शक्तियों से उन्नत होते होते उद्भूत हुई हैं। मनुष्य की अंतःकरण शक्ति और दूसरे जीवों की अंतःकरण शक्ति में केवल मात्राभेद है, तत्वभेद नहीं। शक्ति वही है, पर मनुष्य में वह अधिक है और दूसरे जीवों में कम।

---

१. दे० प्रकरण पाँचवाँ।

सातवाँ प्रकरण

मनोविधान की श्रेणियाँ

विकाससिद्धांत की सहायता से मनोविज्ञान ने इधर जो उन्नति की है उसके द्वारा समस्त जीवसृष्टि के मनस्तत्व की एकता पूर्णतया प्रतिपादित हुई है। तारतम्यिक मनोविज्ञान ने भी यह निश्चय दिला दिया है कि एकघटक अणुजीव से लेकर मनुष्य पर्यंत सब प्राणियों के जीवनव्यापार प्रकृति की उन्हीं मूल शक्तियों अर्थात् संवेदन और गति से उत्पन्न हुए हैं। अतः अब मनोविज्ञान के तत्वों का निरूपण दार्शनिकों के उन्नत अंतःकरण की स्वानुभूति या आत्मनिरीक्षण के आधार पर ही नहीं होगा बल्कि जिन अनेक क्षुद्र या पाशव अवस्थाओं से क्रमशः काल पाकर मनुष्य के उन्नत अंतःकरण की व्यवस्था हुई है उनकी संबंधपरंपरा का भी पूर्ण विचार किया जायगा।

संपूर्ण मनोव्यापार शरीर के जीवनतत्वरूपी कललरस में होनेवाले परिवर्तनों के अनुसार होते हैं। हमने कललरस के उस अंश का नाम जो मनोव्यापारों का आधारस्वरूप प्रतीत होता है, मनोरस रक्खा है। हम उसकी कोई विशेष स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। हम आत्मा या मन को कललरस के अंतर्व्यापारों की समष्टि मात्र समझते हैं। इस निश्चय के अनुसार 'आत्मा' शब्द शरीर का एक विशेष धर्म सूचित करने के लिये एक भाववाचक संज्ञा मात्र है। मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत जीवों में अवयवों और तंतुओं के कार्यविभाग के अनुसार मनोरस अलग विभक्त होकर संवेदनग्राहिणी संवेदनसूत्रग्रंथियों की धातु का रूप धारण करता है। क्षुद्र कोटि के जीवों और पौधों में जिन्हें संवेदना

के लिये पृथक् और विशिष्ट सूत्र या अवयव नहीं होते, मनोरस इस प्रकार एक स्वतंत्र रूप में विभक्त नहीं होता।

एकघटक अणुजीवों में मनोरस या तो घटक के समस्त कललरस ही को कह सकते हैं या उसके एक अंश को। उनमें संवेदनग्राही सूत्र आदि अलग नहीं होते। क्षुद्र से क्षुद्र और उन्नत से उन्नत मनोविधान में मनोधातु की कुछ रासायनिक योजना और भौतिक क्रिया के बिना 'आत्मा' का व्यापार नहीं उत्पन्न हो सकता। अणुजीवों की कलल-रसगत क्षुद्र संवेदना और गति से लेकर मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के जटिल इंद्रिय व्यापार और मस्तिष्क व्यापार तक, सबके विषय में यही नियम हैं। मनोरस की वह क्रिया जिसे हम 'आत्मा' कहते हैं, शरीर के द्रव्यवैकृत्य धर्म[1] से संबद्ध है।

समस्त जीव संवेदनग्राही हैं। वे अपने चारो ओर स्थित पदार्थों का प्रभाव ग्रहण करते हैं और अपने शरीर की स्थिति के कुछ परिवर्तनों द्वारा उन पदार्थों पर भी प्रभाव डालते हैं। प्रकाश और ताप, आकर्षण और विद्युदाकर्षण, रासायनिक क्रियाएँ और भौतिक व्यापार सबके सब संवेदनात्मक मनोरस में उत्तेजना या क्षोभ उत्पन्न करके उसके अणवात्मक विधान में परिवर्तन उपस्थित करते हैं। मनोरस की इस संवेदना की क्रमशः पाँच अवस्थाएँ हैं—

(१) जीवविधान की प्रारंभिक अवस्था में समस्त मनोरस ही सर्वत्र समानरूप से संवेदनग्राही होता है और क्षोभकारक पदार्थ पर बाहर से प्रभाव डालता है। सबसे क्षुद्र कोटि के अणुजीव और बहुत से पौधे इसी अवस्था में रहते हैं।

---

१. मेटाबालिज्म घटकों या तंतुओं की वह क्रिया जिसके अनुसार वे रक्त द्वारा प्राप्त पोषक द्रव्यों को अपने अनुरूप रस या धातु में परिवर्तित कर लेते हैं या घटकस्थ कललरस को विश्लिष्ट करके ऐसे सादे द्रव्यों में परिणत कर देते हैं जो पाचनरस बनाने और मज्ज निकालने में काम आते हैं।

(२) दूसरी अवस्था वह है जिसमें शरीर के ऊपर विषयविवेक-रहित इंद्रियाभास कललरस के सुतड़ों या बिंदियों के रूप में प्रकट होते हैं। ये स्पर्शेंद्रिय और चक्षु के पूर्व रूप हैं जो कुछ उन्नत अणुजीवों तथा दूसरे क्षुद्र जंतुओं और पौधों में देखे जाते हैं।

(३) तीसरी अवस्था में इन्हीं मूलविधानों से विभक्त होकर अलग अलग कार्यों के उपयुक्त विशिष्ट इंद्रियाँ उत्पन्न होता हैं। इनमें रसनेंद्रिय और घ्राणेंद्रिय रासायनिक करण हैं अर्थात् रासायनिक क्रियाओं को ग्रहण करती हैं; स्पर्शेंद्रिय, श्रवण और चक्षु भौतिक करण हैं अर्थात् इनसे कोमलता, कठोरता, शीत, उष्ण, शब्द (वायुतरंग) तथा वर्ण और आकृति इत्यादि भौतिक गुणों और व्यापारों का ग्रहण होता है। इन 'इंद्रियों की शक्ति' का कोई निहित मूलगुण नहीं है बल्कि कार्योपयुक्त परिवर्तन और वंशपरंपरागत उन्नतिक्रम के द्वारा प्राप्त होती है।

(४) चौथी अवस्था में समस्त संवेदनविधानों अर्थात् इंद्रिय-व्यापारों का एक स्थान पर समाहार होता है। विकीर्ण या भिन्न भिन्न स्थानों पर स्थित इंद्रियव्यापारों का एक स्थान पर समाहार होने से अंतःसंस्कार उत्पन्न होता है, अर्थात् इंद्रियसंवेदनों के स्वरूप अंकित होते हैं। पर चेतन अंतःकरण का विकास न होने के कारण उन स्वरूपों का कुछ बोध नहीं होता। यह अवस्था बहुत से क्षुद्र जंतुओं की होती है।

(५) पाँचवीं अवस्था में अंकित इंद्रियसंवेदनों का प्रतिबिंब संवेदनसूत्रजाल या विज्ञानमयकोश के केंद्रस्थल में पड़ता है जिससे अंतःसाक्ष्य या स्वांतर्वृत्तिबोध उत्पन्न होता है[1]। इस प्रकार चैतन्य की

१ अंतःकरण से आत्मा को पृथक् माननेवाले यहाँ से आत्मा का प्रादुर्भाव मान सकते हैं। आत्मा का नाम चैतन्य है।

उत्पत्ति हो जाने पर जीव को अपने ही अंतःकरण के व्यापारों का बोध होने लगता है। मनुष्य तथा दूसरे रीढ़वाले जंतु इसी चेतन अवस्था के अंतर्गत हैं।

समस्त जीवधारियों में 'स्वतःप्रवृत्त गति' की भी शक्ति होती है। सजीव मनोरस का कुछ ऐसा रासायनिक संयोग होता है कि कारण पाकर उसके अणु अपना स्थान बदलते हैं। इस प्रकार की सजीव गति कुछ तो हम आँखों से देख सकते हैं। यह गति पाँच अवस्थाओं में पाई जाती है—

(१) जीवविधान की अत्यंत क्षुद्र प्रारंभिक अवस्था में, जैसे समुद्र के क्षुद्र उद्भिदाकार कृमियों आदि अत्यंत निम्न श्रेणी के जीवों में केवल 'अंगवृद्धि की गति' देखी जाती है। हम उनके आकार की क्रमशः होनेवाली वृद्धि और परिवर्तन को देखकर ही इस गति का अनुमान कर सकते हैं।

(२) बहुत से उद्भिदाकार सूक्ष्म जंतु आगे की ओर एक लसीला पदार्थ निकाल कर शरीर ढालते हुए रेंगते या तैरते हैं।

(३) बहुत से क्षुद्र समुद्री अणुजीव कभी घटस्थ वायु को निकाल कर और कभी तरलाकर्षण[1] शक्ति के द्वारा अपने गुरुत्व में अंतर डाल कर पानी में नीचे जाते या ऊपर उठते हैं।

(४) बहुत से पौधे, जैसे लजालू (लज्जालु) अपने शरीर के तनाव में फेरफार करके अपनी पत्तियों तथा और अवयवों को हिलाते हैं अर्थात् वे अपने घटस्थ कललरस के तनाव को घटा बढ़ाकर अपने अवयवों को सुकोड़ते या फैलाते हैं।

---

१. द्रव पदार्थों में परस्पर मिलने की प्रवृत्ति जो अणुओं के परस्पर आकर्षण से संबंध रखती है।

(५) सजीव पदार्थों की सबसे अधिक ध्यान देने योग्य गति आकुंचन है। इसमें जीव के बाहरी अवयवों की स्थिति में जो अंतर पड़ता है वह शरीरस्थ द्रव्यों के आकुंचन और प्रसारण द्वारा। यह आकुंचनात्मक गति चार प्रकार की देखी जाती है—

(क) जल में रहनेवाले अस्थिराकृति अणुजीवों की सी गति[1]।

(ख) घट के भीतर कललरस की वैसी ही गति या प्रवाह।

(ग) रोईं या सुतड़ेवाले अणुजीवों, शुक्रकीटाणुओं इत्यादि की कुटिल गति। ये जीव अपने रोइयों या सुतड़ों के सहारे जल या द्रव पदार्थ में रेंगते हैं।

---

१. इस प्रकार के अस्थिराकृति सूक्ष्म अणुजीव ताल या गड्ढों के बँधे जल में तथा समुद्र में होते हैं। इनका शरीर एक ही घटक का बना हुआ सूक्ष्म मधुबिंदुवत् होता है। ये बहुत ही अच्छे खुर्दबीन से दिखाई पड़ सकते हैं। इनका आकार क्षण क्षण पर बदलता रहता है। इस आकार बदलने का कारण यह है कि ये चारों ओर कभी कहीं कभी, कहीं अपने शरीर से पैरों की तरह की अनेक शाखाएँ या पादांकुर निकाला करते हैं। इनके चलने की क्रिया इस प्रकार होती है कि ये एक ओर बड़ी सी शाखा या पादांकुर निकालते हैं फिर उसी ओर अपना सारा शरीर ढाल देते हैं। इस प्रकार शाखा निकालते और शरीर ढालते हुए ये आगे बढ़ते जाते हैं। इन जीवों को विशिष्ट इंद्रियाँ नहीं होती।

इनका शरीर झिल्ली के भीतर बंद कललरस कणिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कललरस के भीतर बिंदु की तरह एक खाली स्थान होता है जो सुकड़ता और फैलता रहता है। इसी आकुंचन और प्रसारण क्रिया से शरीर में प्राणवायु और आहार का संचार होता है। यह पाचन और रक्त-संचार का आदिम रूप है। बतलाने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे ही अनेक क्षुद्र अणुजीवों के योग से बड़े जंतुओं के शरीर बने हैं। मनुष्य के रक्त में भी इसी प्रकार के अणुजीव होते हैं। इनका शरीर सर्वत्र एकरस होता है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते हैं अपने रसबिंदुरूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते हैं।

(घ) मांसपेशियों[1] के संचालन की गति जो अधिकतर जंतुओं में देखी जाती है ।

संवेदन और गति के संयोग से जो मूल या आदिम मनोव्यापार उत्पन्न होता है उसे प्रतिक्रिया कहते हैं । इसमें गति चाहे किसी प्रकार की हो, संवेदन उत्पन्न करनेवाली विषयोत्तेजना के कारण होती है । इसीसे इसे उत्तेजित गति कहते हैं । कललरस में उत्तेजित होने का गुण होता है । जीव के चारो ओर स्थित पदार्थों में जो भौतिक या रासायनिक परिवर्तन उपस्थित होता है, कुछ अवस्थाओं में वह मनोरस को उत्तेजित करता है जिससे शरीर में गति का वेग छूट पड़ता है । जड़सृष्टि में भी इस प्रकार उत्तेजना पाकर वेग के छूटने का भौतिक व्यापार देखा जाता है, जैसे चिनगारी पड़ने से बारूद का भड़कना, ठोकर या आघात लगने से डाइनामाइट का भड़कना इत्यादि । जीवधारियों में जो प्रतिक्रिया होती है उन्नतिक्रम में उसकी सात अवस्थाएँ देखी जाती हैं—

(१) जीवविधान की प्रारंभिक अवस्था के सब से क्षुद्र अणुजीवों में वाह्य जगत् की उत्तेजना, जैसे ताप, प्रकाश, विद्युत् आदि, से कललरस में केवल वही गति उत्पन्न होती है जिसे अंगवृद्धि और पोषण कहते हैं और जो समस्त जीवधारियों में समान रूप से पाई जाती है । अधिकांश पौधों में भी ऐसा ही होता है ।

(२) डोलने फिरनेवाले अणुजीवों, जैसे अस्थिराकृति अणुजीवों में बाहर की उत्तेजना शरीरतल के प्रत्येक स्थान पर गति उत्पन्न करती है

---

१. कंकाल से लगा हुआ मांस बहुत से सूक्ष्म टुकड़ों या ग्रंथियों से बना होता है । इन अलग अलग ग्रंथियों को पेशी कहते हैं । पेशियाँ कई आकार की होती हैं—कोई लंबी, कोई पतली, कोई मोटी, कोई चौकोर और कोई तिकोनी । ये महीन सूतों से जुड़ी रहती हैं, यदि सूत हटा दिए जायँ तो ये अलग अलग हो जाती हैं । जितनी गतियाँ शरीर में होती हैं सब इन्हीं मांसपेशियों ही के द्वारा ।

जिससे आकृति बदलती रहती है और स्थान भी बदलता है। यह आकृतिपरिवर्तन और हिलनाडोलना शरीर में से क्षण क्षण पर कभी इधर कभी उधर चारो ओर पादांकुर या शाखाएँ निकलने और सिमटते रहने से होता है। ये जीव यथार्थ में कललरस के छींटे के रूप के ही होते हैं अतः इनमें जो पादांकुर निकलते और मिटते रहते हैं वे स्थिर अवयव नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार की उत्तेजनग्राहकता से लजालू आदि पौधों तथा कई अनेक घटकों के योग से बने 'अनेकघटक' जीवों में भी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। अनेकघटक जीवों में उत्तेजना एक घटक से हो कर फिर दूसरे घटक में जाती है क्योंकि ये घटक एक प्रकार के तंतु से संबद्ध रहते हैं।

(३) बहुत से उन्नत कोटि के अणुजीवों में दो अत्यंत सादे अवयव या इंद्रियाँ देखी जाती हैं। एक स्पर्श की इंद्रिय और दूसरी गति की इंद्रिय। ये दोनों करण (इंद्रियाँ) भी कललरस के बाहर निकले हुए अंकुर मात्र हैं। स्पर्श की इंद्रिय पर जो उत्तेजना पड़ती है वह घटकस्थ मनोरस द्वारा गति की इंद्रिय तक पहुँचती है और उसे आकुंचित करती है। समुद्र में पाए जाने वाले रोइँदार अणुजीवों को लेकर यह व्यापार देखा जा सकता है। ये जीव अस्थिराकृति जीवों से कुछ बड़े अर्थात् $\frac{१}{८००}$ इंच के लगभग, और अनेक आकार के होते हैं—कोई प्याले के आकार के, कोई घंटी के आकार के, कोई जौ के आकार के। इनमें कुछ चलने फिरनेवाले 'चर' होते हैं और कुछ अचर। इनके शरीर में एक प्रकार के रोएँ होते हैं जिनके सहारे ये चलते फिरते और आहार संग्रह करते हैं। चट्टान आदि में जमे हुए इन 'अचर' अणुजीवों के खुले ऊपरी छोर, अर्थात् वह छोर जो चट्टान आदि में जमा नहीं रहता है, ऊपर की ओर होता है; पर के रोयों को जरा सा भी छूएँ तो जमे हुए छोर पर जो सूत की डंठी होती है वह चट सुकड़ जाती है। इसे जीवों की सादी 'प्रतिक्रिया' कहते हैं।

(४) रोईंवाले अणुजीवों के इस व्यापार के आगे फिर हमें मूँगे[१] आदि अनेकघटक जीवों का संवेदनसूत्रमय विधान मिलता है। इनका प्रत्येक संवेदनसूत्रात्मक और पेशीतंतुयुक्त घटक प्रतिक्रिया का एक एक करण है। इसके ऊपर की ओर एक मर्मस्थल होता है और भीतर की ओर एक गत्यात्मक पेशीतंतु होता है। मर्मस्थल छूते ही यह पेशीतंतु सुकड़ जाता है।

(५) समुद्र में तैरनेवाले छत्रककीटों में संवेदनसूत्र और पेशीयुक्त एक घटक के स्थान पर दो घटक मिलते हैं जो एक सूत्र से संबद्ध रहते हैं। इनमें से एक तो बाहर संवेदनग्राही घटक होता है, दूसरा चमड़े के भीतर पेशीघटक होता है। प्रतिक्रिया के इस द्विघटकात्मक करण में बाहरी घटक तो संवेदनग्रहण करने का इंद्रिय है और भीतरी घटक गत्यात्मक कर्मेंद्रिय है। दोनों घटकों को मिलानेवाला बीच में जो मनोरसनिर्मित सूत्र होता है उसी के द्वारा उत्तेजना एक घटक से दूसरे घटक तक पहुँचती है।

(६) प्रतिक्रिया का जो विधान आगे चलकर मिलता है उसमें दो दो के स्थान पर तीन तीन घटक मिलते हैं। संबंधकारक सूत्र के स्थान पर एक स्वतंत्र घटक ग्रंथि के रूप में प्रकट होता है जिसे हम मनोघटक या संवेदनग्रंथिघटक कह सकते हैं। इसी घटक के द्वारा अचेतन अंतःसंस्कार उत्पन्न होता है अर्थात् संवेदनों के स्वरूप अंकित होने लगते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि इस अवस्था में चेतन अंतःकरण न रहने के कारण उन स्वरूपों का बोध नहीं होता। उत्तेजना पहले संवेदनग्राही घटक से इस मध्यस्थ मनोघटक में पहुँचती है और

---

१. मूँगा बहुत से छोटे छोटे कृमियों का समूह है जो समुद्र के भीतर थूहर के पेड़ के आकार में जमा हुआ मिलता है। देखने में वह पेड़ की तरह जान पड़ता है पर वास्तव में क्षुद्र कृमियों की बस्ती है।

फिर यहाँ से क्रियोत्पादक पेशीघटक में पहुँचकर गति की प्रेरणा करती है। प्रतिक्रिया का यह त्रिघटकात्मक करण बिना रीढ़वाले जंतुओं में मिलते है।

(७) रीढ़वाले जंतुओं में त्रिघटकात्मक के स्थान पर चतुर्घटकात्मक करण पाया जाता है अर्थात् संवेदनग्राही संवेदनघटक और क्रियोत्पादक पेशीघटक के बीच में दो भिन्न भिन्न मनोघटक मिलते हैं। बाहरी उत्तेजना पहले संवेदनग्राही मनोघटक में जाती है, फिर संकल्पात्मक घटक में पहुँचती है और अंत में आकुंचनशील पेशीघटक में जाकर गति उत्पन्न करती है। ऐसे अनेक चतुर्घटकात्मक करणों और नए नए मनोघटकों के संयोग से मनुष्य तथा और उन्नत जीवों के जटिल मनोविज्ञानमयकोश या चेतन अंतःकरण की सृष्टि होती है।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रतिक्रिया' ही मूल या आदिम मनोव्यापार है। एकघटक अणुजीवों में 'प्रतिक्रिया' नामक सारा भौतिक व्यापार एक ही घटक के कललरस में होता है। कललरस के विकार समग्र मनोरस में जो एक सा व्यापार होता है उसी को हम ऐसे जीवों की घटकस्थ आत्मा कह सकते हैं। आगे चलकर उन्नत अवस्था में इसी मनोरस के अनेक विभाग होकर इंद्रिय, अंतःकरण आदि उत्पन्न होते हैं।

मनोव्यापार की दूसरी अवस्था यौगिक 'प्रतिक्रिया' है जो कर्कोटक[1] आदि समूहपिंड में रहनेवाले समुद्री अणु जीवों में देखी जाती है। ये

---

१. ये सूक्ष्म एकघटक समुद्री जंतु ककोड़े या अंडी के फल के आकार का छत्ता या गोलपिंड बनाकर समूह में रहते है। पिंडबद्ध होने पर भी प्रत्येक घटक या अणुजीव स्वतंत्र होता है। पिंड छत्ता मात्र होता है एक शरीर नहीं होता। छत्ते में प्रत्येक अणुजीव जड़ा सा होता है। अणुजीवों के सुतड़े या रोइयाँ बाहर की ओर निकली होती हैं। इनके सहारे पिंड जल में तैरता है। पिंड का परिमाण प्रायः इंच के पचासवें भाग के बराबर होता है।

असंख्य एकघटक जीव मिलकर समूह पिंड बनाते हैं और कललरस के तंतुओं द्वारा एक प्रकार से संबद्ध रहते हैं। यदि किसी एक घटक पर कोई उत्तेजना पड़ी तो वह तुरंत इन तंतुओं द्वारा शेष सब घटकों तक पहुँच जाती है और सारा समूह संकुचित हो जाता है। इस प्रकार का व्यापार अनेक घटकों या जीवाणुओं द्वारा निर्मित, 'बहुघटक' जंतुओं और पौधों के घटकों के बीच भी होता है। लज्जालु नामक पौधे को ही लीजिए। जहाँ उसकी जड़ के पास भी किसी का पैर छू गया कि उत्तेजना तुरंत सारे घटकों में फैल जाती है और उसकी पत्तियाँ सुकड़ जातीं तथा टहनियाँ झुक पड़ती हैं।

'प्रतिक्रिया' नामक आदिम मनोव्यापार का सामान्य लक्षण यह है कि उसमें चेतना का अभाव होता है। उत्तेजना पहुँची कि गति उत्पन्न हुई, जैसा कि बारूद आदि निर्जीव पदार्थों में देखा जाता है। चेतना केवल मनुष्य तथा और उन्नत जीवों में ही मानी जा सकती है, उद्भिदों और क्षुद्र जंतुओं में नहीं। उद्भिदों और क्षुद्र जंतुओं में उत्तेजना पाकर जो गति उत्पन्न होती है वह 'प्रतिक्रिया' मात्र है, अर्थात् ऐसी क्रिया है जो संकल्पकृत नहीं, किसी अंतःकरण वृत्ति द्वारा प्रेरित नहीं। जिनमें संवेदनवाहक सूत्रजाल केंद्रीभूत होता है और जिन्हें विशिष्ट पूर्ण इंद्रियाँ होती हैं उन उन्नत जीवों के मनोव्यापार और ढंग के होते हैं। उनमें 'प्रतिक्रिया' रूपी आदिम मनोव्यापार से धीरे धीरे चेतना का स्फुरण होता है और संकल्पकृत चेतन व्यापार प्रकट होते हैं। निम्न श्रेणी के क्षुद्र जीवों में केवल प्रतिक्रिया ही रहती है। यह प्रतिक्रिया भी दो प्रकार की होती है—मूल और उत्तर। मूल प्रतिक्रिया वह है जो जीवसृष्टिपरंपरा में चेतन अवस्था को कभी प्राप्त न हुई हो, अपने मूल रूप में ही बराबर वंशपरंपरानुसार चली आती हो। उत्तर प्रतिक्रिया वह है जो पूर्वज जंतुओं में तो संकल्पकृत चेतन व्यापार के रूप में थी पर पीछे अर्थात् उन पूर्वज जंतुओं से विकास-

परंपरानुसार उत्पन्न होनेवाले परवर्ती जंतुओं में, अभ्यास आदि के कारण अज्ञानकृत अचेतन व्यापार के रूप में हो गई। ऐसी अवस्था में चेतन और अचेतन अंतर्व्यापारों के बीच कोई भेदसीमा निर्धारित करना असंभव है। कौन व्यापार ज्ञानकृत (चेतन) हैं और कौन अज्ञानकृत यह सदा ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता।

अब अंतःसंस्कार को लीजिए। इंद्रियों की क्रिया से प्राप्त बाह्य विषय का जो प्रतिरूप भीतर अंकित होता है उसे अंतःसंस्कार या भावना कहते हैं। जीवों की विभिन्न ऊँचीनीची श्रेणियों के अनुसार अंतःसंस्कार चार रूपों में देखा जाता है—

१) घटकगत अंतःसंस्कार—क्षुद्र एकघटकात्मक अणुजीवों में अंतःसंस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण होता है। ऐसे जीवों में भी संवेदन का चिह्न मनोरस में रह जाता है और धारणा या स्मृति के द्वारा फिर स्फुरित हो सकता है। एक प्रकार के अत्यंत सूक्ष्म गोल समुद्र अणुजीव होते हैं जिनके ऊपर आवरण के रूप में एक पतली चित्रविचित्र खोपड़ी होती है। इस खोपड़ी की चित्रकारी सब में एक सी नहीं होती, भिन्न भिन्न होती है। खोपड़ी की रचना और चित्रकारी के विचार से इस जीव के हजारों उपभेद दिखाई पड़ते हैं। किसी एक विशेष चित्रकारीवाले जीव से विभाग द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनमें भी वही चित्रकारी बनी मिलती है। इसका केवल यही कारण बतलाया जा सकता है कि निर्माण करनेवाले कललरस में अंतःसंस्कार की वृत्ति होती है, उसमें परत्व अपरत्व संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है।

(२) तंतुजालगत अंतःसंस्कार—समूहपिंड बनाकर रहनेवाले एकघटक अणुजीवों[1] और स्पंज आदि संवेदनसूत्र से रहित क्षुद्र अनेक-

१. ये क्षुद्र अणुजीव एक समूहपिंड तो बना लेते हैं पर इनमें परस्पर

घटक (सामुद्र) जीवों, तथा पौधों के तंतुजाल में हमें अंतःसंस्कार की दूसरी श्रेणी मिलती है। इसमें बहुत से परस्परसंबद्ध घटकों का एक सामान्य मनोव्यापार देखा जाता है। इन जीवों में किसी एक इंद्रिय के उत्तेजन से मात्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर नहीं रह जाती, बल्कि तंतुघटकों के मनोरस में संस्कार भी अंकित होते हैं जिनका फिर स्फुरण होता है।

(३) संवेदनसूत्र[1] ग्रंथिगत अचेतन अंतःसंस्कार—इस उन्नत कोटि का अंतःसंस्कार अनेक छोटे जंतुओं में देखा जाता है। इसका व्यापार समस्त घटकों में नहीं होता बल्कि विशिष्ट स्थानों में अर्थात् मनोघटकों में ही होता है। यह अपने सादे रूप में उन्हीं जीवों में प्रकट होता है जिनमें 'प्रतिक्रिया' के लिए त्रिघटकात्मक करण का विकास होता है। ऐसे जीवों में अंतःसंस्कार का स्थान संवेदनघटक और पेशीघटक के बीच का मध्यस्थ घटक होता है। विज्ञानमय कोश के विभागविधान के अनुसार यह अचेतन अंतःसंस्कार भी उन्नति की कई अवस्थाओं को पहुँचता है।

(४) मस्तिष्कघटकों में चेतन अंतःसंस्कार जीवों की उन्नत श्रेणियों की ओर बढ़ने पर हमें अंतर्बोध या चेतना मिलने लगती है जो कि विज्ञानमय कोश के मध्यभाग के एक विशिष्ट करण की वृत्ति है। उन्नत जीवों में जो अंतःसंस्कार होते हैं वे चेतन होते हैं, अर्थात् उनका बोध भीतर होता है। इस अंतर्बोध के साथ ही साथ जब

उतना घनिष्ट संबंध नहीं होता जितना समवाय रूप से एक शरीर की योजना करनेवाले घटकों में होता है।

१. संवेदनवाहक सूत्रों को ज्ञानतंतु भी कहते हैं। ये शरीर के सब स्थानों में फैले होते हैं। रक्तवाहिनी नीली और लाल नलियों (शिराओं और धमनियों) से ये इस प्रकार पहचाने जाते हैं कि ये श्वेत होते हैं और बीच में खोखले नहीं होते। खींचने से ये उतनी जल्दी नहीं टूटते।

चेतन अंतःसंस्कारों की योजना के लिए मस्तिष्क के विशेष विशेष अवयव स्फुरित हो जाते हैं तब अंतःकरण उन वृत्तियों या व्यापारों के योग्य हो जाता है जिन्हें हमें विचार, चिंतन, बुद्धि आदि कहते हैं। अचेतन और चेतन अंतःसंस्कारों के बीच कोई सीमा निर्धारित करना अत्यंत कठिन है। यह नहीं बतलाया जा सकता है कि जीवसृष्टिक्रम में किन जीवों तक अंतःसंस्कार अचेतन रहते हैं और किन जीवों से चेतन होने लगते हैं। हाँ, इतना अलबत कहा जा सकता है कि अचेतन संस्कार से चेतन संस्कार के विकास की परंपरा कई शाखाओं में चलती है। यह नहीं है कि चेतना और बुद्धि के व्यापार मनुष्य, बंदर, कुत्ते, पक्षी आदि रीढ़वाले उन्नत जंतुओं में ही देखे जाते हैं बल्कि चींटी, मकड़ी, केकड़े आदि क्षुद्र कीटों में भी पाए जाते हैं।

अंतःसंस्कार से ही संबद्ध धारणा या स्मृति है। यह वास्तव में अंतःसंस्कारों की पुनरुद्भावना है जिस पर सारे उन्नत मनोव्यापार अवलंबित हैं। बाह्यविषय के इंद्रियों पर जो प्रभाव पड़ते हैं वे मनोरस में अंतःसंस्कार के रूप में जाकर ठहर जाते हैं और स्मृति द्वारा पुनरुद्भूत होते हैं अर्थात् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त होते हैं। मनोरस की निष्क्रिय अव्यक्त शक्ति सक्रिय व्यक्त शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[1] अंतःसंस्कार की चार श्रेणियों के अनुसार स्मृति की भी चार श्रेणियाँ हैं—

---

१. भौतिक विज्ञान में वेग या शक्ति के दो रूप माने गए हैं—निहित और व्यक्त, जैसे पहाड़ की ढाल पर पड़े हुए पत्थर, चाभी दी हुई पर न चलती हुई घड़ी, बोरे में कसी हुई बारूद में क्रमशः गिरने, चलने और भड़कने की जो शक्ति है उसे निहित या अव्यक्त शक्ति कहते हैं। जब पत्थर गिरता है, घड़ी चलती है और बारूद भड़कती है तब वही शक्ति व्यक्त हो जाती है। ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होती रहती हैं, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होती रहती हैं।

(१) घटकगत स्मृति—स्मृति सजीव द्रव्य का एक सामान्य गुण है। इस महत्त्वपूर्ण बात को कुछ दिन हुए एक वैज्ञानिक ने अपने एक ग्रंथ में कहा। मैंने इस बात को विकाससिद्धांत के अनुसार सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पहले कहा जा चुका है कि कललरस एक दानेदार चिपचिपा पदार्थ है अर्थात् वह बहुत सी सूक्ष्म कणिकाओं के योग से संघटित है। ये कणिकाएँ कई आकार और प्रकार की होती हैं। इनमें जो विधान करनेवाली क्रियमाण मूल कणिकाएँ होती हैं उन्हें हम कलाणु कह सकते हैं। मैंने अपनी एक पुस्तक में निरूपित किया है कि 'अचेतन स्मृति' कललाणु की एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है। क्रियावान् कललरस के इन मूलकललाणुओं में ही पुनरुद्भूति होती है अर्थात् इन्हीं में स्मृतिशक्ति आदिरूप में रहती है, निर्जीव द्रव्य के अणुओं में नहीं। यहीं सजीव और निर्जीव सृष्टि में अंतर है। वंशपरंपरा हो को कललाणु की धारणा या स्मृति समझना चाहिए। एकघटक अणुजीवों की आदिम स्मृति उन कललाणुओं की अणवात्मक स्मृति के योग से बनी है जिनके मेल से उनका एकघटकात्मक शरीर बना है। एक अणुजीव की जो विशेषताएँ होती हैं वे उससे उत्पन्न दूसरे अणुजीवों में रक्षित रहती हैं यही ऐसे जीवों की धारणा या स्मृति है। ऊपर कहा जा चुका है कि बहुतसे अणुजीव ऐसे होते हैं जिनके आवरणों पर एक दूसरे से भिन्न प्रकार की रचनाएँ होती हैं। परीक्षा द्वारा देखा गया है कि किसी एक विशेष रचना के आवरणवाले जीव से विभाग आदि द्वारा जो दूसरे जीव उत्पन्न होते हैं उनके आवरणों पर भी ठीक ठीक उसी प्रकार की रचना होती है। रचना का यह क्रम बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चला जाता है।

(२) तंतुगत स्मृति—घटकों के समान घटकजाल में भी अचेतन स्मृति पाई जाती है। स्पंज आदि समूहपिंड बना कर रहनेवाले जीवों

में भी एक समूहपिंड के संस्कार उससे उत्पन्न दूसरे पिंडों में भी बराबर चले चलते हैं।

(३) अचेतन स्मृति—उन्नति की तीसरी अवस्था में उन जीवों की चेतनारहित स्मृति है जिनमें विज्ञानमय कोश रहता है। यह अचेतन स्मृति उन अचेतन अंतःसंस्कारों की पुनरुद्भावना है जो संवेदन-सूत्र ग्रंथियों में संचित होते जाते हैं। क्षुद्र कोटि के अधिकांश जंतुओं में स्मृति अचेतन रहती है अर्थात् अंतःसंस्कारों की धारणा के अनुसार जो शारीरिक व्यापार होते हैं उनका कुछ भी ज्ञान ऐसे जंतुओं को नहीं होता। वे व्यापार केवल शरीरधर्म समझे जाते हैं। मनुष्य आदि पूर्ण अंतःकरणवाले जीवों में भी यदि देखा जाय तो चेतन की अपेक्षा अचेतन स्मृति के ही व्यापार अधिक पाए जायँगे। हाथपैर हिलाने, चलनेफिरने, बोलने, खानेपीने इत्यादि क्रियाओं को यदि लीजिए तो इनमें न जाने कितनी ऐसी निकलेंगी जिनकी ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं रहता, जो अज्ञानकृत होती हैं।

(४) चेतन स्मृति—इसका व्यापार मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के कुछ मस्तिष्कघटकों में होता है। यह व्यापार वास्तव में अंतःसंस्कारों का प्रतिबिंब पड़ने से होता है। पहले क्षुद्र पूर्वज जीवों में स्मृति के जो व्यापार अचेतन रहते हैं वे उन्नत अंतःकरणवाले जीवों में चेतन हो जाते हैं। मनुष्य आदि के अंतःकरण में जिन संस्कारों की धारणाएँ रहती हैं वे फिर ज्ञानपूर्वक उपस्थित की जाती हैं।

यहाँ तक तो धारणा या स्मृति की बात हुई। अब अंतःसंस्कारों की शृंखला या भावयोजना को लीजिए। इसकी भी ऊँची नीची अनेक श्रेणियाँ हैं। यह भी अपने आदि रूप में अचेतन ही रहती है और 'प्रवृत्ति' कहलाती है। यही क्रमशः बढ़ते बढ़ते उन्नत जीवों में चेतन-वृत्ति हो जाती है और बुद्धि कहलाती है। इस भावयोजना की परंपरा अनेक रूपों में चलती है। पर ध्यान देकर यदि देखा जाय तो क्षुद्र से

क्षुद्र अणुजीव की अचेतन अंतःसंस्कार योजना से लेकर सभ्य से सभ्य मनुष्य की विशद भावशृंखला तक संबंधपरंपरा का सूत्र मिलेगा। मनुष्य में चेतन संस्कारों की योजना होती है यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। जिस हिसाब से अधिकाधिक अंतःसंस्कारों की योजना होती जाती है और जिस हिसाब से शुद्ध बुद्धि के विवेचन से यह योजना व्यवस्थित होती जाती है उसी हिसाब से अंतःकरणवृत्ति पूर्णता को पहुँचती जाती है। स्वप्न में, इस व्यवस्था करनेवाली विवेचनशक्ति के न रहने से पुनरुद्भूत संस्कारों की जो विलक्षण योजना होती है उससे अलौकिक दृश्य दिखाई पड़ते हैं। कविकल्पित रचनाओं में, जिनमें अंतःसंस्कारों की प्रकृत योजना में उलटफेर करके अनोखे स्वरूप खड़े किए जाते हैं; ये अंतःस्कार एक अत्यंत अस्वाभाविक क्रम से संयोजित होते हैं और साधारण देखनेवाले को अत्यंत अयुक्त प्रतीत होते हैं। मस्तिष्क के बिगड़ जाने पर जो अनेक प्रकार के रूप दिखाई पड़ते हैं वे अंतःसंस्कारों की इसी अव्यवस्था के कारण। मृत पुरुषों की आत्माओं का साक्षात्कार, देवदूतों का दर्शन, आकाशवाणी, इलहाम तथा इसी प्रकार की और भी अंधपरंपरा की बातें इसी अव्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं। पर 'आभास', 'इलहाम' आदि को बहुत दिनों से लोग ज्ञान का अमित भांडार समझते आ रहे हैं।

योरप में बहुत प्राचीन काल से लोग मनुष्य और पशु की अंतःकरणवृत्तियों को भिन्न भिन्न समझते आ रहे थे[1]। ऐसा साधारण विश्वास था, और अब भी थोड़ा बहुत है कि मनुष्य 'बुद्धि' के अनुसार कार्य करता है और पशु 'प्रवृत्ति' के अनुसार। पर डारविन आदि विकासवादियों ने इस विश्वास को भ्रांत सिद्ध कर दिया है।

---

१. भारतवर्ष में उस आवागमन या जन्मांतरवाद के कारण ऐसी धारणा कभी नहीं उत्पन्न होने पाई जिसके अनुसार एक ही आत्मा मनुष्य से लेकर कीट, पतंग आदि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण सकती है।

अपने 'ग्रहण सिद्धांत' के आधार पर डारविन ने नीचे लिखी महत्त्वपूर्ण बातें निर्धारित की हैं—

(१) एक ही योनि के जीवों की अंतःप्रवृत्तियों में भी कुछ न कुछ व्यक्तिगत विभिन्नता होती है तथा 'स्थितिसामंजस्य' के नियमानुसार उनमें भी ठीक उसी प्रकार फेरफार हो जाता है जिस प्रकार अवयवों में होता है।

(२) इस परिवर्तन से जो विशेषताएँ स्वभावपरिवर्तन के कारण, उत्पन्न हो जाती हैं वे आगे होनेवाली संतति को भी अंशतः प्राप्त होती हैं और इस प्रकार वंशपरंपराक्रम से उत्तरोत्तर अधिक प्रवर्द्धित रूप प्राप्त करती जाती हैं।

(३) ग्रहणधर्म के अनुसार मनोवृत्ति की जो जो विशेषताएँ सब से अधिक उपयोगी होती हैं वे रक्षित रहती हैं, जो स्थिति के अनुकूल न होने के कारण उपयोग में नहीं आ सकतीं वे नष्ट हो जाती हैं।

(४) इस रीति से मनोवृत्ति की जो अनेक विभिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं उनसे अनेकानेक पीढ़ियों पीछे ठीक उसी प्रकार नई नई अंतःप्रवृत्तियों की सृष्टि होती है जिस प्रकार अवयवों के भेद से नए नए प्रकार के जीवों की।

सारांश यह कि अंतःप्रवृत्ति सेंद्रिय (सजीव) पदार्थ मात्र में, पौधों और अणुजीवों से लेकर बड़े बड़े जंतुओं और मनुष्य तक में, होती है। मनुष्य में बुद्धि के अधिक बढ़ने पर इसका तिरोभाव होने लगता है।

'प्रवृत्ति' दो प्रकार की होती है, मूल और उत्तर। मूल प्रवृत्तियाँ वे हैं जो अचेतन क्षोभ के रूप में मनोरस में जीव की आदिम अवस्था ही से रहती हैं—जैसे, आत्मरक्षा की, बचाव और पोषण की और वंशरक्षा की, प्रसव और शिशुपालन की प्रवृत्ति। सजीव द्रव्य की

ये दोनों प्रवृत्तियाँ अर्थात् क्षुधा और प्रीति 'समागम की वासना' सर्वथा अज्ञान की दशा में उत्पन्न होती हैं, बुद्धि का इनसे कोई संबंध नहीं रहता। उत्तर प्रवृत्तियों का क्रम और है। आरंभ में तो ये बुद्धि के उपयोग द्वारा, विचार और संकल्प द्वारा, ज्ञानकृत उद्दिष्ट कर्म द्वारा उत्पन्न हुईं, पर पीछे धीरे धीरे वे इतनी मँज गईं कि अज्ञान की दशा में भी प्रकट होने लगीं। यहाँ तक कि वंशपरंपरा के विधान से वे आगे की पीढ़ियों में स्वभावसिद्ध सी हो गईं। उन्नत जीवों की वे अज्ञानकृत क्रियाएँ जो शरीरधर्म कहलाती हैं; जैसे, पलकों का गिराना, चलने में पैरों का हिलाना आदि, पूर्वज जीवों में ज्ञानकृत थीं पर पीछे स्वभावसिद्ध प्रवृत्तियों में दाखिल हो गईं। इसी प्रकार मनुष्य के वे सारे निरूपण जो स्वतःसिद्ध कहलाते हैं; जैसे, एक ही वस्तु के समान वस्तुएँ परस्पर समान होती हैं, उसके पूर्वजों ने अनुभव और साक्षात्कार द्वारा स्थिर किए थे।

बहुत से लोग कहते हैं कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, बुद्धि केवल मनुष्य में होती है। पर यह भ्रम है। रीढ़वाले विशेषतः दूध पिलानेवाले जीवों में बुद्धि बराबर पाई जाती है चाहे वह मनुष्यबुद्धि से कम हो। पशुओं में बुद्धिविकास का तारतम्य उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार मनुष्यों में। किसी सभ्यदेश के उद्भट दार्शनिक की बुद्धि और नरभक्षी असभ्य बर्बर की बुद्धि में भी तो अंतर होता है। बस, उतना ही अंतर असभ्य बर्बर की बुद्धि में और उन्नत पशुओं, बनमानुस आदि की बुद्धि में समझिए। मनुष्य के उन्नत मनोव्यापार विवेचन आदि भी ठीक उसी प्रकार वंशपरंपरा और स्थितिसामंजस्य के नियमाधीन हैं जिस प्रकार उन व्यापारों की इंद्रियाँ या मस्तिष्क।

बुद्धि, विवेचना आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापारों का घनिष्ठ संबंध वाणी की उन्नति से है। वाणी की योजना भी न्यूनाधिक क्रम से जीवों में पाई जाती है। यह नहीं है कि एकमात्र मनुष्य ही को वह प्राप्त

है। किसी न किसी रूप में वह समूह में रहनेवाले समस्त मेरुदंडजीवों में थोड़ी बहुत पाई जाती है। एक दूसरे का अभिप्राय समझने के लिये उसकी आवश्यकता होती है। कहीं स्पर्श द्वारा, कहीं संकेत द्वारा और कहीं मुँह से निकले हुए शब्द द्वारा अभिप्राय प्रकट किया जाता है। पक्षियों और वनमानुसों की बोली, कुत्तों का भूँकना, घोड़ों का हिन-हिनाना इत्यादि पशुवाणी के नमूने हैं। इनसे कुछ न कुछ भाव अवश्य प्रकट होता है। पर मनुष्य ही में उस वर्णविकासयुक्त वाणी का प्रादुर्भाव हुआ है जिसके सहारे उसकी बुद्धि इस उन्नति को पहुँची है। भाषाविज्ञान ने यह पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिया है कि भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों की जितनी समृद्ध भाषाएँ हैं सब की सब किसी न किसी सीधी सादी आदिम भाषा से धीरे धीरे उन्नति करती हुई बनी हैं। भाषा का विकास भी ठीक उसी क्रम से धीरे धीरे हुआ है जिस क्रम से जीवों की जातियों का विकास, उनकी इंद्रियों और शक्तियों का विकास। पशुवाणी और मनुष्यवाणी में केवल न्यूनाधिक का भेद है, वस्तुभेद नहीं।

अंतःकरण के उन व्यापारों का विचार भी जो उद्वेग कहलाते हैं मनोविज्ञान में अत्यंत आवश्यक है। उनके द्वारा वह संबंध अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है जो मस्तिष्क व्यापारों और शरीर के दूसरे व्यापारों; जैसे, हृदय की धड़कन, इंद्रियों के क्षोभ और पेशियों की गति आदि के बीच है। मनुष्य में अंतःकरण के उद्वेग संबंधी जो व्यापार दिखाई देते हैं वे कुत्ते, बनमानुस आदि उन्नत पशुओं में भी देखे जाते हैं। समस्त उद्वेग इंद्रियसंवेदन और गति इन्हीं दो मूल व्यापारों के योग से प्रतिक्रिया और अंतःसंस्कार द्वारा बने हैं। राग और द्वेष का अनुभव इंद्रियसंवेदन क्रिया के अंतर्गत है। इच्छा और विरक्ति, अर्थात् रुचिकर वस्तु की प्राप्ति और अरुचिकर के परिहार का प्रयत्न, पेशियों की गति के अंतर्भूत है। 'आकर्षण' और 'विसर्जन'

इन्हीं दोनों क्रियाओं के द्वारा 'संकल्प' की सृष्टि होती है जो व्यक्ति का प्रधान लक्षण है। मनोवेग मनुष्य और पशु दोनों में होते हैं। क्षुद्र से क्षुद्र कोटि के अणुजीवों में भी रुचि और अरुचि का मूल संस्कार होता है जिसका पता उनकी प्रवृत्तियों से लगा है। उनमें कुछ प्रकाश की ओर प्रवृत्त होते हैं, कुछ अंधकार की ओर, कुछ शीत की ओर और कुछ ताप की ओर। इन्हीं मूल वासनाओं से आगे चलकर उन्नत अंतःकरणवाले सभ्य मनुष्यों के उल्लास और खेद, प्रीति और घृणा आदि मनोवेग निकले हैं जिनसे सभ्यता का विकास हुआ है और कवियों को अक्षय सामग्री प्राप्त हुई है। इस प्रकार क्षुद्र से क्षुद्र अणुर्जावस्थ मनोरस की मूलवासना से लेकर मानव अंतःकरण के विविध मनोवेगों तक संबंधसूत्र की परंपरा चली गई है। मनुष्य के मनोवेग भी भौतिक नियमों के अधीन हैं यह बात कई दार्शनिक सिद्ध कर चुके हैं।

अब संकल्प को लीजिए जिसे लोग जीवधारियों की एक ऐसी विशेषता समझते हैं जिसका भौतिक नियमों से कोई संबंध नहीं। इच्छानुसार गति देखकर ही सामान्यतः कर्मसंकल्प की स्वतंत्रता का भान लोगों को होता है। पर विकास सिद्धांत और शरीरशास्त्र की दृष्टि से यदि संकल्प की परीक्षा की जाय तो मालूम होगा कि वह मनोरस का एक व्यापक गुण है। एकघटक अणुजीवों में प्रतिक्रिया के जो जड़ व्यापार हम देखते हैं वे उन मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न हैं जिनका जीवन तत्व से नित्य संबंध है। पौधों तक में ये प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कुछ पौधे अपनी पत्तियों को जिस ओर प्रकाश होता है उसी ओर प्रवृत्त करते हैं। जिन जीवों में प्रतिक्रिया का त्रिघटकात्मक करण होता है अर्थात् संवेदनग्राहक घटक और क्रियोत्पादक घटक के बीच में एक तीसरे मनोघटक की स्थापना होती है, उन्हींमें संकल्प नामक व्यापार देखा जाता है। क्षुद्र जीवों में यह संकल्प अचेतन रूप में रहता है। जिन जीवों में चेतना होती है अर्थात् अंतःकरण की क्रिया का प्रतिबिंब

अंतःकरण में पड़ता है उन्हीं में संकल्प उस कोटि का देखा जाता है जिसमें स्वतंत्रता का आभास जान पड़ता है। मस्तिष्क के विकास और अंतःकरण की उन्नति के कारण संवेदन, गति आदि की आंतरिक क्रियाएँ जितनी ही क्षिप्र होती जाती हैं उनका परस्पर संबंध उतना ही अव्यक्त होता जाता है। संबंध के अव्यक्त होने के कारण ही स्वातंत्र्य की भ्रांति होती है। पर अब यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया है कि संकल्प किया हुआ प्रत्येक कर्म व्यक्ति के अंगविन्यास और प्राप्त परिस्थिति के अनुसार ही होता है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप तो वंशपरंपरानुसार पूर्वजों द्वारा प्राप्त होकर पहले से निर्धारित रहता है। कर्मविशेष का जो संकल्प होता है वह जिस क्षण जैसी परिस्थिति होती है उसके अनुकूल परिवर्तन का आयोजन मात्र है। उस क्षण जो मनोवेग सब से प्रबल होता है उसी के अनुसार प्राणी कर्म करता है।[1]

———

१. कर्मस्वातंत्र्य के विषय में धार्मिकों में भी मतभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि ईश्वर की प्रेरणा ही से मनुष्य सब कार्य करता है। कुछ लोग कर्मों की वासना पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मानते हैं। पर अधिकांश लोग यही मानते हैं कि मनुष्य की कर्मसंकल्पवृत्ति सर्वथा स्वतंत्र है। यह बतला देना भी आवश्यक है कि कर्मसंकल्पवृत्ति को 'इच्छा' का पर्याय न समझना चाहिए।

कर्मस्वातंत्र्य को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों में बहुत विवाद हुआ है। कांट ने कर्मसंकल्पवृत्ति को सर्वथा स्वतंत्र बतलाया है और कहा है कि मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार उसका विचार नहीं हो सकता। अंतःकरण की कोई ऐसी वृत्ति नहीं जिससे उसका कार्यकारण संबंध हो, जो उसे अवश्य उत्पन्न ही करती हो। रहे बाह्य जगत के नियम उनसे भी वह बद्ध नहीं। वह उन स्वप्रवर्तित नियमों को ही मानती है जिन्हें 'धर्मनियम' कहते हैं (दे० प्रकरण १६)। स्पिनोजा और ह्यूम कर्मसंकल्पवृत्ति को कार्यकारण संबंध के अंतर्गत मानते हैं। स्पिनोजा ने कहा है कि लोगों का यह समझना भ्रम है कि कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं। बात यह है कि उन्हें अपने कर्मों का बोध तो होता है

आठवाँ प्रकरण

आत्मा का गर्भविकास

मनुष्य की आत्मा को हम चाहे जिस रूप का समझें पर यह निश्चित है कि उसकी भी जीवनकाल में क्रम क्रम से वृद्धि होती है। अतः मनोव्यापारों के निरूपण के लिए गर्भविधान की परीक्षा अत्यंत प्रयोजनीय है। हमें भ्रूण के मस्तिष्कविकास और शिशु के मनोव्यापारों की ओर ध्यान देना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार न करनेवाले आत्मा की क्रमशः वृद्धि नहीं मानते। वे आत्मा को सदा एकरस

पर उन कारणों का बोध नहीं होता जिनके द्वारा वे निर्धारित होते हैं। हैकल ने स्पिनोजा के तत्वाद्वैतवाद ही का अनुसरण किया है अतः उसने इस विषय में उसी का सिद्धांत मान्य ठहराया है।

भारतीय विचारपद्धति में 'कर्मबंधन' और 'आत्मस्वातंत्र्य' की बड़ी गूढ व्याख्या की गई है। वेदांतसूत्र के 'जीवकर्तृत्वाधिकरण' में जीव कर्ता अर्थात कर्म करने में स्वतंत्र है या नहीं इसका विचार किया गया है। कर्मविपाक में संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद कर्म के किए गए हैं जिससे सिद्ध होता है कि एक कर्म बीज रूप से दूसरे को उत्पन्न करता है। फिर 'आत्मस्वातंत्र्य' या कर्मसंकल्पवृत्ति का स्वातंत्र्य कहाँ रहा? वेदांत ज्ञान द्वारा मोक्ष बतलाता है। पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य स्वतंत्र नहीं। वेदांती इसका उत्तर कर्म के 'आरब्ध' और 'अनारब्ध' दो भेद करके इस प्रकार देते हैं कि आरब्ध कर्म, जिनका भोग आरंभ हो चुका है, वे तो भोगने ही पड़ेंगे पर अनारब्ध कर्मों का ज्ञान से पूर्णतया नाश किया जा सकता है। 'कर्मबंधन' के साथ सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का स्वातंत्र्य भी बराबर रहता है। यही आत्मस्वातंत्र्य है।

मानते हैं। आत्मा के संबंध में जो भिन्न भिन्न प्रकार के विचार प्रचलित हैं उनमें से कुछ ये हैं—

(१) आवागमन—इस सिद्धांत के अनुसार आत्मा एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में, दूसरे से तीसरे में इसी प्रकार बराबर गमन करती रहती है और नाना योनियों में भ्रमण करती है। वह मनुष्य-योनि में भी आ जाती है और फिर उसमें से निकलकर मनुष्य या और कोई योनि प्राप्त करती है।

(२) आनयन—अर्थात् आत्माओं का कहीं अक्षय भांडार है जहाँ से बराबर आत्माएँ शरीरों में लाई जाती है और जहाँ फिर चली जाती हैं।

(३) ईश्वर द्वारा सृष्टि—ईश्वर आत्माओं को सृष्टि करता है और उन्हें संचित रखता है।

जीवनतत्व के अनुसंधान द्वारा ऊपर लिखी कल्पनाएँ असार प्रमाणित हो चुकी हैं। पहले कहा जा चुका है कि गर्भविधान में पुंस्तत्व और स्त्रीतत्व दोनों सूक्ष्म घटक मात्र हैं। इन दोनों घटकों में ऐसे शारीरिक गुण होते हैं जिन्हें हम घटकात्मा कह सकते हैं। इन दोनों बीजघटकों में गति और संवेदन शक्ति होती है। गर्भांड या अंडघटक जल में रहनेवाले अस्थिराकृति अणुजीवों के समान चलते फिरते हैं। अत्यंत सूक्ष्म शुक्रकीटाणु अपनी रोइयों के सहारे वीर्य में उसी प्रकार तैरते रहते हैं जिस प्रकार रोईंवाले समुद्र के सूक्ष्म कीटाणु।

स्त्री पुरुष का संयोग होनेपर जब दोनों बीजघटक परस्पर मिलते हैं; अथवा उनका संयोग बाहर ही बाहर होता है जैसा कि कुछ जलजंतुओं में, तब दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित होकर जुट जाते हैं। इस आकर्षण का प्रधान कारण कललरस की रासायनिक और संवेदनात्मक क्रिया है जो घ्राण या रसन से मिलतीजुलती होती है

और 'अनुरागमूलक रासायनिक प्रवृत्ति' कहलाती है। इसे हम घटकों का प्रेमव्यापार भी कह सकते हैं। पुरुष के वीर्य में रहनेवाले बहुत से रोइँदार घटक (शुक्रकीटाणु) स्त्री के अंडघटक की ओर रेंग पड़ते हैं और उसमें घुसना चाहते हैं। पर इनमें से घुसने पाता है कोई एक ही। ज्यों ही कोई शुक्रकीटाणु गर्भांड में सिर के बल घुसा कि गर्भांड के ऊपर की झिल्ली छूटकर एक आवरण के रूप में हो जाती है जिससे और कोई शुक्रकीटाणु भीतर नहीं घुस सकता। एक वैज्ञानिक ने बर्फ या मरफिया के प्रयोग से गर्भांड का ऊपरी तल कठोर कर दिया जिससे यह झिल्ली नहीं छूटने पाई। फल इसका यह हुआ कि गर्भांड अति-गर्भित हो गया अर्थात् उसमें कई शुक्रकीटाणु घुस पड़े। इन बातों से पाया जाता है कि बीजघटकों में भी एक प्रकार की आंतरिक प्रवृत्ति या संवेदना होती है। गर्भांड और शुक्रकीटाणु जब परस्पर मिल कर एक हो जाते हैं तब अंकुरघटक की उत्पत्ति होती है जिसके उत्तरोत्तर विभाग द्वारा अनेकघटक भ्रूण का स्फुरण होता है।

गर्भविधान की ओर ध्यान देने से हमें मनोविज्ञानसंबंधी कई महत्व की बातों का आभास मिलता है। इस प्रकार के अनुसंधान द्वारा ये पाँच सिद्धांत निकलते हैं—

(१) जीवन के आरंभ में प्रत्येक मनुष्य या उन्नत जंतु एक अत्यंत सूक्ष्म घटक के रूप में होता है।

(२) सब उन्नत जीवों में अंकुरघटक की उत्पत्ति समान विधान से अर्थात् दो बीजघटकों के परस्पर एक हो जाने से होती है।

(३) दोनों बीजघटकों में से प्रत्येक को एक घटकात्मा होती है—अर्थात् दोनों में एक विशेष रूप की संवेदना और गति होती है।

(४) गर्भाधान के समय दोनों घटकों के कललरस और बीज ही मिलकर एक नहीं हो जाते बल्कि उनकी घटकात्माएँ भी परस्पर मिल

जाती हैं अर्थात् दोनों में जो निहित या अव्यक्त गतिशक्तियाँ, और द्रव्यों के समान, होती हैं वे भी एक नवीन शक्ति की योजना के लिए मिलकर एक हो जाती हैं। अंकुरघटक की यह नवयोजित शक्ति ही 'बीजात्मा' है।

(५) अतः प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक और मानसिक गुण माता-पिता से ही प्राप्त होते हैं। वंशक्रमानुसार माता के गुणों का कुछ अंश गर्भांड द्वारा और पिता के गुणों का कुछ अंश शुक्रकीटाणु द्वारा प्राप्त होता है।

इन सिद्धांतों के द्वारा यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आदि होता है। दोनों बीजघटकों का जिस घड़ी संयोग होता है वही घड़ी अंकुरघटक के शरीर और आत्मा दोनों की उत्पत्ति की है। अतः लोगों का यह कहना कि आत्मा अनादि और अमर है, प्रलाप मात्र है। इसी प्रकार यह भावना भी असंगत है कि गर्भ के भीतर ईश्वर शरीर को गढ़ता है। जीवन की उत्पत्ति माता पिता के संयोग से होती है। इस संयोग के लिए यह आवश्यक है कि शुक्रकीटाणु का गर्भाशय में प्रवेश हो, दर्शन या आलिंगन मात्र से गर्भाधान नहीं हो सकता। स्थलचारी जीवों में गर्भाधान की यही रीति है कि गर्भाशय में गर्भोत्पादक तत्त्व पहुँचाया जाय। कुछ क्षुद्र जलचर जंतुओं में दूसरे प्रकार की व्यवस्था है। उनमें नर और मादा अपना अपना वीर्य और रजोबिंदु जल में डाल देते हैं जिनका संयोग बाहर ही बाहर किसी अवसरपर हो जाता है। ऐसे जंतुओं में वास्तविक मैथुन नहीं होता, अतः उनमें प्रेम का वह मानसिक उद्गार नहीं देखा जाता जो उन्नत जीवों में इतना अधिक पाया जाता है। क्षुद्र अमैथुनीय जंतुओं में स्त्रीपुरुषभेदसूचक कुछ ऐसे चिह्न भी नहीं होते, जैसे बारहसिंगों के सींग, पुरुषों की दाढ़ी, नर मोर का सुंदर चित्रित पुच्छवितान।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि शिशु माता और पिता दोनों के मानसिक गुण ग्रहण करता है। दोनों के स्वभाव, लक्षण, संकल्प की दृढ़ता, प्रतिभा आदि गुण उसमें वंशपरंपरा के प्राकृतिक नियमानुसार आते हैं। माता पिता के ही नहीं पितामह आदि के कुछ गुण भी उसमें बराबर पाए जाते हैं। सारांश यह कि शारीरिक विशेषताओं के समान मानसिक विशेषताएँ भी वंशानुक्रम द्वारा एक से दूसरे में जाती हैं। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वंशपरंपरा का प्राकृतिक नियम भी एक शरीरधर्म है जिसका निर्धारण भौतिक और रासायनिक क्रियाओं के अनुसार—कललरस की योजना के अनुसार होता है।

शरीरविज्ञान संबंधी यह बात मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत ध्यान देने की है कि मनस्तत्व एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में बराबर चला चलता है। जिस क्षण गर्भाधान होता है उसी क्षण एक नए जीव का प्रादुर्भाव होता है। पर इस नए जीव में कोई स्वतंत्र शारीरिक और मानसिक सत्ता नहीं होती; यह शुक्रघटक और रजोघटक रूप दो उपादानों की योजना का परिणाम मात्र है। जिस प्रकार मनोव्यापार-रूपिणी निहित शक्ति के भौतिक आधार, उक्त दोनों घटकों की गुठलियों के मेल से एक नई गुठली पैदा हो जाती है, उसी प्रकार दोनों घटकात्माओं के योग से, निहित शक्तियों की समष्टिरूप एक नई घटकात्मा बन जाती है। अब यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि एक ही माता पिता से उत्पन्न दो शिशुओं के स्वभाव आदि में भेद क्यों दिखाई पड़ता है? इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि यह भेद कुछ न कुछ दोनों बीजघटकों में ही—उनके कललरस की योजना में ही, रहता है। माता पिता अपने जीवन में स्थिति के परिवर्तन के अनुरूप जो नई नई विशेषताएँ प्राप्त करते जाते हैं उनका

प्रभाव बीजघटकों के अणवात्मक कललरस के विधान पर भी उलटकर पड़ता है और उनके द्वारा संयोजित संतति में देखा जाता है।

इस विभेद के संबंध में एक बात और है। यद्यपि गर्भाधान के समय दो आत्माओं का जो संमिश्रण होता है उसमें दोनों घटकों के अनुरागात्मक संयोग द्वारा केवल जनक जननी की आत्माओं की निहित शक्तियों की ही संप्राप्ति अधिकतर शिशु को होती है; पर ऐसा भी होता है कि और ऊपर की पीढ़ियों के पूर्वजों के मानसिक संस्कार भी साथ ही उसे प्राप्त हो जाते हैं। कुलपरंपरासबंधी प्राकृतिक नियम आत्मा पर भी ठीक वैसे ही घटते हैं जैसे अंगविधान पर। छत्रक आदि समुद्र के उद्भिदाकार कृमियों में एक एक पीढ़ी का अंतर देकर पूर्वजों की विशेषताएँ प्रकट होती हैं। एक कृमि से जो दूसरा कृमि उत्पन्न होगा उसमें पहले का लक्षण न होगा, उस दूसरे से जो तीसरा उत्पन्न होगा उसमें पहले के लक्षण मिलेंगे, फिर उस तीसरे के लक्षण पाँचवीं पीढ़ी में मिलेंगे, पाँचवी के सातवीं में, इसी प्रकार यह क्रम बराबर चला चलेगा। इसी नियम के अनुसार दूसरी पीढ़ी के लक्षण चौथी में, चौथी के छठी में, छठी के आठवीं में मिलेंगे। मनुष्य आदि उन्नत जीवों में यद्यपि इस प्रकार के अंतर का नियम नहीं है पर उनमें भी कभी कभी एक पीढ़ी का अंतर देकर लक्षण प्रकट होते हैं, जिसका कारण वंशपरंपरा का निहित नियम है। बड़े बड़े लोगों में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उनके गुण और स्वभाव उनके पितामहों से मिलते हैं।

आत्मविकास की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—एक गर्भावस्था, दूसरी जीवनावस्था।

गर्भ में आत्मोपत्ति—मनुष्य का गर्भ साधारणतः नौ महीनों में पूरा होता है। इस बीच में बाहरी संसार से वह बिलकुल अलग रहता है और उसकी रक्षा के लिये केवल गर्भकोश ही नहीं रहता,

आवरण की तरह लिपटी हुई झिल्लियाँ भी होती हैं। ये झिल्लियाँ सब सरीसृपों, पक्षियों और स्तन्यजीवों में होती हैं। इन समस्त जीवों के भ्रूण झिल्लियों के जलपूर्ण कोश में रहते हैं। आघात से रक्षा का यह आयोजन आदिम सरीसृपों ने अत्यंत प्राचीन कल्प में प्राप्त किया था जब कि वे जल में न रह कर जमीन पर घूमने और साँस लेने लगे थे। उनके पूर्वज जलस्थलचारी जंतु (मेढक आदि) अपने पूर्वज मत्स्यों के समान जल ही में रहते और साँस लेते थे।

उन रीढ़वाले जंतुओं के भ्रूण में जो जल में रहते थे, आदिम जीवों के बहुत अधिक लक्षण बहुत अधिक काल तक रहते थे जैसा कि आज कल की मछलियों और मेढकों में देखा जाता है। यह बात प्रायः सब लोग जानते हैं कि अंडे से निकलने के बाद मेढकों के भ्रूण लंबी पूँछवाले कीड़ों के रूप में होते हैं और केवल जल ही में तैरा करते हैं। इन बच्चों को साधारण भाषा में छुछमछली कहते हैं। इनमें इनके पूर्वज मत्स्यों का ढाँचा बहुत काल तक बना रहता है। इनकी रहन-सहन और संवेदना भी उन्हीं की सी होती है। ये गलफड़ों के द्वारा साँस लेते हैं। फिर जब कुछ दिनों के उपरांत इनका विलक्षण रूपांतर या कायाकल्प होता है और इनका अंगविधान स्थलचारी जीवन के अनुकूल संघटित होता है तब इनका मत्स्याकार शरीर कूदनेवाले चतुष्पद मेंढक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। फिर तो गलफड़ों द्वारा पानी में साँस लेने के बदले ये फेफड़ों के द्वारा स्थल पर साँस लेने लगते हैं, इनकी इंद्रियाँ और अंतःकरण अर्थात् सारा विज्ञानमय कोश अधिक उन्नत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यदि हम छुछमछली के आत्मस्फुरणक्रम को आदि से अंत तक ध्यानपूर्वक देखें तो पता लगे कि जीवनोत्पत्ति के सामान्य नियम किस प्रकार आत्मविकास के क्रम पर भी ठीक ठीक घटते हैं। बात यह है कि छुछमछली की वृद्धि का बाह्य संसार की उस बदलनेवाली परिस्थिति से सीधा लगाव होता

है जिसके अनुकूल उसकी संवेदना और गति में परिवर्तन उपस्थित होता है। तैरनेवाली छुछमछली का ढाँचा ही नहीं रहनसहन भी मछली ही की सी होती है, मेंढक के लक्षण उसमें परिवर्तन के उपरांत आते हैं।

मनुष्य के भ्रूण में ऐसा नहीं होता। झिल्लियों के कोश में बंद रहने के कारण वह वाह्य संसार के प्रभावों से अलग रहता है और वाह्य परिस्थिति के अनुरूप प्रतिक्रिया उसमें स्वच्छंद रूप से नहीं होने पाती। जलपूर्ण कोश के भीतर रक्षापूर्वक बंद रहने के कारण मनुष्य आदि के भ्रूण में आदिम जीवों के लक्षणों का उत्तरोत्तर विकास पूर्णरूप से नहीं होने पाता। अत्यंत संक्षिप्त उद्धरणों के द्वारा ही उसे नए जीव का स्वरूप प्राप्त होने का सुगम साधन प्राप्त हो जाता है। पहली बात तो यह है कि ऐसे भ्रूण के पोषण का पूरा प्रबंध रहता है। यह पोषण अंडजों में तो उस जरदी के द्वारा होता है जो अंडों के भीतर रहती है। जरायुजों में जरायु के द्वारा माता के रक्त का जो संचार भ्रूण में होता है उसके द्वारा उसका पोषण पूर्ण रूप से होता है। अतः इनका भ्रूण धरती पर गिरने के पहले ही पूर्ण वृद्धि को प्राप्त रहता है। पर गर्भावस्था में भ्रूण की आत्मा सुषुप्तावस्था में रहती है। इसी प्रकार की सुषुप्ति उन कीड़ों के कायाकल्प काल में रहती है जिनका रूपांतर होता है। तितलियाँ, मक्खियाँ गुबरैले, रेशम के कीड़े इत्यादि जब ढोले से फतिंगे के रूप में आने लगते हैं तब इसी प्रकार की सुषुप्त दशा में रहते हैं। इस सुषुप्तिकाल के बीच उनके तंतुओं और विविध अंगों का निर्माण होता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस कायाकल्प काल के पूर्व जब वे ढोले के रूप में रहते हैं तब उनमें इंद्रियों और अंतःकरण के व्यापार अच्छी तरह दिखाई पड़ते हैं। फिर इस सुषुप्तावस्था के हट जाने पर जब इन कीड़ों का पूरा कायापलट हो जाता है और ये पूर्ण यौवनप्राप्त फतिंगों के

रूप में उड़ने लगते हैं तब ये मनोव्यापार और भी उन्नत रूप में देखे जाते हैं।

मनुष्य के मनोव्यापार की भी जीवनकाल में कई अवस्थाएँ होती हैं। जिस प्रकार उसका शरीर शैशव, कुमार, पौगंड, यौवन और जरा नामक चढ़ानी उतरानी की अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त होता है उसी प्रकार उसकी आत्मा या मनोव्यापार भी।

———

नवाँ प्रकरण

वर्गपरंपराक्रम से आत्मा का विकास

यह सिद्धांत अब पूर्णतया स्थिर हो गया है कि मनुष्य का शरीर अनेक पूर्वज जंतुओं के शरीर से परंपरानुसार परिवर्तित होते होते उत्पन्न हुआ है। अतः उसके मनोव्यापारों को हम उसके और शारीरिक व्यापारों से अलग नहीं कर सकते। हमें यह मानना पड़ता है कि शरीर और मन दोनों का विकास क्रमशः हुआ है। अतः मनोविज्ञान में यह देखना अत्यंत आवश्यक है कि किस प्रकार पशु की आत्मा से क्रमशः मनुष्य की आत्मा का विकास हुआ है। आत्मा के जाति-परंपरागत विकासक्रम का निरूपण मनस्तत्त्व विद्या का प्रधान अंग है। एक जाति के जंतु से विकास द्वारा दूसरी जाति के जंतु की जो दीर्घपरंपरा चली आई है उसके अन्वेषण के द्वारा आत्मा के विकासक्रम का भी बहुत कुछ पता चलता है।

मनुष्य के मनोव्यापारों का दूसरे जरायुज जंतुओं के मनोव्यापारों से यदि एक एक करके मिलान करें तो पता लगेगा कि बनमानुस की आत्मा से ही कुछ और उन्नत अवस्था को प्राप्त मनुष्य की आत्मा है। समस्त रीढ़वाले जंतुओं में मनोव्यापारों का प्रधान करण मेरुरज्जु होता है[1]। यह मेरुरज्जु बिना रीढ़वाले पूर्वज कीड़ों की उस खड़ी संवेदनसूत्रग्रंथि का प्रवर्द्धित

१. यह मेरुरज्जु भेजे की बत्ती के रूप का होता है और मस्तिष्क से लेकर पीछे की ओर मेरुदंड के बीचोबीच से होता हुआ नीचे तक गया रहता है।

रूप है जो चिपटे केंचुओं की गर्भझिल्ली अर्थात् घटकों की परत से उन्नत अवस्था को प्राप्त होकर बनी है। चिपटे केंचुओं[1] के अंग-विश्लेषण द्वारा इस बात का पता लग जाता है। इन आदिम जीवों के कोई अलग संवेदनसूत्रमय विज्ञानकोश नहीं होता, इनके ऊपर का सारा चमड़ा ही संवेदनग्राही और मनोव्यापारसाधक होता है। ये अनेकघटक कीट परस्पर गुछकर झिल्ली के रूप में नियोजित होनेवाले अणुजीवों के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा बने हैं। भिन्न भिन्न जंतुओं के गर्भविधान की परीक्षा करने से इनके योजनाक्रम का पता चलता है। परस्पर मिलकर झिल्ली या आवरण बनानेवाले ये कलात्मक अणुजीव आदिम एकघटक अणुजीवों से ही उत्पन्न हुए हैं। गर्भ के भीतर एकघटक या अणुजीव से जिस प्रकार अनेक घटकों के कलात्मक समवाय की सृष्टि होती है और फिर उससे उत्तरोत्तर उन्नत अवस्थाओं का क्रमशः विधान होता है यह खुर्दबीन (सूक्ष्मदर्शक यंत्र) के द्वारा देखा जा सकता है। इस परीक्षा द्वारा आत्मा के विकास का जो क्रम निर्धारित होता है उसके अनुसार आत्मा आठ मुख्य अवस्थाओं से होती हुई मनुष्य की आत्मा का उन्नत रूप प्राप्त करती है। इन पूर्वापर अवस्थाओं के सूचक आठ प्रकार के जो जीव पाए जाते हैं वे ये हैं—

(१) एकघटक अणुजीव जिन्हें एक अत्यंत क्षुद्र कोटि की घटकात्मा मात्र होती है; जैसे—जल में रहनेवाले रोईंदार अणुजीव[2]।

---

१. एक प्रकार के चिपटे केंचुए जानवरों के पेट या कलेजे में भी उत्पन्न हो जाते हैं।

२. ये अणुजीव एक इंच के शतांश के बराबर होते हैं और ताल आदि के स्थिर जल में अपने रोइयों के सहारे तैरते फिरते हैं। ये एक लंबी थैली के रूप के होते हैं। इनमें स्फुट इंद्रियाँ आदि नहीं होतीं। पेट की ओर कुछ दबा हुआ स्थान होता है जिसमें एक ओर से जल भीतर जाता है और दूसरी ओर से

(२) समूहबद्ध अनेकघटक क्षुद्रजीव जो बहुत से मिलकर एक विशेष आकार के पिंड बनाकर रहते हैं, जैसे स्पंज। ये यद्यपि मिलकर बिलकुल एक जीव नहीं बन जाते तो भी इनमें एक प्रकार का संबंध रहता है। एक अणुजीव के त्वक् पर जो क्षोभ पहुँचाया जायगा उसका प्रभाव सारे समूह पर पड़ेगा। ऐसे जीव जल में पाए जाते हैं। इनकी आत्मा को समूहबद्ध आत्मा कह सकते हैं।

(३) आदिम अनेकघटक जीव जिनका शरीर कई घटकों के मिलकर सर्वथा एक शरीरकोश हो जाने से बना है, जैसे चिपटे केंचुओं का वर्ग[1]।

(४) बिना रीढ़वाले आदिम जीव जिनमें मस्तिष्क या अंतःकरण एक खड़ी सूत्रग्रंथि के रूप में होता है, जैसे जोंक आदि का वर्ग।

(५) ऐसे रीढ़वाले जंतु जिन्हें कपाल या मस्तिष्क नहीं होता केवल एक सादा मेरुरज्जु होता है, जैसे अकरोटी मत्स्य[2] या कुलाट।

(६) कपाल और पंचघटात्मक मस्तिष्कवाले जंतु, जैसे मछली।

(७) ऐसे स्तन्य जंतु जिनके मस्तिष्क का तल उन्नत अवस्था को प्राप्त रहता है, जैसे जरायुज वर्ग—कुत्ते, बिल्ली आदि।

निकलता है। भीतर जो कललरस का चेप रहता है उसमें जल का पोषक अंश (और भी सूक्ष्म वनस्पति आदि) मिल जाता है। जब यह जीव किसी प्रकार उद्विग्न या क्षुब्ध होता है तब अपने त्वक् के भीतर से चारों ओर लंबे लंबे सूत निकालता है। सड़ाव के कीड़े इसी प्रकार के होते हैं।

१. ये केंचुए कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश तो जंतुओं के पेट में पड़ते हैं, कुछ समुद्र के जल में या दलदलों में पाए जाते हैं।

२. चार अंगुल लंबा एक कीड़ा जो देखने में जोंक की तरह का होता है। इसमें विशेषता यह है कि इसके शरीर में एक प्रकार की लचीली कोमल रीढ़ होती है जिसे सूत्रदंड कह सकते हैं पर कपाल या मस्तिष्क नहीं होता। यह कीड़ा समुद्र तट पर बालू में बिल बनाकर रहता है और पानी में खड़ा तैरता है।

(८) बनमानुस और मनुष्य जिनके मस्तिष्क के भेजे में मेधा-शक्ति होती है ।

ऊपर लिखे हुए जीवों की सृष्टि भिन्न भिन्न कल्पों में एक दूसरे के पीछे क्रमशः हुई है । इनमें जिस क्रम से मनस्तत्व का विकास हुआ है वह नीचे दिया जाता है—

(१) **घटकात्मा या अंकुरात्मा**—जीववर्गों के बीच मनोविकास की यह प्रथमावस्था है । ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य तथा और सब जीवों के सबसे आदिम पूर्वज एकघटक अणुजीव थे । जिस क्रम से मनुष्य आदि प्राणी अपने पूर्ववर्ती जंतुओं से परिवर्तनपरंपरा द्वारा निकलकर अपने वर्तमान रूप में आए हैं उसका पता प्रत्येक प्राणी के भ्रूणविकासक्रम को देखने से लग जाता है । और सब अनेकघटक जीवों के समान मनुष्य भी गर्भाशय के भीतर एक क्षुद्र घटक से जिसे अंडघटक या अंकुरघटक कहते हैं अपने जीवन का आरंभ करता है । जैसे इस घटक में आरंभ ही से एक प्रकार की आत्मा होती है वैसे ही अत्यंत प्राचीन कल्प के उन पूर्वज अणुजीवों में भी थी जिनसे विकास-क्रमानुसार मनुष्य की उत्पत्ति हुई है ।

एकघटक जीवों के मनोव्यापार किस प्रकार के होते हैं इसका पता आजकल पाए जानेवाले एकघटक अणुजीवों के शरीरविधान आदि को देखने से लग सकता है । इन अणुजीवों के अन्वीक्षण से बहुत सी नई नई बातों का पता लगा है । वरवर्न नामक एक जरमन जीव-विज्ञानवेत्ता ने अनेक प्रकार से परीक्षा करके बतलाया है कि एकघटक अणुजीवों के समस्त मनोव्यापार अचेतन अर्थात् अज्ञानकृत होते हैं, उनमें जो संवेदना और गति देखी जाती है वह कललरस की कणिकाओं के धर्मानुसार होती है । एकघटक अणुजीवों के मनोव्यापार जड़-द्रव्य की रासायनिक क्रियाओं, जैसे अणुओं का आकर्षण, विश्लेषण

आदि; और उन्नत जंतुओं की अंतःकरण वृत्तियों के बीच की शृंखला के समान हैं। उन्हें मनुष्य तथा और अनेकघटक जीवों के उन्नत मनोव्यापारों का बीज समझना चाहिये।

जल में रहनेवाले भिन्न भिन्न प्रकार के एकघटक कीटाणुओं की परीक्षा करके मैंने कुछ दिन पहले यह मत प्रकट किया था कि प्रत्येक सजीव घटक में कुछ मानसिक वृत्तियाँ होती हैं, और अनेकघटक जीवों और पौधों की मानसिक वृत्ति उन घटकों की मानसिक वृत्तियों की समष्टि है जिनकी योजना से उनका शरीर संघटित रहता है। स्पंज आदि क्षुद्र कोटि के अनेकघटक जीवों में शरीर का प्रत्येक घटक मानसिक क्रिया में समान रूप से प्रवृत्त होता है पर उन्नत कोटि के जीवों में कार्यविभाग के नियमानुसार कुछ चुने हुए घटक ही इस क्रिया के लिये नियुक्त हो जाते हैं और मनोघटक कहलाते हैं।

घटकात्मा की भी ऊँचानीचो कई श्रेणियाँ होती हैं। कुछ का व्यापार तो अत्यंत सीधासादा होता है और कुछ का जटिल होता है। सबसे आदिम और क्षुद्र कोटि के एकघटक जीवों में संवेदन और गतिशक्ति घटकस्थ कललरस में सर्वत्र एकरस होती है। जो कुछ व्यापार वे कर सकते हैं अपने रसबिंदु रूपी शरीर के प्रत्येक भाग से कर सकते हैं। उन्नत कोटि के एकघटक अणुजीवों में कुछ करणांकुर उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे गति आदि व्यापार होते हैं। इस प्रकार के करण जल के कुछ सूक्ष्म कीटाणुओं में स्थिर पादांकुरों या रोइयों के रूप में देखे जाते हैं। इन कीटाणुओं के कललरस के मध्य में एक सूक्ष्म गुठली होती है जिसे घटक का अंतःकरण समझना चाहिए। सबसे आदिम वनस्पति और सबसे आदिम जंतु जो सृष्टि के बीच उत्पन्न हुए वे एकघटक थे। आज भी इस प्रकार के एकघटक जंतु और एकघटक वनस्पति पाए जाते हैं। जल के ये वनस्पति अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, कोई कोई तो एक इंच के कई लाखवें हिस्से के बराबर होते हैं।

जल में रहनेवाले रोईंदार सूक्ष्म अणुजीवों में उन्नत कोटि की घटकात्मा देखी जाती है। उनकी गतिविधि का यदि हम अनेकघटक प्राणियों की गतिविधि से मिलान करें तो बहुत कम अंतर मिलेगा। इन एकघटक अणुजीवों में जो संवेदनग्राही और गतिसंपादक करणांकुर होते हैं वे वही काम करते हैं जो उन्नत जंतुओं का मस्तिष्क करता है। इन सूक्ष्म अणुजीवों का मनोव्यापार किस प्रकार का होता है इस विषय में कुछ मतभेद है। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि इनमें जो स्वतः प्रवृत्ति होती है वह जड़ या उद्वेगात्मक अर्थात् कललरस के स्वाभाविक क्षोभ से उत्पन्न, होती है और जो विषयोत्तेजित गति देखी जाती है वह प्रतिक्रिया मात्र होती है। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का कहना है कि इनके ये व्यापार कुछ कुछ ज्ञानकृत होते हैं अर्थात् इनमें थोड़ी बहुत चेतना का विकास होता है। पर अधिकांश लोग इनमें चेतना या ज्ञान नहीं मानते। जो कुछ हो, हमारा प्रयोजन इतने ही से है कि इनमें एक प्रकार का समुन्नत मनस्तत्त्व या आत्मतत्त्व होता है।

(२) **समूहबद्ध आत्मा**—वर्गानुक्रमगत आत्मविकास की यह द्वितीयावस्था है। मनुष्य तथा और दूसरे अनेकघटक प्राणियों की गर्भवृद्धि एक सूक्ष्म घटक के विभाग द्वारा आरंभ होती है। यह सूक्ष्म अंकुरघटक पहले दो घटकों में विभक्त होता है, फिर दोनों घटक विभक्त होकर चार घटक हो जाते हैं। चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस, बत्तीस से चौंसठ इसी प्रकार घटकों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि वे सब मिलकर सूक्ष्म बुद्बुदगुच्छ या शहतूत का सा आकार धारण करते हैं। इस गुच्छ को कललगुच्छ कहते हैं। धीरे धीरे घटकों के इस गुच्छे के बीच एक प्रकार का रस इकट्ठा हो जाता है और यह गुच्छा झिल्ली का एक कोश या घट बन जाता है। यह इस प्रकार होता है कि सारे घटक रस के ऊपर आकर एक झिल्ली के रूप

में जम जाते हैं जिसे मूलकला कहते हैं। इस कला द्वारा जो गोल कोश बनता है उसे अंकुरकोश या कललकोश कहते हैं।

कललकोश के निर्माण में घटकसमूह के जो मनोव्यापार दिखाई पड़ते हैं वे कुछ तो संवेदन हैं और कुछ गत्यात्मक क्रियाएँ हैं। गति इसमें दो प्रकार की होती है—एक तो आभ्यंतर गति जो विभाग के समय घटक की भीतरी गुठली के स्थितिपरिवर्तन के क्रम में देखी जाती है, दूसरी बाह्यगति जो घटकों के स्थिति बदलने और परस्पर मिलकर झिल्ली बनाने में देखी जाती हैं। हम इन गतियों को कुलपरंपरागत और अचेतन, अज्ञानकृत मानते हैं। ये एकघटक अणुजीवों के धर्म हैं जिनसे समस्त बहुघटक प्राणियों का विकास हुआ है। कुलपरंपरानुसार ये धर्म किसी न किसी रूप में अबतक प्रकट होकर कुछ काल तक रहते हैं। संवेदन भी दो प्रकार के होते हैं—(क) प्रत्येक घटक के पृथक् पृथक् संवेदन और (ख) घटकों के सारे समूह का एक सामान्य संवेदन जिसका पता सारे घटकों की उस सामान्य प्रवृत्ति से लगता है जिसके अनुसार वे सब के सब मिलकर एक कोश निर्माण करते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है गर्भावस्था का यह कललघट वह रूप है जिस रूप में सारे जंतुओं के आदिम पूर्वज किसी कल्प में थे। इस प्रकार के घटकसमूह अब तक जल के रोइँदार तथा और कई प्रकार के एकघटक अणुजीवों में पाए जाते हैं। ये एकघटक जीव उसी प्रकार समूह बनाकर रहते हैं जिस प्रकार कललकोश के घटक।

(३) तंतुजालगत या समवाय आत्मा—वर्गपरंपरागत आत्म-विकास की यह तृतीयावस्था है। उन सब बहुघटक पौधों और जीवों में जिनके घटक तंतुजाल के रूप में मिलकर एक हो जाते हैं, दो कोटि के मनोव्यापार देखे जाते हैं—(क) तंतुजाल के एक एक घटक की आत्मा का अलग अलग मनोव्यापार और (ख) सारे तंतुजाल अर्थात् घटकसमष्टि का मनोव्यापार। मनोव्यापारों के इस समष्टिविधान से

ही बहुत से घटक मिलकर एक शरीर हो जाते हैं। यह तंतुजालगत आत्मा या आत्मसमष्टि सारे घटकों की पृथक् पृथक घटकात्माओं को अंगांगिभाव से चलाती है। निम्नकोटि के बहुघटक पौधों और जंतुओं में आत्मा की यह दोहरी प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है। परीक्षा द्वारा इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं। किसी पौधे को लेकर हम देख सकते हैं कि उसके प्रत्येक घटक की निज की संवेदना और गति भी होती है और साथ ही प्रत्येक तंतुजाल या अवयव का, जो कई समानधर्मवाले घटकों के योग से संघटित रहता है, विशेष उत्तेजन और मनोधर्म भी होता है। दृष्टांत के लिये पौधों के पराग या परागकेसर को लीजिए।

(क) उद्भिदात्मा—यह बहुघटक पौधों की समस्त आंतरिक वृत्तियों का सारांश है। पहले पौधों और जंतुओं में बड़ा भारी भेद यह समझा जाता था कि जंतुओं में आत्मा होती है और पौधों में नहीं। पर घटकविधान और कललरसविधान का पता लग जाने से अब जंतुओं और पौधों की मूलयोजना की समानता सिद्ध हो गई है। आजकल के तारतम्यिक शरीरविज्ञान ने अच्छी तरह दिखा दिया है कि बहुत से पौधों और क्षुद्र जंतुओं की प्रवृत्ति पर प्रकाश, ताप, विद्युत्प्रवाह, संघर्षण और रासायनिक क्रिया इत्यादि उत्तेजनों का प्रभाव समान पड़ता है और दोनों में इस प्रकार के उत्तेजन से एक ही ढंग की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। ऐसे उत्तेजनों से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया स्पंज, मूँगे के कृमि आदि में उत्पन्न होती है उससे बढ़कर लज्जालु और मक्षिकाग्राही आदि पौधों में देखी जाती है। अतः यदि एक की क्रिया को हम आत्मा की क्रिया मानते हैं तो दूसरे की क्रिया को भी आत्मा की क्रिया क्यों न मानें? जो लज्जालु छूने के साथ ही अपनी पत्तियों को बंद कर लेता और टहनियों को झुका लेता है, जो मक्षिकाग्राही पौधा पत्ते पर मक्खी बैठते ही उस पत्ते को दूसरे पत्ते

के साथ जुटाकर मक्खी को फँसा लेता है, उसमें स्पंज आदि की अपेक्षा अधिक संवेदन और गतिशक्ति हमें माननी पड़ेगी।

(ख) संवेदनसूत्र रहित अनेकघटक जीवों की आत्मा—उन क्षुद्र बहुघटक जीवों के मनोव्यापार ध्यान देने योग्य हैं जिनका शरीर तंतुजालमय तो होता है पर जिन्हें अलग संवेदनवाहक सूत्र नहीं होते। जल में रहनेवाले घटकृमि, चिपटे केंचुए, स्पंज तथा प्रवालकृमि इत्यादि सबसे क्षुद्र कोटि के आशयविशिष्ट जीव इसी प्रकार के हैं।

घटकृमि आशयविशिष्ट जीवों में सब से आदिम हैं। इन्हींसे और सब बहुघटक जीव उत्पन्न हुए हैं। इन कृमियों का क्षुद्र शरीर एक अंडाकार कोश या पात्र के रूप में होता है जिसमें एक छोटा छिद्र होता है। कोश के भीतर का खाली स्थान उदर का और छिद्र मुख का आदि रूप है। कोश दोहरी झिल्लियों का होता है। नीचेवाली झिल्ली उदराशय का आवरण है जिसके द्वारा पाचन क्रिया होती है और ऊपरवाली झिल्ली त्वक् है जिसके द्वारा स्पर्शसंवेदन और गति होती है। त्वक्वाली झिल्ली जिन घटकों के योग से बनी रहती है उनके ऊपर बहुत सूक्ष्म रोइयाँ होती हैं जिनके सहारे ये कृमि पानी में तैरते हैं। इन कृमियों की कई जातियाँ जल में मिलती हैं। ये द्विकलघट कृमि अपने जीवन भर उसी अवस्था में रहते हैं जिस अवस्था में कुछ काल तक मनुष्य आदि समस्त बहुघटक प्राणियों के भ्रूण आरंभ में रहते हैं। यह द्विकलघट रूप भ्रूण को कललघट अवस्था के उपरांत ही प्राप्त होता है। कललकोश की जो एकहरी झिल्ली होती है वह एक ओर पिचककर नीचे की ओर धँस जाती है। आधी झिल्ली जब पिचककर शेष आधी झिल्ली के भीतर जम जाती है तब कललकोश का आकार बदलकर दोहरी झिल्ली के एक कटोरे का सा हो जाता है जिसे हम द्विकलघट कह सकते

हैं। नीचे ऊपर जमी हुई दो झिल्लियों में से बाहरी झिल्ली वाह्यकला, त्वक्कला है और भीतरी झिल्ली आशयकला है। कटोरे के आकार के द्विकलघट में जो खाली स्थान होता है वही पेट या जठराशय है और जो छिद्र होता है वही मुख है। बाहरी त्वक्कला ही संवेदन की एक-मात्र इंद्रिय है। इसीसे क्रमशः उन्नति करते करते बड़े जीवों की ऊपरी त्वचा, इंद्रियाँ तथा संवेदनसूत्र कार्यविभाग क्रम द्वारा बने हैं। द्विकलघट जीवों में संवेदनवाहक सूत्र आदि नहीं होते, उनकी ऊपरी झिल्ली (वाह्यकला) के सारे घटक समान रूप से संवेदनग्राही और गतिशील होते हैं। उनमें तंतुजालगत आत्मा सब से आदिम या प्रारंभिक रूप में रहती है।

चिपटे केंचुओं में से कुछ की बनावट तो बिलकुल घटकृमियों की सी होती है अर्थात् उनमें संवेदनसूत्र विधान नहीं होता। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें एक लंबा संवेदनसूत्र और एक सूक्ष्म मस्तिष्क-ग्रंथि भी होती है। स्पंजों की बनावट सबसे विलक्षण होती है। वे अधिकतर समुद्र के तल में पाए जाते हैं। सबसे क्षुद्र कोटि के जो स्पंज होते हैं वे द्विकलघट के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। उनकी झिल्ली में छलनी की तरह के बहुत से छेद होते हैं जिनसे होकर खाद्यमिश्रित जल भीतर जाता है। वे कांड या शाखा के रूप का समूहपिंड बनाकर रहते हैं जिसके भीतर जल के लिये नालियाँ होती हैं। वे चर नहीं होते हैं। उनमें संवेदन और अंगगति बहुत ही मंद होती है। इसी से पहले लोग उन्हें उद्भिद समझते थे।

जल के उद्भिदाकार कृमियों की यदि हम परीक्षा करें तो साफ दिखाई पड़ेगा कि किस प्रकार तंतुजालगत आत्मा से उन्नतिक्रम द्वारा संवेदनसूत्रगत आत्मा का विकास होता है। मूँगा और छत्रक इसी प्रकार के कृमि हैं। एक प्रकार के कृमियों का समूहपिंड या छत्ता समुद्र और झीलों में चट्टानों आदि पर जमा मिलता है जो देखने में

खड़े पौधे की तरह जान पड़ता है। इन्हें खंडबीज[1] कहते हैं। छुरेके प्रधान कांड में से जगह जगह पर छोटी छोटी शाखाएँ निकली होती हैं जो सिरे पर चौड़ी होकर गिलास के आकार की होती हैं। इसी गिलास के भीतर असली कृमि बंद रहते हैं, केवल उनकी सूत की तरह की भुजाएँ निकली होती हैं। कुछ शाखाओं के भीतर विशेष प्रकार के कुड्मल होते हैं। जब कोई कुड्मल अपनी पूरी बाढ़ को पहुँच जाता है तब एक स्वतंत्र जीव होकर कांड से अलग हो जाता है और चर जंतु के रूप में इधर उधर तैरने लगता है। इसी को छत्रककृमि कहते हैं क्योंकि यह छाते के आकार का होता है। जिस अचर पिंड से इसकी उत्पत्ति होती है उससे यह बिलकुल भिन्न होता है। अचर खंडबीज कृमियों में संवेदनसूत्र और इंद्रियाँ नहीं होतीं, उनमें संवेदन शरीरव्यापी होता है। पर छत्रक में संवेदनग्रंथियों और विशेष इंद्रियों का कुछ विधान होता है। इसके प्रजनन का विधान भी ध्यान देने योग्य है। स्थावर खंडबीज कृमियों में स्त्री पुरुष विधान नहीं होता, कुड्मल विधान होता है जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। पर उनसे जो छत्रककृमि उत्पन्न होते हैं उनमें स्त्री पुरुष अलग अलग होते हैं। पुरुष के शुक्रकीटाणु जल में छूट पड़ते हैं और जल के प्रवाह द्वारा मादा के गर्भाशय में जाकर गर्भकीटाणु को गर्भित करते हैं। ये गर्भकीटाणु शीघ्र डिंभकीट के रूप में प्रवर्धित होकर कुछ दिनों तक जल में तैरते फिरते हैं, पीछे किसी पौधे, लकड़ी के तख्ते आदि पर जम जाते हैं और धीरे धीरे बढ़कर खंडबीज कृमि के रूप में हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसी खंडबीज कृमि से फिर छत्रककृमि की उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि खंडबीज कृमि से छत्रक कृमि की उत्पत्ति होती है और छत्रककृमि से खंडबीज

१. इनमें यह विशेषता होती है कि इनके शरीर के यदि कई खंड कर डालें तो उसमें प्रत्येक खंड बढ़कर कृमि के रूप में हो जायगा।

कृमि की। प्रजनन के इस विधान को इतरेतरजन्म[1] या योन्यंतर विधान कहते हैं। इसमें हम आत्मा की वर्गपरंपराक्रम से वृद्धि अपनी आँखों के सामने देख सकते हैं। समूहपिंड बनाकर रहनेवाले उद्भिदाकार कृमियों में हमें दोहरी आत्मा दिखाई पड़ती है। एक तो समूहपिंड के कृमियों की पृथक् पृथक् आत्मा, दूसरी सारे समूहपिंड की सामान्य आत्मसमष्टि।

(४) संवेदनसूत्रगत आत्मा या सूत्रात्मा—वर्गपरंपरानुगत आत्मविधान की यह चतुर्थावस्था है। मनुष्य आदि समुन्नत जीवों के मनोव्यापार एक विशेष यंत्र या करण के द्वारा होते हैं। इस करण के तीन मुख्य विभाग होते हैं—(क) बाह्यकरण या इंद्रियाँ जिनसे संवेदन होता है, (ख) पेशियाँ जिनसे गति या संचालन होता है और (ग) संवेदनसूत्र[2] जो इन दोनों के बीच मस्तिष्क रूपी प्रधान करण के द्वारा संबंध स्थापित करते हैं। मनोव्यापारों का साधन करनेवाले इस भीतरी यंत्र की उपमा तारयंत्र से दी जा सकती है। संवेदनसूत्र तार हैं, इंद्रियाँ छोटे स्टेशन हैं और मस्तिष्क सदर स्टेशन है। गतिवाहक सूत्र संकल्परूपी आदेश को सूत्रकेंद्र या मस्तिष्क से पेशियों तक पहुँचाते हैं जिनके आकुंचन से अंगों में गति होती है। संवेदनवाहक सूत्र इंद्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदनों को अंतर्मुख गति से मस्तिष्क या अंतःकरण में पहुँचाते हैं। मस्तिष्क या अंतःकरण रूपी मनोव्यापारकेंद्र ग्रंथिमय होता है। इन सूत्रग्रंथियों के घटक सजीव द्रव्य के सबसे समुन्नत अंश हैं। इनके द्वारा इंद्रियों और पेशियों के बीच व्यापारसंबंध

१. ऋग्वेद में लिखा है कि 'अदितिर्दक्षो अजायत, दक्षाददितिः परि' अर्थात् अदिति से दक्ष उत्पन्न हुए और दक्ष से अदिति। इसका यास्काचार्य ने इस प्रकार समाधान किया है 'इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतर प्रकृतयः'।

२. क्षुद्र कोटि के जीवों में साधारण तंतुओं से अलग संवेदन सूत्र नहीं होते।

तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त भावग्रहण, बोध और विवेचन आदि अनेक प्रकार के मनोव्यापार होते हैं।

अत्यंत क्षुद्र जीवों को छोड़ शेष सब जंतुओं में मनोव्यापार का एक अलग करण होता है। छत्रककृमियों में मुँह के मेंडरे पर भेजे या संवेदनसूत्र बनानेवाली धातु का एक छल्ला सा होता है जिसमें थोड़े बहुत अंतर पर कई, प्रायः चार या आठ कोश या ग्रंथियाँ होती हैं। ये ग्रंथियाँ निकले हुए पैरों के सिरे पर होती हैं और वही काम देती हैं जो मस्तिष्क देता है। चिपटे केंचुओं और जोंक आदि कीड़ों में मुँह के ऊपर केवल दो सूत्रग्रंथियों का खड़ा मस्तिष्क होता है। इन ग्रंथियों से दो सूत्रशाखाएँ त्वक् और पेशियों की ओर जाती हैं। शुक्तिवर्ग के कोमलकाय कृमियों में नीचे की ओर भी ग्रंथियाँ होती हैं जो ऊपरवाली ग्रंथियों से एक छल्ले के द्वारा जुड़ी होती हैं। इस प्रकार का छल्ला खंड-काय अर्थात् जिनका शरीर गुरियों से बना हो, जैसे कनखजूरा, मकड़ा, केकड़ा आदि कीटों में भी होता है पर वह पेट की ओर भेजे के दो सूत्रों के रूप में दूर तक गया होता है। रीढ़वाले जंतुओं में अंतःकरण की बनावट और ही प्रकार की होती है। उनमें पीठ की ओर भेजे की एक बत्ती प्रकट होती है जो अगले सिरे की ओर फैल कर घटस्वरूप मस्तिष्क का रूप धारण करती है।

उन्नत कोटि के सब जीवों के मस्तिष्क यद्यपि एक ही ढाँचे के नहीं होते पर भिन्न भिन्न जंतुओं के मस्तिष्कों का मिलान करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उनकी उत्पत्ति एक ही मूल से अर्थात् चिपटे केंचुओं और जोंक आदि कीड़ों के केवल दो ग्रंथियों से निर्मित क्षुद्र मस्तिष्क से हुई है। मस्तिष्क या अंतःकरण का स्फुरण गर्भकाल में सबसे ऊपरवाली झिल्ली में होता है। सब जंतुओं के मस्तिष्क में ग्रंथि-घटक या मनोघटक होते हैं जिनके द्वारा चिंतन, बोध आदि अनेक प्रकार

के मनोव्यापार होते हैं। संवेदन सूत्रों के अतिरिक्त गतिसूत्र भी मस्तिष्क तक गए होते हैं जिनके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।

अंतःकरण का केंद्र मस्तिष्क है। रीढ़वाले जंतुओं में इसकी परिस्थिति, रचना और योजना एक विशेष प्रकार की होती है। प्रत्येक जंतु के मस्तिष्क से भेजे की एक नली रीढ़ में होती हुई पीठ के बीचोबीच नीचे की ओर गई होती है। इस नली की एक एक गुरिया से दोनों ओर संवेदनसूत्र और गतिसूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जाते हैं। भेजे की इस नली की उत्पत्ति मेरुदंड जीवों के भ्रूण में एक ही ढंग से होती है। पीठ की त्वचा के बीचोबीच पहले भेजे की एक लकीर या नाली सी दिखाई पड़ती है। पीछे इस लकीर के दोनों किनारे कुछ कुछ उठने लगते हैं और धीरे धीरे मिल जाते हैं जिससे यह लकीर भेजे की एक पोली नली के आकार की हो जाती है।

भेजे की यह नली मेरुदंड जीवों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी से काल पाकर भिन्न भिन्न करण उत्पन्न होते हैं जिनसे अनेक प्रकार के मनोव्यापार—ज्ञान, अनुभव, प्रेरणा आदि होते हैं। मनुष्य में यह नली या मेरुरज्जु अत्यंत पूर्ण अवस्था को प्राप्त होती है। इसकी गुरियों के दोनों ओर बहुत से सूत्र शरीर के भिन्न भिन्न भागों में जाते हैं जिनके द्वारा ज्ञानेंद्रियों का अनुभव और कर्मेंद्रियों का संचालन होता है। करोड़ों वर्षों में अनेक मध्यवर्ती जंतुओं की आत्माओं से उन्नति करते करते मनुष्य की समुन्नत आत्मा का प्रादुर्भाव हुआ है। सृष्टि के भिन्न भिन्न कल्पों में जिन जिन अंतःकरण विशिष्ट जंतुवर्गों का एक दूसरे से क्रमशः विकास हुआ है, मेरुरज्जु की क्रमोन्नति के विचार से मनुष्य तक उनके आठ वर्ग होते हैं—(१) अकरोटीमत्स्य, (२) चक्रमुखमत्स्य[1], (३) मत्स्य, (४) जलस्थल-

१. बाम की तरह की एक छोटी मछली जिसके मुख का विवर गोल होता है। इसके मुँह में नीचे ऊपर के जबड़े नहीं होते, महीन महीन दाँत

चारी जंतु, (५) अजरायुज जंतु, (६) आदिम जरायुज जंतु, (७) किंपुरुषवर्ग (८) नराकार वनमानुस और मनुष्य ।

मेरुरज्जुवाले जीवों में सबसे प्रथम अकरोटी मत्स्य उत्पन्न हुए जिनके वर्ग का केवल एक जंतु कुलाट आजतक समुद्र के किनारे मिलता है । इसके मनोव्यापार का करण एक सीधी भेजे की नली है जिसमें मस्तिष्क नहीं होता । इसी से आगे चलकर चक्रमुख मत्स्यों की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के दो चार जंतु अब भी पाए जाते हैं । इनमें मेरुरज्जु का अगला छोर फैलकर एक घट के रूप में हो जाता है जिसके पाँच विभाग हो जाते हैं—बड़ा मस्तिष्कघट, अंतरवर्त्ती मस्तिष्कघट, मझला मस्तिष्कघट, छोटा मस्तिष्कघट और पिछला मस्तिष्कघट । इसी पंचघटात्मक मस्तिष्क से समस्त कपालवाले जंतुओं के मस्तिष्क का विकास हुआ है । साधारण मछलियों में ये पाँचो घट अधिक स्पष्ट होते हैं । मछलियों से फिर जलस्थलचारी जंतुओं की उत्पत्ति हुई जिनके वर्ग के मेढक आदि जंतु अब भी पाए जाते हैं । इनसे आगे चलकर जीवों के जो तीन वर्ग एक दूसरे के पीछे उत्पन्न हुए वे दूध पिलानेवाले जंतुओं के हैं । दूध पिलानेवाले जीवों के मस्तिष्क में दूसरे रीढ़वाले जंतुओं के मस्तिष्क से कई बातों की विशेषता होती है । सबसे मुख्य विशेषता तो यह है कि उसमें प्रथम और चतुर्थ घट की बहुत अधिक वृद्धि होती है और तृतीय या मझला घट बिलकुल नहीं होता । सबसे आदिम वर्ग के स्तन्य—अंडजस्तन्य, अजरायुज स्तन्य, जीवों का मस्तिष्क जलस्थलचारी जीवों के मस्तिष्क से मिलता जुलता होता है पर उनसे जो उन्नत कोटि के स्तन्य जीव उत्पन्न हुए उनके मस्तिष्क में प्रथमघट की बहुत अधिक

चारो ओर होते हैं जिनके द्वारा यह चट्टानों या बड़ी मछलियों के शरीर पर चिमटी रहती है ।

वृद्धि हुई। मनुष्य के मस्तिष्क में यह घट सबसे बड़ा और दूर तक लोथड़े की तरह फैला है[1]। इसी से संकल्प, विचार आदि उन्नत कोटि के व्यापार होते हैं। इस प्रकार का मस्तिष्क मनुष्य के अतिरिक्त केवल नराकार बनमानुसों ही का होता है।

अस्तु, यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि मनुष्य की आत्मा निम्न-कोटि के अन्य जीवों से क्रमशः उन्नति करते करते उत्पन्न हुई है।

---

१. इसमें अखरोट के गूदे की तरह उभार होते हैं।

दसवाँ प्रकरण

चेतना

आत्मा या मन के व्यापारों में से चेतना से बढ़कर विलक्षण और कोई व्यापार नहीं। इसके संबंध में जिस प्रकार भिन्न भिन्न मत दो हजार वर्ष पहले प्रचलित थे उसी प्रकार अब भी हैं। इसी को देखकर आत्मा के अमर और भूतों से परे होने की कल्पना लोगों को सूझी है। यही एक ऐसा रहस्य है जिसके बल पर आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी अनेक प्रकार के अंधविश्वास ग्रहण किए हुए हैं। अतः तात्त्विक दृष्टि से चेतना का विचार परम आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करेंगे तो देखेंगे कि और दूसरे मनोव्यापारों के समान चेतना भी एक प्राकृतिक गुण है तथा शरीर और अंतःकरण की अन्य वृत्तियों के समान एक प्राकृतिक व्यापार है, अर्थात् प्रकृति के नियमों के सर्वथा अधीन है।

चेतना के स्वरूप और लक्षण तक के विषय में दार्शनिकों का एक मत नहीं। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। पर सब से उपयुक्त परिभाषा उन दार्शनिकों की प्रतीत होती है जो चेतना को एक प्रकार की अंतर्दृष्टि कहते हैं और उसकी उपमा दर्पण की क्रिया से देते हैं। चेतना दो प्रकार की होती है—एक अंतर्मुख, दूसरी बहिर्मुख। अंतर्मुख चेतना को अहंकार भी कहते हैं। अहंकार वृत्ति के द्वारा अंतःकरण अपनी ही क्रिया का निरीक्षण, अपनी ही अवस्था का बोध करता है। बहिर्मुख चेतना के द्वारा अंतःकरण को बाह्य जगत् का बोध होता है। हमारी अधिकांश चेतना बाह्यजगत्संबंधी होती है।

अंतर्मुख चेतना का क्षेत्र संकुचित होता है। उसमें हमारे इंद्रियानुभव, संस्कार और संकल्प प्रतिबिंबित होते हैं।

बहुत से तत्वज्ञों की धारणा है कि 'चेतना' और 'मनोव्यापार' परस्पर पर्याय शब्द हैं, अर्थात् जितने मनोव्यापार होते हैं सब चेतन होते हैं। पर यह धारणा ठीक नहीं। जैसा मैं पहले दिखा चुका हूँ अधिकतर अंतःक्रियाएँ या मनोव्यापार ऐसे होते हैं जिनकी हमें कुछ भी खबर नहीं रहती। हमारी इंद्रियों के साथ विषय का संपर्क होता है, अंतःसंस्कार अंकित होकर पेशियों में गति उत्पन्न करते हैं पर हम कुछ भी नहीं जानते। चेतन अंतःसंस्कार जिनके द्वारा ज्ञानकृत व्यापार होते हैं और अचेतन अंतःसंस्कार जिनके द्वारा अज्ञानकृत व्यापार होते हैं, दोनों अंतःकरण या मन ही के व्यापार हैं।

चेतना का परिज्ञान हमें चेतना ही के द्वारा हो सकता है। उसकी वैज्ञानिक परीक्षा में यही बड़ी भारी अड़चन है। परीक्षक भी वही, परीक्ष्य भी वही। द्रष्टा अपना ही प्रतिबिंब अपनी अंतःप्रकृति में डालकर निरीक्षण में प्रवृत्त होता है। अतः हमें दूसरों की चेतना का परीक्षात्मक बोध पूरा पूरा कभी नहीं हो सकता। हमें उनकी चेतना का अपनी चेतना से मिलान करते हुए चलना पड़ता है। यदि यह मिलान सामान्य मस्तिष्क के मनुष्यों ही तक रक्खा जाय तब तो हम कुछ थोड़े बहुत सिद्धांत उनकी चेतना के संबंध में निश्चय के साथ स्थिर कर सकते हैं। पर यदि हम असामान्य मस्तिष्क के मनुष्यों, जैसे प्रतिभाशाली, सनकी, जड़ या विक्षिप्त लोगों को लेकर विचार करने जाते हैं तो हमारे सिद्धांत या तो अपूर्ण या सर्वथा भ्रांत निकलते हैं। यही बात मनुष्यों की चेतना को जंतुओं, विशेषतः क्षुद्र जंतुओं की चेतना के साथ मिलाने से होती है। ऐसा करने में इतनी भारी कठिनाइयाँ सामने आती हैं कि चेतना के संबंध में भिन्न भिन्न

शरीरविज्ञानियों और दार्शनिकों के मतों में आकाश पाताल का अंतर पड़ जाता है। मुख्य मुख्य मतों का नीचे उल्लेख किया जाता है—

(१) **चेतना केवल मनुष्य ही में होती है**—इस सिद्धांत का प्रवर्तक फरासीसी तत्ववेत्ता डेकार्ट है जिसके अनुसार विचार और चेतना मनुष्य ही के गुण हैं और अमर आत्मा केवल मनुष्य ही में होती है। इस तत्ववेत्ता ने मनुष्य के व्यापार और पशु के मनोव्यापार में भेद किया है। इसके मत में मनुष्य की आत्मा एक विचार करनेवाली अभौतिक सत्ता है जो भौतिक शरीर से सर्वथा पृथक् है। पर पृथक् होते हुए भी वह मस्तिष्क के एक विशिष्ट अंश के साथ लगी रहती है जिसमें वह वाह्य जगत् के विषयों को संस्कार के रूप में ग्रहण करे और कर्मेंद्रियों को प्रवृत्त करे। पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं होती, आत्मा नहीं होती। वे कौशल के साथ बैठाए हुए पुरजों की मशीन की तरह हैं। उनके इंद्रियसंवेदन, अंतःसंस्कार और प्रवृत्ति जड़ व्यापार मात्र हैं जो भौतिक नियमों के अनुसार होते हैं। अस्तु, डेकार्ट मनुष्य के संबंध में तो द्वैतवादी था, पर पशुओं के संबंध में अद्वैतवादी। मनुष्यों के संबंध में तो वह शरीर और आत्मा को दो पृथक् वस्तुएँ मानता था पर पशुओं के संबंध में दोनों को एक ही मानता था। डेकार्ट के इस दोरंगे सिद्धांत का फल यह हुआ कि सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के भूतवादी तो मनोव्यापारों को भौतिक क्रिया मात्र सिद्ध करने के लिये उसकी पशुसंबंधी विवेचना का सहारा लेने लगे और अध्यात्मवादी लोग उसके मनुष्यसंबंधी विवेचन को आगे करके आत्मा का अमरत्व और शरीर से उसका पृथक्त्व सिद्ध बतलाने लगे। पर मनुष्य की आत्मा के संबंध में डेकार्ट का यह विवेचन १९वीं शताब्दी के गंभीर और सूक्ष्म अनुसंधानों से सर्वथा भ्रांत सिद्ध हुआ।

(२) **चेतना संवेदनसूत्रवाले जीवों ही में होती है**—मनुष्य तथा और उन्नत जीवों ही में चेतना होती है जिन्हें केंद्रीभूत

संवेदनसूत्रविधान अर्थात् विज्ञानमय कोश होता है। यही सिद्धांत आजकल जंतुविज्ञान, शरीरविज्ञान और अद्वैत मनोविज्ञान में माना जाता है। प्राणिविज्ञान की भिन्न भिन्न शाखाओं में जो अपूर्व उन्नति हुई है उससे इसी सिद्धांत का समर्थन होता है। हजारों वर्ष से लोग देखते आते हैं कि बंदर, कुत्ते आदि जो उन्नत कोटि के पशु हैं उनकी बुद्धि बहुत सी बातों में मनुष्य की बुद्धि से मिलती जुलती होती है। उनके इंद्रियसंवेदन, अंतःसंस्कार, सुखदुःख आदि का अनुभव, इच्छा, द्वेष आदि मनोव्यापार बहुत कुछ मनुष्यों के से होते हैं। यहाँ तक कि इतना सब होने पर भी यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उन्नतिक्रम के अनुसार जीवों की वर्गपरंपरा में किस विशेष वर्ग से चेतना का प्रादुर्भाव होता है। मुझे तो इसी सिद्धांत के सत्य होने की संभावना अधिक प्रतीत होती है जिसके अनुसार चेतना संवेदनसूत्रों के केंद्रीभूत होने पर उत्पन्न होती है। छोटे जीवों में संवेदनसूत्र एक स्थान पर केंद्रीभूत नहीं होते, उनमें पूर्ण विज्ञानमय कोश नहीं होता। जिन जीवों में संवेदनसूत्रों का केंद्ररूप अवयव या अंतःकरण होता है, उन्नत ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं अर्थात् जिनमें विज्ञानमय कोश होता है उन्हीं में चेतना होती है।

(३) चेतना सब प्राणियों में होती है—छोटे बड़े जितने जीव हैं सब चेतन होते हैं। यह सिद्धांत उद्भिदों और जंतुओं के अंतरिक व्यापारों में भेद करता है। प्राचीनों का भी यही विश्वास था कि जंतुओं में इंद्रियानुभव और चेतना होती है, लेकिन पौधों में नहीं। पर १९ वीं शताब्दी के मध्यभाग में जब स्पंज आदि क्षुद्र जंतुओं की अंतरिक क्रियाओं की परीक्षा की गई तब इस विश्वास की असारता प्रकट हो गई। स्पंज आदिकों के स्थावर जंतु होने में तो कोई संदेह नहीं, पर उनमें चेतना का कोई आभास उसी प्रकार नहीं पाया जाता जिस प्रकार पौधों में। एकघटक अणुजीवों की जब सूक्ष्म परीक्षा की गई तब उनकी

और एकघटक अणूद्भिदों की अंतरिक क्रियाओं में कोई विशेष अंतर नहीं पाया गया।

(४) चेतना सब शरीरियों में होती है, क्या उद्भिद क्या जंतु—इस मत के अनुसार जीव जंतु, पेड़ पौधे सब चेतन हैं, पर मिट्टी के ढेले आदि निर्जीव पदार्थों में चेतना नहीं होती। इस सिद्धांत का यह भाव भी निकलता है कि सब देहवान् (उद्भिद् और जंतु) पदार्थों में आत्मा होती है। इस मत को माननेवाले प्राण, चेतना और आत्मा को परस्पर सहगामी समझते हैं। उनकी समझ में जहाँ एक रहेगा वहाँ दूसरा भी अवश्य रहेगा। फेक्नर नामक तत्ववेत्ता ने यह सिद्ध करने तक का प्रयत्न किया है कि पौधों में भी उसी प्रकार आत्मा होती है जिस प्रकार जंतु में, और पौधे की आत्मा में भी उसी प्रकार चेतना होती है जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा में। बात यह है कि जब क्षुद्र जंतुओं की अंतःक्रियाओं को चेतना कह सकते हैं तब पौधों की अंतः-क्रियाओं को चेतना कहना ही पड़ेगा। लजालू, मक्खी पकड़नेवाले पौधे आदि की गतिविधि अत्यंत क्षुद्र जंतुओं की गतिविधि के समान ही होती है।

(५) चेतना प्रत्येक घटक में होती है—जिस प्रकार हम सजीव घटक को अनेकघटक जंतुओं और पौधों के शरीर के मूल अणु मानते हैं, जिनके संयोग से उनके शरीर संघटित हैं, उसी प्रकार हम घटकात्मा अर्थात् घटक की अंतःक्रिया को भी शरीर की आत्मा अर्थात् उसके उन्नत मनोव्यापारों की समष्टि; की व्यष्टि मान सकते हैं। हम कह सकते हैं कि चेतना, धारणा आदि उन्नत कोटि के मनोव्यापार सूक्ष्म घटकों की क्षुद्र अंतःक्रियाओं के योगफल हैं। मैंने समुद्री अणुजीवों की परीक्षा करके दिखलाया था कि उनमें भी उन्नत जंतुओं से मिलती जुलती इंद्रियसंवेदना, प्रवृत्ति और गति आदि होती है। अतः यदि हम समस्त शरीरियों में चेतना माननेवालों की बात

मानें तो शरीर को संघटित करनेवाले अणुरूप घटकों में भी चेतना का कुछ अंश हमें मानना ही पड़ेगा। पहले मैं भी ऐसा ही मानता था, पर अब विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अणुजीवों में आत्मबोध नहीं होता, उनके इंद्रियसंवेदन और अंगसंचालन आदि अचेतन अर्थात् अज्ञानकृत होते हैं।

(६) चेतना द्रव्य के परमाणुमात्र में होती है—इस सिद्धांत ने चेतना को सबसे आगे बढ़ाया है, इसकी दौड़ सबसे लंबी है। इसे माननेवाले यह समस्या हल करने से बच जाते हैं कि चेतना की उत्पत्ति कब और कहाँ से होती है। अंतःकरण की यह वृत्ति ऐसी विलक्षण है कि इसे किसी और वृत्ति से उत्पन्न बतलाना अत्यंत कठिन है। अतः इस कठिनता से बचने का सीधा रास्ता यही दिखाई पड़ा कि चेतना द्रव्य मात्र का एक वैसा ही अंतर्व्याप्त गुण मान ली जाय जैसे कि आकर्षण, रासायनिक प्रवृत्ति आदि हैं। ऐसा मानने पर हमें मूल चेतना उतने प्रकार की माननी पड़ती है जितने रासायनिक मूल द्रव्य[1], आक्सिजन, कारबन आदि होते हैं।

यह सब गड़बड़ चेतना का लक्षण निर्दिष्ट न करने के कारण होता है। मेरे मत में तो चेतना मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों के मनोव्यापारों या अंतःक्रियाओं का एक अंश मात्र है, अधिकतर

---

१. मूलद्रव्य वे हैं जिनमें विश्लेषण करनेपर और किसी द्रव्य का योग नहीं पाया जाता। अब तक ऐसे ७७ या ७८ तत्वों का पता लगा है। इनके सब से सूक्ष्म टुकड़ों को परमाणु कहते हैं क्योंकि पहले लोग समझते थे कि उनका और विभाग नहीं हो सकता। पर कुछ नये मूल द्रव्य मिले जिनके परमाणु और भी सूक्ष्म अणुओं के योग से बने पाए गए जिन्हें विद्युदणु (इलेक्ट्रान) कहते हैं। पहले लोग जल, वायु आदि को मूल भूत समझते थे, पर वे कई मूल भूतों के योग से संघटित द्रव्य हैं। उनके संयोजक मूल द्रव्य यानि वे विश्लेषण द्वारा अलग अलग किए जा सकते हैं।

अंतःक्रियाएँ जिन्हें मनोव्यापार भी कहते हैं, अचेतन होती हैं अर्थात् वे होती हैं पर हमें उनकी खबर नहीं होती।

चेतना की उत्पत्ति और लक्षण के संबंध में चाहे जितने मतभेद हों पर उसके विषय में दो सिद्धांत मुख्य हैं – एक अतीतवाद दूसरा शरीरधर्मवाद। अतीतवाद चेतना को शरीर या भूतों से अतीत वस्तु (आत्मा) का धर्म मानता है और शरीरधर्मवाद शरीर ही का धर्म मानता है। मैं इसी दूसरे सिद्धांत को सत्य मानता हूँ। मैं चेतना को शरीर ही का एक धर्म मानता हूँ जो भौतिक और रासायनिक नियमों के अधीन है, उनसे परे नहीं। मैं उसे संवेदनसूत्रों ही की एक विशेषता मानता हूँ जो उनके केंद्रीभूत होनेपर उत्पन्न होती है। संवेदनसूत्रों का केंद्ररूप अवयव (अंतःकरण) और उन्नतिक्रम द्वारा पूर्णताप्राप्त ज्ञानेंद्रियविधान विशेष करके जरायुज जंतुओं ही में होता है। बनमानुस, कुत्ते, हाथी आदि की चेतना में और मनुष्य की चेतना में केवल न्यूनाधिक का भेद है, कोई वस्तुभेद नहीं। इन पशुओं की चेतना और मनुष्य की चेतना में उससे अधिक अंतर नहीं होता जितना अत्यंत असभ्य जंगली मनुष्यों की चेतना और सभ्य जाति के दार्शनिकों और तत्वचिंतकों की चेतना में। अस्तु, चेतना मन की समुन्नत क्रिया ही का एक अंग है और मस्तिष्क की बनावट पर निर्भर है।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र आदि की सहायता से मस्तिष्क का जो वैज्ञानिक अन्वीक्षण किया गया उससे पता लगा कि चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क के भूरे मज्जापटल का एक विशेष भाग है। इस क्षेत्र में बड़ा भारी काम फ्लेशजिक नामक एक जरमन वैज्ञानिक ने किया जिसने मस्तिष्क के भीतर चिंतन करने के अवयवों का पता लगाया। उसने सिद्ध किया कि मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र में इंद्रियानुभव के केंद्ररूप चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक हैं जो इंद्रियसंवेदनों को

ग्रहण करते हैं। स्पर्श ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में, घ्राण का सामने के लोथड़े में, दृष्टि का पिछले लोथड़े में और श्रवण का कनपटी के लोथड़े में रहता है। इन चारों भीतरी इंद्रियगोलकों के बीच में चार विचारगोलक हैं जिनके द्वारा भावों की योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं। ये ही गोलक चेतना और विचार के कारण अर्थात् प्रधान अंतःकरण हैं। फ्लेशजिग ने दिखलाया है कि मनुष्य के मस्तिष्क के इन गोलकों के कुछ अंशों में विशेष प्रकार की रचनाएँ होती हैं जो और दूसरे दूध पिलानेवाले जीवों में नहीं होतीं। इन्हीं विशेषताओं के कारण मनुष्य मानसिक शक्तियों में सब प्राणियों से बढ़ाचढ़ा है।

आधुनिक शरीरविज्ञान की इन बातों का समर्थन चिकित्साशास्त्र के अनुसंधानों द्वारा भी होता है। जब रोग के कारण मस्तिष्क का कोई भाग नष्ट हो जाता है तब उस भाग के द्वारा होनेवाला मानसिक व्यापार भी शिथिल या नष्ट हो जाता है। इस बात से हम मन या अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों के स्थान बहुत कुछ निर्दिष्ट कर सकते हैं। अंतःकरण की किसी विशेष वृत्ति का स्थान यदि रुग्ण हो जाता है तो साथ ही वह वृत्ति भी नष्ट हो जाती, जैसे मस्तिष्क के भीतर वाणी का जो केंद्र है यदि वह नष्ट हो जाय तो आदमी गूँगा हो जायगा। इस बात का प्रमाण तो हम नित्य ही पाते हैं कि मस्तिष्क के द्रव्य में किसी प्रकार का रासायनिक परिवर्तन उपस्थित होनेपर चेतनापर पूरा पूरा प्रभाव पड़ता है। कुछ पीने की चीजें, जैसे चाय और कहवा ऐसी हैं जिनसे हमारी विचारशक्ति कुछ उत्तेजित होती है, कुछ ऐसी हैं, जैसे मद्य, भांग आदि जिनसे हमारे मनोवेग उत्तेजित होते हैं। कपूर और कस्तूरी से मूर्च्छा या बेहोशी दूर होती है, ईथर और क्लोरोफार्म बेहोशी लाता है। यदि चेतना मस्तिष्क के अवयवों से सर्वथा स्वतंत्र कोई अभौतिक सत्ता होती तो ऐसा कैसे होता ?

जब मस्तिष्क के अवयव काम के नहीं रहते तब 'अमर आत्मा' की चेतना क्या होती है ?

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि मनुष्य तथा और स्तन्य जीवों की चेतना परिणामी है। उसमें भीतरी कारणों, जैसे रक्त का चढ़ावउतार और बाहरी कारणों, जैसे आघात, उत्तेजन से फेरफार हो सकता है। बहुत सी बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनमें अंतःसंस्कारों अर्थात् अंतःकरण में उपस्थित प्रतिबिंबों, के उलटफेर से मनुष्य की चेतना दो चार दिन एक प्रकार की रहती है, दो चार दिन दूसरे प्रकार की—दो चार दिन वह अपने को कुछ और समझता है, दो चार दिन कुछ और।

प्रायः सब लोग देखते हैं कि तुरंत के उत्पन्न बच्चे में चेतना नहीं होती[1]। प्रेयर नामक शरीरविज्ञानी ने दिखलाया है कि चेतना बच्चे में उस समय स्फुरित होती है जब वह बोलना आरंभ करता है। बहुत दिनोंतक वह अपने लिये किसी सर्वनाम आदि शब्द का प्रयोग नहीं करता। जिस घड़ी वह 'मैं' शब्द का उच्चारण करता है और उसमें अहंकार वृत्ति स्पष्ट होती है उसी घड़ी से उसमें आत्मचेतना का आरंभ समझना चाहिए। दस वर्ष की अवस्था तक उसके ज्ञान की वृद्धि बहुत जल्दी जल्दी होती है; उसके पीछे वृद्धि की गति कुछ मंद होती है। ज्ञानवृद्धि की यह गति चेतना और उसके करण मस्तिष्क की वृद्धि के अनुसार होती है। पूर्ण वयस्क होते ही मनुष्य की चेतना पूर्णता को नहीं पहुँच जाती; वह संसार के अनेक रूप के व्यवहारों द्वारा, समाज के संसर्ग द्वारा, परिपक्व होती है। बीस वर्ष की अवस्था के उपरांत तीस वर्ष की अवस्था के भीतर ही भीतर उसके विचार परिपक्व हो जाते हैं

---

१. छांदोग्योपनिषद् में बच्चों में मन का अभाव माना गया है। 'यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्त्वचक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेणे-वमिति'।—प्रपाठक ५, खंड १।

और साठ वर्ष की अवस्था तक पूरा काम देते हैं। साठ वर्ष की अवस्था के उपरांत जरावस्था के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं, धीरे धीरे मानसिक शक्तियों का ह्रास होने लगता है, स्मरणशक्ति, ग्रहणशक्ति, विशेष विशेष वस्तुओं की ओर प्रवृत्ति क्षीण होने लगती है। हाँ, उद्भावना की शक्ति, चेतना की परिपक्वता और दार्शनिक सिद्धांत तत्वों की ओर अभिरुचि कुछ दिनों तक और बनी रहती है।

मनुष्य ने चेतना की जो उच्च अवस्था प्राप्त की है वह भी क्रम क्रम करके। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यों त्यों उसकी चेतना भी उन्नत होती गई। यह बात जंगली जातियों की ओर ध्यान देने से, उनकी भाषाओं का मिलान करने से, स्पष्ट हो जाती है। भावग्रहण की शक्ति ज्यों ज्यों मनुष्यों में बढ़ती जाती है त्यों त्यों वे सामने आनेवाले अनेकानेक विशेष पदार्थों के बीच सामान्य लक्षणों को ढूँढ़ निकालने और उन्हें सामान्य प्रत्ययों अर्थात् भावनाओं के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होते जाते हैं। इस प्रकार उनकी चेतना गूढ़ होती जाती है[1]।

---

१. जैसे गाय, भैंस, बकरी, हिरन इत्यादि बहुत से विशेष जानवरों को देख मनुष्य सींग को सामान्य लक्षण पाकर 'सींगवाले जंतु' की एक सामान्य भावना धारण करता है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

आत्मा का अमरत्व

अब हम आत्मा के अमरत्वसंबंधी सिद्धांत की परीक्षा में प्रवृत्त होते हैं जिसकी नींवपर अनेक प्रकार के अंधविश्वासों का गढ़ खड़ा किया गया है। यह एक ऐसा विषय है जिसपर दार्शनिक विचार करते समय प्रायः लोग अपने व्यक्तित्व के राग में फँस जाते हैं। वे चाहते हैं कि किसी न किसी प्रकार उन्हें यह विश्वास दिलाया जाय कि उनकी सत्ता जीवन के उपरांत भी बनी रहेगी। यह वासना ऐसी प्रबल है कि इसके सामने कोई तर्क या युक्ति नहीं चल सकती। अतः आत्मा के संबंध में इस प्रबल वितंडावाद की सूक्ष्म परीक्षा करके आधुनिक शरीर-विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा इसकी असारता दिखा देना हमारा काम है।

मृत्यु के उपरांत भी मनुष्य का व्यक्तित्व या उसकी पृथक् आत्मा का अस्तित्व बना रहता है; इस मत को अमर्त्यवाद कह सकते हैं। इसी प्रकार उस सिद्धांत को हम मर्त्यवाद कहेंगे जिसमें यह माना जाता है कि मनुष्य के मरनेपर उसके और शारीरिक व्यापारों के साथ ही साथ अंतःकरण के सारे व्यापार भी नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् आत्मा भी नहीं रह जाती।

किसी विशेष प्राणी के समस्त सजीव व्यापारों के सब दिन के लिए बंद हो जाने को मृत्यु कहते हैं। जिस समय मनुष्य का व्यक्तित्व नहीं रह जाता वह मृत कहलाता है, चाहे उसका वंश चलता रहे। वंशपरंपरा के नियमानुसार किसी किसी के गुण और लक्षण उसकी

अगली पीढ़ी में बहुत दिनों तक दिखाई पड़ते हैं। पर ऐसा होना दूसरी बात है। कई अच्छे शरीरविज्ञानी यह कहने लगे हैं कि सबसे क्षुद्र जीव ही अमर होते हैं और जीव नहीं। उनका यह कथन इस आधार पर है कि एकघटक अणुजीव अपनी वंशवृद्धि अमैथुनीय रीति पर विभाग या विच्छेद द्वारा करते हैं। अणुजीव का सारा शरीर दो या कई बराबर भागों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक भाग बढ़कर एक स्वतंत्र जीव हो जाता है। पर यह समझ रखना चाहिए कि जिस घड़ी अणु-जीव के दो भाग होकर अलग अलग हो जाते हैं उसी क्षण उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

'अमर' या 'नित्य' शब्द का प्रयोग समस्त विश्व के लिए ही किया जा सकता है। जो कुछ है, समष्टि रूप में उसकी सत्ता सदा रहेगी, यह परमतत्व का धर्म है। विश्व की अनश्वरता का सिद्धांत मैं आगे चल-कर कहूँगा जब कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का विवेचन करूँगा। यहाँ पर तो मैं इस प्रचलित भ्रांत मत की ही परीक्षा करूँगा कि एक एक व्यक्ति की आत्मा अमर है। पहले मैं इस अंधविश्वास के मूल आदि का निरूपण करूँगा, फिर यह दिखलाऊँगा कि युक्ति और प्रमाण से मर्त्यवाद ही सिद्ध होता है। मर्त्यवाद दो रूपों में मिलता है — आदिम और उत्तर। आदिम रूप में यह असभ्य जंगली जातियों में पाया जाता है जिनमें आत्मा के अमरत्व की भावना का उदय ही नहीं हुआ रहता, उसका आरंभ ही से अभाव रहता है। उत्तर रूप में यह सभ्य और ज्ञानवृद्ध लोगों के बीच पाया जाता है जिन में आत्मा के अमरत्व की भावना का प्रध्वंसाभाव रहता है, अर्थात् प्रकृति के निरीक्षण और सूक्ष्म विवेचन द्वारा उसका निराकरण हुआ रहता है। जिस प्रकार आदिम रूप में मर्त्यवाद आदिम और असभ्य दशा के मनुष्यों के बीच पाया जाता है उसी प्रकार उत्तर रूप में वह ज्ञान के उन्नत होनेपर सभ्य मनुष्यों के बीच पाया जाता है। अमर्त्यवाद के प्रचलित हो जाने

पर प्राचीन काल के बहुत से स्वतंत्र विचारवाले दार्शनिकों ने उसका घोर प्रतिवाद किया। पर संसार के भिन्न भिन्न धार्मिक मतों के साथ इस अमरत्व के भाव का गहरा लगाव रहने के कारण वे अधर्मी, नास्तिक आदि नामों से पुकारे गए। उनके मत की भरपूर निंदा की गई। यह दशा प्रायः सब सभ्य देशों में हुई[1]। योरप में डाक्टरों के बीच सैकड़ों वर्ष पहले से यह विचार उठ रहा था कि मनुष्य की मृत्यु के साथ ही आत्मा का भी अंत हो जाता है, पर उसे वे स्पष्ट शब्दों में प्रकट नहीं करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में जब शरीर-विज्ञान की विशेष उन्नति हुई तब आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत बिलकुल निर्मूल पाया गया। पीछे विकास द्वारा मनुष्य जाति की उत्पत्ति के स्थिर हो जाने, गर्भस्फुरण का क्रम निर्धारित हो जाने तथा सूक्ष्मदर्शक यंत्र के प्रयोग द्वारा मस्तिष्क के पुरजों की छानबीन हो जाने पर उक्त सिद्धांत के लिये कहीं कोई आधार नहीं रह गया। अब कहीं सौ में कोई एक शरीरविज्ञानी आत्मा के अमरत्व का राग अलापता सुनाई देता है। १६ वीं शताब्दी के प्रायः सब अद्वैतवादी दार्शनिक मर्त्यवादी थे।

कुछ लोगों का ख्याल है कि आत्मा के अमरत्व का भाव सारे प्रचलित धर्मों का एक मुख्य अंग है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। पूर्वीय देशों के समुन्नत धर्मों में इस भाव का कहीं समावेश नहीं। न तो बौद्ध धर्म में, जिसको एक तिहाई दुनिया मानती है, यह भाव है, न चीन के कनफूची धर्म में।

यह रहस्यमय विचार कि मरने के पीछे भी मनुष्य की आत्मा सदा

१. भारतवर्ष में आत्मा की पृथक् सत्ता और उसकी अमरता को न माननेवाले दार्शनिकों में चार्वाक प्रधान हुआ है जिसके अनुयायी लोकायतिक और नास्तिक कहलाते हैं।

बनी रहेगी, पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थानों में मनुष्यों के बीच आप से आप उत्पन्न हुआ। अत्यंत प्राचीन युग के असभ्य मनुष्यों में यह विचार नहीं था। पीछे बुद्धि के कुछ बढ़नेपर जब जीवन और मरण, निद्रा और स्वप्न आदि को देख, उनके संबंध में विचार उठने लगे, तब मनुष्य की दोहरी सत्ता की धारणा भिन्न भिन्न स्थानोंपर आप से आप उत्पन्न हुई। पितरों की पूजा, कुटुंबियों का प्रेम, जीवन से आसक्ति, मरने के पीछे अधिक सुखपूर्ण जीवन की आशा, अच्छे कर्मों से अच्छे फल और पाप से दंड की प्राप्ति, इन्हीं सब बातों के प्रभाव से यह धारणा और भी प्रबल होती गई। इसी धारणा के अनुकूल बहुत सी विलक्षण विलक्षण बातें बहुत से धर्मों में प्रचलित पाई जाती हैं। अधिकांश धार्मिक अपने ईश्वर ही से मिलती जुलती वस्तु अपनी अमर आत्मा को भी मानते हैं। ईसाइयों ही को लीजिए, जो समझते हैं कि जैसे ईसा कब्र से उठ बैठे थे, वैसे ही वे भी कयामत के दिन अपनी अपनी कब्रों से उठेंगे और अपने किए कर्मों का फल पावेंगे। यह विचार भी वैसा ही है जैसा कि असभ्य जंगलियों का होता है।

यह तो हुआ धार्मिकों का विचार जिसमें भौतिक और अभौतिक का भेद उतना नहीं है; जिसके अनुसार स्वर्ग में भी जाकर मनुष्य वही सुख भोगेगा जो भूतात्मक शरीर से भोगता है। शरीर और आत्मा को पृथक् माननेवाले दार्शनिक अपना सिद्धांत कुछ अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट करते हैं। वे शरीर को नश्वर और भौतिक मानते हैं और आत्मा को अमर, अभौतिक और चिन्मय। थोड़े काल के लिए दोनों का संयोग हो जाता है। योरप के देशों में इस सिद्धांत का प्रचार पहले पहल प्लेटो (अफलातून) नामक यूनान देश के दार्शनिक ने किया। उसने शरीर के साथ संयोग होने के पहले और वियोग होने के उपरांत प्रत्येक आत्मा को शुद्ध रूप में मानकर 'आवागमन' के सिद्धांत का समर्थन किया। उसने बतलाया कि

एक शरीर छोड़कर आत्मा अपने अनुकूल दूसरे शरीर में जाती है। पुण्यात्माओं की आत्मा अच्छी योनि में जाती है और पापियों की बुरी योनि में। शरीरविज्ञान, अंगविच्छेदशास्त्र, गर्भविज्ञान आदि की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो यह बात बच्चों की सी जान पड़ती है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को एक पृथक् तत्व मानते हुए भी उसका ठीक ठीक लक्षण नहीं बतला सकते। कभी तो वे उसकी सत्ता भावरूप में मानते हैं और कभी वस्तुरूप में। वैज्ञानिक अद्वैत दृष्टि से यदि हम परमतत्व का निरूपण करते हैं तो उसमें द्रव्य और शक्ति (गति) को ओतप्रोत भाव में लेते हैं क्योंकि दोनों का नित्य संबंध है। अतः आत्मतत्व के अंतर्गत भी ये हैं—आत्मशक्ति अर्थात् इंद्रिय-संवेदन, अंतःसंस्कार, प्रवृत्ति आदि गत्यात्मक व्यापार, और आत्मद्रव्य अर्थात् सजीव कललरस जो कि शक्ति या मनोव्यापारों का आधार है। मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों में यह आत्मद्रव्य संवेदनसूत्रों का अंग है और सवेदनसूत्रविहीन क्षुद्र जीवों में उनके कललरसमय शरीर का। आत्मा के व्यापार के लिए बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेंद्रियाँ और अंतःकरण आवश्यक हैं। बिना इन भूतात्मक अवयवों के किसी प्रकार का आत्मव्यापार नहीं हो सकता। पर आत्मा की एक निर्दिष्ट सत्ता है, वह शरीर की अंतःक्रियाओं की निर्दिष्ट समष्टि है।

आत्मा और शरीर को परस्पर निरपेक्ष माननेवाले द्वैत दृष्टि के दार्शनिकों का भाव आत्मतत्व के संबंध में ऐसा नहीं है। वे अमर आत्मा को द्रव्य मानते हुए भी उसे अगोचर और गोचर शरीर से भिन्न मानते हैं। अतः अगोचरता आत्मा की एक विशेषता मान ली गई है। कुछ लोग तो आत्मा को ईथर वा आकाशद्रव्यवत् एक अत्यंत सूक्ष्म, अगोचर पदार्थ मानते हैं। यही धारणा प्राचीनों की भी थी। वे समझते थे कि मरनेपर शरीर तो जड़ द्रव्य के रूप में रह जाता है और आत्मा निकलकर उड़ जाती है।

ईथर से आत्मा की तुलना इधर थोड़े ही दिनों से होने लगी है जब से विद्युत् और प्रकाश की गति आदि के संबंध में परीक्षा द्वारा बहुत सी बातें प्रकट हुई हैं। पर ईथर का विचार मैं आगे चलकर करूँगा जिससे प्रकट हो जायगा कि आत्मा को ईथरवत् बतलानेवाला चिदाकाशवाद भी ठीक नहीं है। जिस प्रकार ईथर वा आकाशद्रव्य समस्त विश्व में स्थूल पिंडों और परमाणुओं के बीच व्याप्त है उसी प्रकार कललरस या मस्तिष्क के अणुओं के बीच आकाशरूप आत्मा को व्याप्त माननेपर भी मनोव्यापारों के हेतु का निरूपण नहीं होता।

आत्मा को वायुरूप समझनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यह समझ बहुत पुरानी है। प्राण शब्द वायुवाचक है जिसके कारण जीव प्राणी कहलाते हैं। श्वासरूपिणी जीवन शक्ति का नाम प्राण रक्खा गया था। पर साधारण जनों के बीच वह जीवात्मा ही के रूप में माना जाता है। वे किसी के मरनेपर कहते हैं कि उसका प्राण निकल गया। मृत पुरुषों की आत्माओं या प्रेतों को वे वायुरूप ही मानते हैं। वायुरूप मानते हुए भी वे उनमें शरीरावयवयुक्त जीवों के से व्यापार मानते हैं। किसी किसी आध्यात्मिक मंडली ने तो उनके फोटो तक तैयार किए हैं।

परीक्षात्मक भौतिक विज्ञान ने समस्त गैसों या वायव्य पदार्थों को द्रवरूप में और बहुतों को स्थूलरूप तक में परिणत करके दिखा दिया है। इस प्रकार वायु जो अपनी सूक्ष्मता के कारण अग्राह्य वा अदृश्य मानी जाती थी वह दृश्य और ग्राह्य करके दिखा दी गई। अब यदि आत्मा वायुरूप पदार्थ होती तो उसे भी द्रव रूप में ला सकते। किसी मनुष्य के मरने के समय उसमें से निकलनेवाली वायुरूपी आत्मा को पकड़कर हम उसे द्रवरूप में एक शीशी के भीतर बंद करके दिखाते कि यह लो 'अमृतरस' तैयार है। यहीं तक नहीं, उस रसपर और भी अधिक ठंडक और दबाव डालकर हम एक बरफ की

टिकिया बनाते और उसे 'आत्मा की बरफ' कहते। पर आजतक किसी ने भी ऐसा करके दिखाया नहीं।

आत्मा की अमरता के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमें सत्य के अनुसंधान का कोई प्रयत्न नहीं पाया जाता, केवल एक प्रकार का राग या मनःप्रवृत्ति पाई जाती है। जैसा कि कांट ने कहा है आत्मा का अमरत्व शुद्धबुद्धि का निरूपण नहीं है, व्यवसायात्मिका बुद्धि की धारणा है। पर सत्य के अन्वेषण में हमें शुद्धबुद्धि को छोड़ और किसी बुद्धि से काम न लेना चाहिए। सत्य का निरूपण जब होगा तब शुद्ध बुद्धि के द्वारा, किसी प्रकार की अभिरुचि वा वासना के द्वारा नहीं। सत्य कैसा ही अप्रिय हो उसे ग्रहण करना ही पड़ेगा।

आत्मा के अमरत्व के जितने प्रमाण दिए जाते हैं उनमें से एक भी वैज्ञानिक कोटि का नहीं, एक भी ऐसा नहीं जो शरीरविज्ञानानुसारी मनोविज्ञान और जंतुओं की उत्पत्तिपरंपरा संबंधी सिद्धांत के आधार पर हो। मतवादियों और धर्मवादियों की यह बात कि ईश्वर आत्माओं को कुछ कालतक के लिए पहले से तैयार शरीरों में भेजा करता है, अथवा सृष्टि के आदि में उसने मनुष्यरूपी पुतले के शरीर में अपनी रूह फूँक दी थी, कपोलकल्पना मात्र है। कुछ लोगों का यह कथन कि यदि आत्मा नित्य न होती तो संसार में धर्म की व्यवस्था न रहती सर्वथा निर्मूल है। यह विचार कि मनुष्य की आत्मा अपनी 'परम-गति' को इस पार्थिव जीवन में नहीं प्राप्त कर सकती, उसकी पूर्णता के लिये उत्क्रमण आवश्यक है, मनुष्य के महत्व की झूठी भावनापर अवलंबित है। यह समझना कि सांसारिक जीवन में जो अनेक प्रकार के अन्याय होते हैं, अनेक प्रकार की इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं, उन सबका प्रतिकार या पूर्ति परलोक या परजन्म में होगी, दुराशा मात्र है। यह बात भी प्रमाणविरुद्ध है कि मनुष्य मात्र में आत्मा के अमरत्व या ईश्वर के अस्तित्व की भावना स्वाभाविक है। बहुत सी

ऐसी जातियाँ हैं जिनमें इस प्रकार की कोई भावना नहीं। आत्मा के अमरत्व की सिद्धि के लिए उपस्थित की जानेवाली ये सब युक्तियाँ वैज्ञानिक अनुसंधानों से निःसार प्रमाणित हो चुकी हैं।

इन निःसार युक्तियों के विरुद्ध जो वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं वे ये हैं। शरीरविज्ञान से इस बात का पूरा प्रमाण मिलता है कि आत्मा शरीर से स्वतंत्र कोई अभौतिक सत्ता नहीं है। मस्तिष्क के व्यापारों की समष्टि का नाम ही आत्मा है और ये व्यापार भी शरीर के और व्यापारों के समान भौतिक और रासायनिक नियमों के अधीन हैं। मस्तिष्क के सूक्ष्म अन्वीक्षण द्वारा आत्मव्यापार के साधक अवयवों का पता लगता है। परीक्षा द्वारा यह देखा गया है कि आत्मा के भिन्न भिन्न व्यापार मस्तिष्क के भिन्न भिन्न भागोंपर अवलंबित है। यदि वे भाग नष्ट हो जाते हैं तो उनके द्वारा होनेवाले व्यापार भी बंद हो जाते हैं। इस बात का प्रमाण प्रकृति हमें बराबर देती रहती है। भ्रूणवृद्धि और शिशुवृद्धि आदि के क्रम को देखने से हमें पता चलता है कि किस प्रकार मनुष्य की आत्मा भी क्रमशः बढ़ती जाती है और प्रौढ़ावस्था में परिपक्व हो जाती है। इतना ही नहीं, जरावस्था में वह शिथिल और क्षीण भी होती है। जीवों की वर्गोत्पत्ति परंपरा की ओर ध्यान देने से पता लगता है कि मनुष्य का मस्तिष्क और उसका व्यापार आत्मा, और दूसरे स्तन्य जीवों के मस्तिष्क से उन्नत होते होते बना है। इसी प्रकार स्तन्य जीवों का मस्तिष्क दूसरे क्षुद्र कोटि के रीढ़वाले जंतुओं के मस्तिष्क से उन्नत होते होते बना है। आत्मा की यह घटती बढ़ती उत्पत्तिधर्म और अनित्यता का प्रमाण है, अमरत्व का नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों से आत्मा के अमरत्व का सर्वथा खंडन हो गया है। कुछ दिनों पीछे इसकी चर्चा वैज्ञानिक क्षेत्र से बिलकुल

उठ जायगी, केवल आँख मूँदकर विश्वास करनेवालों में रह जायगी। आत्मा के अमरत्व का विश्वास एक अंधविश्वास मात्र रह जायगा। पर अभी सभ्य से सभ्य देश के करोड़ों मनुष्य इस अंधविश्वास को अपनी 'परम निधि' समझते हैं। इसे वे कदापि छोड़ना नहीं चाहते। पर मैं इस बात को दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि आत्मा के अमरत्व की भावना मोह के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसे त्यागने से मनुष्य जाति की हानि कुछ नहीं, और लाभ बहुत है।

आत्मा को अमर मानने की प्रबल वासना का कारण क्या है? क्यों लोगों की यह इच्छा रहती है कि आत्मा अमर सिद्ध हो? इसके मुख्य कारण दो हैं—एक तो यह आशा कि परलोक में अधिक सुख मिलेगा, दूसरी यह आशा कि मृत्यु के कारण जिन प्रिय जनों का वियोग हुआ है वे फिर देखने को मिलेंगे। इस संसार में बहुत सी भलाइयाँ हम दूसरों के साथ करते हैं जिनके बदले की कोई आशा यहाँ नहीं होती। अतः हम एक ऐसे अनत जीवन की वांछा करते हैं जिसमें सब बदले पूरे हो जायँ और सदा सुख और शांति बनी रहे। भिन्न भिन्न जातियों में स्वर्ग की भावना उसकी सुख की भावना के अनुसार है। मुसलमानों के बिहिश्त में सुंदर छायादार बगीचे हैं, मीठे पानी के चश्मे जारी हैं, हूर और गिलमा सेवा के लिए हैं। ईसाइयों का स्वर्ग भी सुखसंगीतपूर्ण है, अमेरिका के आदिम निवासियों के स्वर्ग में शिकार खेलने के लिए बड़े बड़े मैदान हैं जिनमें असंख्य भैंसे और भालू फिरा करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि लोग स्वर्ग में उन्हीं सब सुखों को भोगने की कामना करते हैं जिन्हें वे यहाँ अपनी इंद्रियों के द्वारा भोगते हैं। वे कानों से स्वर्गीय संगीत सुनेंगे, आँखों से अप्सराओं का नृत्य देखेंगे और रसना से अमृत का स्वाद लेंगे। इन सब सुखों को वे अनंत काल तक भोगेंगे। आत्मा को अभौतिक

आदि मानते हुए भी वे उसे परलोक में भौतिक सुखों का भोक्ता माने बिना नहीं रह सकते।

अमर्त्यवाद मानने की इच्छा सबसे बढ़कर इसलिये होती है कि उससे उन प्रियजनों से फिर मिलने की आशा बँधती है जिनसे इस जीवन में वियोग हो जाता है। पर यदि ऐसा होना मान भी लें तो भी हमारी स्थिति कुछ विशेष सुखदायक नहीं हो सकती क्योंकि जिस प्रकार प्रियजन मिल सकते हैं उसी प्रकार वे शत्रु भी तो मिल सकते हैं जिन्होंने यहाँ नाक में दम कर रक्खा था। ऐसे करोड़ों आदमी मिलेंगे जो स्वर्ग का सारा सुख छोड़ने के लिए तैयार हो जायेंगे यदि वे समझें कि ऐसा करने से स्त्री या नानी से भेंट हो जायगी।

अमरवादियों से एक बात और पूछने की है। वह यह कि स्वर्ग का सुख भोगनेवाली आत्मा किस अवस्था की होगी, शैशवावस्था की, तरुणावस्था की या जरावस्था की[1]। यदि किसी बालक की आत्मा शरीर से मुक्त होकर स्वर्ग को गई तो क्या उसे उसी प्रकार धीरे धीरे परिपक्व होना पड़ेगा जिस प्रकार यहाँ अपने अनुभव की उत्तरोत्तर वृद्धि और गुरुजनों की शिक्षा द्वारा वह परिपक्व होती है? क्या बुड्ढे की आत्मा वहाँ जाकर निरंतर क्षीयमाण ही रहेगी?

ईसाइयों, मूसाइयों आदि का कयामत का ख्याल तो सबसे गया-बीता है। वे समझते हैं कि मनुष्यों की आत्माएँ शरीर से निकल निकल कर बराबर जमा होती जायँगी और सृष्टि के अंतिम दिन में दो दलों में बाँटी जायँगी। एक दल तो स्वर्ग में अनंतकाल का सुख भोगने के

---

१. जो लोग आत्मा को अजर आदि मानते हैं वे यह प्रश्न सुनकर चौकेंगे। पर हैकल ने पहले ही कह दिया है कि आत्मा भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है, अर्थात् वह भी जवान और बुड्ढी होती है। हिंदुओं की स्वर्गसंबंधिनी भावना कुछ समाधानकारक है। वे स्वर्गवासी अमरों को अजर मानते हैं।

लिये जायगा, दूसरा नरक में चिरकाल तक के लिये यंत्रणा भोगने के लिये जायगा। यह सब करेगा कौन ? दयामय आसमानी बाप। वही क्षणिक जीवन के बीच किए हुए पुण्य के लिये अनंत सुख और पाप के लिये अनंत दुःख देगा ?

आध्यात्मिक दर्शन धर्माचार्यों की इन स्थूल पौराणिक कल्पनाओं को न मानकर आत्मा की सत्ता सब भूतों से परे मानता है। पर आजकल के परीक्षात्मक तत्ववाद में इस प्रकार की ऊटपटांग भावना के लिये कोई जगह नहीं। सारांश यह कि आत्मा के अमरत्व का प्रवाद आधुनिक विज्ञान के परीक्षात्मक निश्चयों के सर्वथा विरुद्ध है।

———

बारहवाँ प्रकरण

मूलप्रकृति की व्यवस्था

प्रकृति का सर्वव्यापक गुण, समस्त विश्व का एक अखंड धर्म परमतत्व का धर्म है। इस गुण का पता लगना ज्ञानक्षेत्र में सबसे बड़ी विजय है क्योंकि प्रकृति के और नियम इसके वशवर्ती हैं। इस मूलप्रकृति या परमतत्व के धर्म के अंतर्गत दो अखंड नियम हैं एक तो द्रव्य की अक्षरता का और दूसरा शक्ति की अक्षरता का। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये दोनों नियम परस्पर अभिन्न हैं; ये एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस अभिन्नता को नहीं मानना चाहते। पर शुद्ध तत्वदृष्टि रखनेवाले दार्शनिकों के निकट यह प्रत्यक्ष है। अब संक्षेप में इन दोनों नियमों का उल्लेख किया जाता है।

द्रव्य की अक्षरता या अनश्वरता का नियम, जिसका अनुसंधान और जिसकी व्याख्या लवायशियर नामक एक फरासीसी वैज्ञानिक ने पहले पहल सन् १७८१ में की, इस प्रकार है। द्रव्य जो अनंत दिक् में व्याप्त है उसका योग सदा समान रहता है, उसमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं हो सकती। द्रव्य का कोई पिंड जो हमारे देखने में लुप्त हो जाता है, वह वास्तव में नष्ट नहीं होता, केवल अपना रूप बदल देता है। जब कपूर जल जाता है तब उसके अणुओं का नाश नहीं होता, उसके अणु धुएँ, काजल या अन्य किसी रूप में बने रहते हैं। जब मिस्री की डली पानी में घुल जाती है तब वह स्थूल से तरल रूप में हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ कोई नया पदार्थ उत्पन्न होता दिखाई

देता है वहाँ भी रूप परिवर्तन मात्र ही समझना चाहिए। मेह की झड़ी वायु में मिली भाप है जो बूँदों के रूप में होकर गिरती है। लोहे के ऊपर जो मुरचा लग जाता है वह उसी धातु की एक तह है जो पानी और हवा में मिली आक्सिजन के साथ मिलकर मुरचे के रूप में हो जाती है। प्रकृति के बीच कभी किसी नए अर्थात् अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति या सृष्टि नहीं होती और न द्रव्य के किसी एक कण का भी नाश या प्रध्वंसाभाव होता है। यह बात निर्विवाद है और इसी पर आधुनिक रसायनशास्त्र की स्थिति है। इसका निश्चय हम जब चाहें तब वैज्ञानिकों के मानयंत्र तराजू द्वारा कर सकते हैं। 'द्रव्य की नित्यता' का निश्चय अब वैज्ञानिक मात्र को है।

शक्ति की अक्षरता या नित्यता का सिद्धांत इस प्रकार है। शक्ति अर्थात् गतिशक्ति जो अनंत दिक् में कार्य करती है और समस्त व्यापार जिसके परिणाम हैं उसका योग सदा समान रहता है। उसमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं होती। गतिशक्ति का न कभी क्षय होता है और न कोई अतिरिक्त नई शक्ति विश्व में उत्पन्न होती है। एंजिन जब तक खड़ा रहता है तबतक भाप की गतिशक्ति निहित या संचित रहती है। जब वह दौड़ता है तब भाप की वही निहित शक्ति व्यक्त या क्रियमाण शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह व्यक्त या क्रियमाण शक्ति कई रूपों में दिखाई पड़ती है। ताप, पिंडगति, शब्द, प्रकाश, विद्युत् आदि व्यक्त शक्ति के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। भौतिक विज्ञान ने एक रूप की शक्ति को दूसरे रूप की शक्ति में परिणत करके दिखा दिया है। ताप पिंडों को गति के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है, पिंडों की गति शब्द या प्रकाश के रूप में और प्रकाश विद्युत् के रूप में। एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होने पर वेग की मात्रा उतनी ही बनी रहती है, उसमें अंतर नहीं पड़ता। जीतीजागती गतिशक्ति का कोई अंश न कभी क्षय को प्राप्त होता है और न किसी नवीन अंश की

विश्व में उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत सन् १८४२ में पूर्णरूप से निर्धारित हो गया। शरीरविज्ञान में भी यह सिद्धांत पूर्णरूप से घटता है। पर शरीर के भीतर एक अतीत शक्ति माननेवाले शरीर-विज्ञानी तथा द्वैतभावापन्न दार्शनिक अभी तक उसका विरोध करते जाते हैं। उनके मत में शरीर के भीतर चेतन व्यापार संपादन करने-वाली जो आध्यात्मिक शक्ति है वह सर्वथा स्वतंत्र है—वह भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन नहीं है। वे आत्मा के इच्छा, द्वेष आदि व्यापारों को सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं। पर अद्वैत तत्वदृष्टिसंपन्न वैज्ञानिक इनको भी गतिशक्ति का ही एक उन्नत रूप मानते हैं।

द्रव्य की अक्षरता का सिद्धांत और गतिशक्ति की अक्षरता का सिद्धांत दोनों वस्तुतः एक ही हैं; यह बात आधुनिक अद्वैतवाद में बड़े काम की है। इन दोनों सिद्धांतों में उसी प्रकार नित्य संबंध है जिस प्रकार द्रव्य और शक्ति में। ये वस्तुतः अन्योन्याश्रित क्या अभिन्न हैं। अद्वैतदृष्टि के बहुत से दार्शनिकों को तो इनकी अभिन्नता या एकता सर्वथा प्रत्यक्ष है क्योंकि ये एक ही पदार्थ विश्व के दो रूपों से संबंध रखते हैं। पर प्रत्यक्ष होने पर भी यह बात सबको स्वीकृत नहीं है। शक्ति और द्रव्य, आत्मा और शरीर को पृथक् माननेवाले द्वैतवादी दार्शनिक, अतीत शक्ति माननेवाले शरीरविज्ञानी तथा शरीर और आत्मा के व्यापारों को दो सहगामी व्यापार माननेवाले मनोविज्ञानी इसका घोर विरोध करते हैं। यहाँ तक कि व्याहत दृष्टि के कुछ अद्वैत-वादी दार्शनिक भी यह कहते हैं कि द्रव्य और शक्ति की एकता मानने पर भी 'चेतना' एक ऐसी वस्तु रह जाती है जो इस एकता के अंतर्गत नहीं आती, जो द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमों से परे प्रतीत होती है। पर मुझे तो पूरा निश्चय है कि 'चेतना' भी द्रव्य और भौतिक शक्ति के नियमाधीन है, उससे परे नहीं। द्रव्य का नियम और गति-शक्ति का नियम दोनों अभिन्न हैं। व्यवहार के लिए उनकी अलग अलग

भावनामात्र मनुष्य को होती है। दोनों नियमों के समाहार को हम 'परमतत्व का धर्म' कहते हैं जिसका वशवर्ती अखिल ब्रह्मांड है। कार्यकारणव्यवस्था इसीके अंतर्गत है।

योरप में स्पिनोजा (सन् १६७७) पहला दार्शनिक है जिसके विचार में 'परमतत्व' की शुद्ध भावना आई। उसीने पहले पहल ईश्वर और जगत् की एकता का प्रतिपादन किया[1]। इस प्रकार योरप में शुद्ध अद्वैतवाद की नींव पड़ी। स्पिनोजा ने बतलाया कि यह 'परमतत्व' अपनी सत्ता को दो रूपों में व्यक्त करता है। एक द्रव्य के रूप में अर्थात् अनंत दिक् में व्याप्त पदार्थ या तत्व के रूप में और दो आत्मा के रूप में अर्थात् सर्वव्यापिनी गतिस्वरूपा चित् शक्ति के रूप में[2]। संसार के सब पदार्थ, सब जीव, जिनकी हमें अलग अलग भावना होती है, इसी परमतत्व के विशेष विशेष क्षणभंगुर नाम रूप है[3]। इन नाम रूपों का जब हम विस्तार के गुणानुसार विचार करते हैं तब वे द्रव्यात्मक वस्तु कहलाते हैं, और जब चित् शक्ति या क्रियाशक्ति के रूप में विचार करते हैं तब गति या बुद्धि क्रिया कहलाते हैं। स्पिनोजा के इस गूढ़ विचार का समर्थन हम आज भी करते हैं और द्रव्य अर्थात् दिक् में व्याप्त परम-

---

१. भारतवर्ष में ईश्वर और जगत् की एकता का सिद्धांत अत्यंत प्राचीन काल में निश्चित हुआ था। उपनिषद् की 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की भावना बहुत पुरानी है। वेदांती लोग भी ईश्वर को जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' बतला कर ईश्वर और जगत् की एकता का आभास देते हैं।

२. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितं च यच्च, सच्च, त्यच्च।—वृहदारण्यक—मूर्तामूर्त ब्राह्मण।

३. इन नाम रूपों की क्षणभंगुरता का विषय हमारे यहाँ आकाश के दृष्टांत द्वारा समझाया गया है। जैसे घट के भीतर का आकाश विशेष रूप का दिखाई पड़ता है, पर घड़े के फूटने पर वह घटाकाश नहीं रह जाता अर्थात् आकाश का वह स्वरूप नहीं रह जाता।

तत्व और शक्ति अर्थात् गति या वेग को एक ही सर्वव्यापक परमतत्व की दो अभिव्यक्तियाँ मानते हैं ।

आधुनिक विज्ञान में परमतत्व के संबंध में जो भिन्न भिन्न सिद्धांत प्रचलित हैं उनमें मुख्य दो हैं—प्रथम अणुदोलन सिद्धांत और द्वितीय आकुंचन सिद्धांत । दोनों सिद्धांतों के अनुसार यह निश्चय पक्का ठहरता है कि आकर्षण, विद्युत्, प्रकाश और ताप इत्यादि सब एक ही मूल गतिशक्ति के रूपांतर हैं । पहले अणुदोलनवाले सिद्धांत को लेते हैं । इसके अनुसार मूल गतिशक्ति द्रव्य के परमाणुओं का क्षोभ है । ये परमाणु जड़ हैं और दूर से एक दूसरे पर आकर्षण प्रभाव डालकर शून्य में नाचते रहते हैं । इस सिद्धांत का प्रवर्तक न्यूटन है जिसने योरप में आकर्षण सिद्धांत की स्थापना की । सन् १६८७ में अपने सिद्धांतग्रंथ में उसने दिखाया कि समस्त विश्व आकर्षण के नियम पर चलता है । यह आकर्षण पदार्थों के गुरुत्व और उनकी बीच की दूरी के हिसाब से होता है । पिंड जितने ही भारी होंगे उतने ही अधिक वेग से आकर्षण होगा और एक दूसरे से जितने ही अधिक दूर होंगे उतना ही आकर्षण का वेग कम होगा । इसी व्यापक नियम के अनुसार फल पेड़पर से टूटकर पृथ्वी पर गिरता है, समुद्र की लहरें ऊपर की ओर उठती हैं और ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं । न्यूटन ही ने इस नियम के परिचालन का ठीक ठीक हिसाब गणित करके दिखाया । न्यूटन के निरूपण से इस बात का तो पता लगा कि आकर्षण किस हिसाब से होता है पर इसका पता कुछ भी न लगा कि यह होता किस प्रकार है । यह कहने से कि एक ग्रहपिंड दूर से बिना किसी मध्यवर्ती वाहक के दूसरे पिंडों में गति उत्पन्न करता है, आकर्षण का विधान कुछ भी समझ में नहीं आता । अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दूर से बिना किसी आधार के होनेवाली यह क्रिया न्यूटन को एक गूढ़ रहस्य या ईश्वरी माया प्रतीत हुई हो, जिसके कारण

उसने अपना शेष जीवन बाइबिल की बेमिर पैर की बातों की उधेड़बुन में बिताया ।

इस अणुदोलन सिद्धांत के विरुद्ध हाल का आकुंचन सिद्धांत है। इसके अनुसार जगत् की मूल गति शून्य स्थान में अणुओं का दोलन या कंपन नहीं है बल्कि अनंत दिक् में अखंड रूप से व्याप्त मूलद्रव्य या परमतत्व का आकुंचन या जमाव है। इस परमतत्व की मूलगति आकुंचित होने या जमने की प्रवृत्ति है जिसके कारण जमाव के अनंत केंद्र उत्पन्न हो जाते हैं। अखिल मूल प्रकृति या परमतत्व के सूक्ष्म कण परमाणु रूप ही हैं। पर अणुदोलन सिद्धांतवाले इन परमाणुओं को जैसा मानते है वैसे वे नहीं होते। उनमें एक प्रकार की संवेदना या प्रवृत्ति जिसे मूल वासना या मनोगति कह सकते हैं, होती है। अतः इन अणुओं को एक प्रकार की मूल आत्मा[1] से युक्त मानना चाहिए। एक बात और है। आत्माओं से युक्त ये परमाणु शून्य में नहीं फिरते हैं बल्कि एक अत्यंत सूक्ष्म और प्रवाह-रूप मध्यवर्ती द्रव्य में घूमते हैं जो जमा नहीं रहता। मूलद्रव्य के जमने में जो क्षोभ होता है उससे क्षोभ के बहुत से केंद्र बनते हैं जिनके चारो ओर असंख्य परमाणु एकत्र होकर परस्पर मिलते हैं और आसपास के द्रव्य से अधिक स्थूलता प्राप्त करते हैं। इस रीति से मूलप्रकृति या परमतत्व जो अपनी मूल साम्यावस्था में सर्वत्र एकरस रहता है, दो रूपों में हो जाता है। क्षोभ के केंद्र जिनका घनत्व साम्यावस्था के मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व से अधिक हो जाता है, पिंडों के स्थूल उपादान होते हैं; और उनके बीच के स्थानों में व्याप्त सूक्ष्म मध्यवर्ती मूलद्रव्य जिनका घनत्व साम्यावस्था के

---

१. आत्मा से अभिप्राय यहाँ चैतन्य का नहीं है, केवल जड़ प्रवृत्ति का है। चेतना को हैकल गुणविकास मानते हैं।

मूलद्रव्य के सामान्य घनत्व से कम हो जाता है, वह ईथर या सूक्ष्म अगोचर आकाशद्रव्य हो जाता है। एक मूलतत्व के पिंड और ईथर इन दो पदार्थों में विभक्त हो जाने से दोनों पदार्थों में निरंतर विरोध चलता रहता है। यही विरोध समस्त भौतिक व्यापारों का कारण है। इच्छा या प्रवृत्तियुक्त स्थूल द्रव्य निरंतर संयुक्त और घनीभूत होने का प्रयत्न करता रहता है और इस व्यापार द्वारा विपुल मात्रा में निहित गतिशक्ति का संचय करता है। उसके विरुद्ध सूक्ष्म अग्राह्य द्रव्य निरंतर इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि उसपर और अधिक खिंचाव न पड़े और इस प्रकार वह अधिक से अधिक व्यक्त या क्रियमाण गतिशक्ति का संचय करता है।

यह आकुंचन सिद्धांत मूल प्रकृति की एकता का निश्चय रखनेवाले जीवविज्ञानियों को अणुदोलन सिद्धांत की अपेक्षा अधिक मान्य है। पर अणुदोलन सिद्धांतवाले वैज्ञानिक आकुंचन सिद्धांत स्वीकार नहीं करते। दोनों अनुमानमूलक सिद्धांतों में जो विरोध है वह केवल गति के प्रकार में है, मूल प्रकृति या परमतत्व की गति दोनों मानते हैं। आकुंचन सिद्धांत चाहे अभी अपूर्ण हो, उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हों, पर यह मानना ही पड़ेगा कि अणुदोलन सिद्धांत में जो दोष थे वे इसके द्वारा बहुत कुछ स्पष्ट हो गए हैं। आज इसी सिद्धांत का अनुसरण करके मैं अद्वैतदृष्टि से परमतत्व के संबंध में ये बातें निश्चित करता हूँ—

(१) परमतत्व के ये दोनों रूप अर्थात् स्थूल द्रव्य और ईथर जड़ नहीं हैं। वे किसी बाहरी शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होते बल्कि उनमें स्वयं संवेदन और इच्छा अत्यंत निम्न श्रेणी की होती है। एक में जमाव की इच्छा और दूसरे में खिंचाव की अनिच्छा होती है।

(२) विश्व में कहीं कोई स्थान शून्य नहीं। जो स्थान स्थूल परमाणुओं से पूर्ण नहीं, वह ईथर से व्याप्त है।

(३) एक पिंड दूसरे में जो गति आदि उत्पन्न करता है वह या तो संसर्ग द्वारा अथवा ईथर की मध्यस्थता द्वारा ।

परमतत्व के संबंध में ऊपर जिन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है वे दोनों अद्वैत सत्ता सूचित करते हैं; क्योंकि परमतत्व के जो दो अवस्थाभेद हैं—द्रव्य और ईथर, वे उसके मूल रूप नहीं हैं। पर अध्यात्मपक्ष के दार्शनिकों का द्वैतमत कुछ और ही है। वे दो प्रकार के तत्व मानते हैं–भौतिक और अभौतिक। भौतिक तत्व उन पदार्थों का उपादान है जो भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र के नियमाधीन हैं। अभौतिक तत्व आध्यात्मिक जगत् में है जो समस्त भूतों से परे है, अतः भौतिकविज्ञान के नियमों के बाहर है। इस अध्यात्म जगत् में 'आत्मशक्ति', 'अबाध इच्छाशक्ति' या इसी प्रकार का कोई हौवा काम करता है। इन विचारों के खंडन में प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आजतक अनुभव द्वारा न तो किसी अभौतिक तत्व का पता लगा है न और किसी ऐसी क्रिया या शक्ति का जो द्रव्याश्रित न हो। यहाँ तक कि गतिशक्ति अर्थात् क्रियाशक्ति के सबसे जटिल और विशद भेद जो जीवधारियों के बुद्धि आदि व्यापार हैं, वे भी भूतात्मक द्रव्यविधान के आश्रित हैं; मस्तिष्क के अवयवों की परिस्थिति और रसविकार पर अवलंबित हैं। इन अवयवों और रसविकारों से पृथक् उनकी भावना हो नहीं सकती।

स्थूल द्रव्य का विश्लेषण आदि रसायन शास्त्र का विषय है। रसायन शास्त्र ने इधर जो आश्चर्यजनक उन्नति की है वह किसी से छिपी नहीं है। प्रकृति में जितने पदार्थ हैं विश्लेषण करने पर वे कुछ मूलद्रव्यों के योग से बने पाए गए हैं। मूलद्रव्य का अभिप्राय यह है कि यदि उसका और विश्लेषण किया जाय तो उसमें और किसी भिन्न द्रव्य का योग नहीं पाया जायगा। अब तक सत्तर या पचहत्तर मूलद्रव्यों में से केवल चौदह ऐसे हैं, जो इस पृथ्वी पर बहुत अधिक

व्याप्त हैं। बाकी जो हैं उनमें से अधिकांश धातुएँ हैं; जैसे लोहा, सोना, सीसा इत्यादि। मेंडालायफ नामक एक रूसी रसायनवेत्ता ने इन मूलद्रव्यों को परमाणुओं के गुरुत्व के अनुसार वर्गों में बाँटा है। इस वर्गीकरण में समान गुणवाले मूलद्रव्य एक वर्ग में आ जाते हैं। इन वर्गों में जो परस्पर संबंध है उसे देखने से प्राणिवर्गों और वनस्पतिवर्गों के परस्पर संबंध की ओर ध्यान जाता है। अतः जिस प्रकार एक मूलरूप से संपूर्ण प्राणिवर्गों की उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार मूलद्रव्य के इन वर्गों की भी उत्पत्ति समझी जा सकती है। क्रुक्स आदि रसायनज्ञों ने सूचित किया है कि समस्त मूलद्रव्यों का विकास एक आदिम मूलद्रव्य से हुआ है।

दार्शनिकों का अणुवाद तो बहुत पुराना है। पर रसायन शास्त्र में परमाणुवाद की स्थापना डाल्टन नामक एक वैज्ञानिक ने की। उसीने पहले पहल प्रत्येक मूलद्रव्य के परमाणुओं का गुरुत्व निश्चित किया[1] जिसके आधार पर आधुनिक रसायन शास्त्र के सिद्धांत स्थिर किए गए हैं। ये सिद्धांत परमाणुमूलक हैं क्योंकि इनमें प्रत्येक मूलद्रव्य एक ही प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणिकाओं के योग से बना माना गया है। ये परमाणुमूलक सिद्धांत परीक्षात्मक या अनुभवसिद्ध हैं क्योंकि ये ठीक ठीक बतलाते हैं कि किस हिसाब से एक मूलद्रव्य के परमाणु दूसरे मूलद्रव्य के परमाणुओं के साथ मिलते हैं। रसायनशास्त्र इसके आगे नहीं जाता। वह यह नहीं बतलाता कि परमाणुओं की आकृति, प्रकृति, अंतःक्रिया आदि कैसी हैं।[2]

---

१. गुरुत्व से यह न समझना चाहिए कि परमाणुओं की ठीक ठीक तौल बतला दी गई। उनके गुरुत्व का केवल संबंध बताया गया कि यदि एक का गुरुत्व एक माना जाय तो दूसरे का दो होगा और तीसरे का चार होगा।

२. परमाणु की इधर और परीक्षा हुई है। दे० भूमिका।

भिन्न भिन्न मूलद्रव्यों का भिन्न भिन्न मूलद्रव्यों के साथ जो परस्पर प्रीतिसंबंध है वह ध्यान देने योग्य है। यह प्रीतिसंबंध कुछ मूल-द्रव्यों के रासायनिक रीति से मिलने और कुछ के न मिलने में देखा जाता है। मूलद्रव्यों के व्यापार में उदासीनता से लेकर प्रबल से प्रबल प्रीति का उसी प्रकार दृष्टांत मिलता है जिस प्रकार मनुष्यों, विशेषकर स्त्रीपुरुषों के व्यापार में। वह प्रबल प्रेम जिससे स्त्रीपुरुष एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं वही प्रबल चेतनानिरपेक्ष 'अचेतन' आकर्षण है, जिसकी प्रेरणा से शुक्रकीटाणु गर्भ-कीटाणु में प्रवेश करता है और हाइड्रोजन के परमाणु आक्सिजन के परमाणुओं के साथ मिलते और जलकणिका की सृष्टि करते हैं। इसका समर्थन शरीराणुरूप घटकों की अंतःक्रिया या मनोव्यापार की परीक्षा द्वारा भी होता है। इन बातों के आधारपर हमारा यह निश्चय है कि द्रव्य के एक परमाणु में भी मूलरूप की संवेदना और इच्छा अथवा अनुभूति और प्रवृत्ति होती है। उसमें भी एक अत्यंत मूलरूप की अत्यंत सादे ढंग की आत्मा होती है।[1] इन परमाणुओं के योग से बने हुए अणुओं में भी इसी प्रकार की अल्प आत्मा होती है। भिन्न भिन्न प्रकार के अणु मिलकर ऐसे रासायनिक द्रव्य या रस जैसे कललरस, हो जाते हैं जिनमें ऊपर लिखे अंतर्व्यापार भी अधिक गूढ़ और जटिल रूप धारण कर लेते हैं। प्राणियों के व्यापार इसी प्रकार के अंतर्व्यापार हैं।

यहाँ तक तो स्थूल द्रव्य की बात हुई। अब अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य ईथर को लीजिए जो भौतिक विज्ञान का विषय है। प्रकाश किस प्रकार एक पिंड से निकलकर दूसरे पिंड पर जाता है, इसके समाधान

१. ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा से हैकल का अभिप्राय चेतना का नहीं है। चेतना को वे एक ऐसी वृत्ति मानते हैं जो मस्तिष्क या अंतःकरण के कुछ उन्नत होने पर उत्पन्न होती है।

के लिए एक अत्यंत सूक्ष्म और पतले मध्यवर्ती द्रव्य का अस्तित्व भौतिक विज्ञान में कुछ दिनों से माना जाने लगा था। पर उसका विशेष रूप से परिचय तब हुआ जब विद्युत् के तत्वों की छानबीन की गई, उसके अनेक प्रकार के प्रयोग किए गए और उसकी गति आदि की मीमांसा की गई। अब ईथर की वास्तविक सत्ता वैज्ञानिकों में सर्वत्र मानी जाती है। पर अभी कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि ईथर एक अनुमान मात्र है। ऐसा कहनेवाले सृष्टितत्व से अनभिज्ञ दार्शनिक और चलते हुए साधारण लेखक ही नहीं, कुछ वैज्ञानिक लोग भी हैं। पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि ऐसे करामाती दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने इस दृश्य जगत् तक की सत्ता अस्वीकार की है। उनकी समझ में केवल एक ही वास्तविक सत्ता है, वही उनकी परम प्रिय अमर आत्मा। योरप में डेकार्ट, बर्क्ले और फिक्ट इसी प्रकार के दार्शनिक हुए हैं[1]। कई एक ने तो इस आत्माद्वैतवाद को तत्वज्ञवर कांट के इस कथन का ठीक अभिप्राय न समझने के कारण ग्रहण किया है कि वाह्य जगत् का हमें जो बोध होता है वह प्रतीतिमूलक है, अर्थात् उन्हीं रूपों में होता है जिन रूपों में इंद्रियों के सहित हमारे मन को दिखाई पड़ता है। कांट का कहना है कि वस्तुओं का चित्तनिरपेक्ष वास्तव स्वरूप मनुष्य नहीं जान सकता। पर यदि अंतःकरण द्वारा हमें भूतात्मक जगत् का अपूर्ण और परिमित ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, तो यह कोई ऐसा कारण नहीं जिससे हम एकदम जगत् का अस्तित्व ही न मानें। अस्तु, ईथर का होना उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार स्थूल द्रव्य का होना। जिस प्रकार गुरुत्व आदि के अनुभव द्वारा हमें स्थूल द्रव्य के अस्तित्व का निश्चय होता है उसी प्रकार विद्युत्क्रिया और रश्मिविश्लेषण

---

१. भारतवर्ष में इनके बहुत पहले यह मत प्रकट हुआ था।

की परीक्षा और अनुभव द्वारा हमें ईथर के अस्तित्व का निश्चय होता है।

यद्यपि ईथर का अस्तित्व अब प्रायः सब वैज्ञानिक मानते हैं और उसके बहुत से गुणों का परिचय विद्युत् की क्रिया और प्रकाश की किरनों की विविध परीक्षाओं द्वारा सब को हो गया है, पर उसके वास्तविक रूप और प्रकृति के संबंध में कोई एक निश्चित मत नहीं। जिन वैज्ञानिकों ने ईथर के विषय में विशेष रूप से विचार किया है उनके मत परस्पर विभिन्न और विरुद्ध हैं। अतः जो मत मुझे सब से ठीक जान पड़ा है उसे मैं नीचे देता हूँ—

(१) आकाश द्रव्य ईथर एक अखंड और अनवच्छिन्न द्रव्य है अर्थात् अणवात्मक नहीं है और संपूर्ण दिक् में व्याप्त है; यहाँ तक कि परमाणुओं के बीच जो अंतर होता है वह भी ईथर से परिपूर्ण रहता है।

(२) ईथर के अणवात्मक न होने से उसमें कोई रासायनिक गुण नहीं माना जा सकता, वह सर्वत्र एकरस रहता है। क्योंकि यदि ईथर को भी अत्यंत सूक्ष्म अणुओं के द्वारा संयोजित मानें तो फिर इन ईथराणुओं के बीच कोई और भी सूक्ष्म तत्व अखंड रूप से व्याप्त मानना पड़ेगा। पर इस प्रकार बराबर मानते चले जाने से अनवस्था आती है। अतः कहीं न कहीं चलकर हमें एक अखंड, अनवच्छिन्न तत्व मानना ही पड़ेगा।

(३) जब कि शून्य स्थान की भावना हो नहीं सकती और एक पिंड का दूसरे पिंड पर दूर से बिना किसी मध्यस्थ के, आकर्षण आदि प्रभाव डालना संभव नहीं, तब ईथर के विषय में यही मानना उचित है कि स्थूल द्रव्य के समान उसका ढाँचा अणुघटित नहीं, बल्कि आकाशीय या गत्यात्मक अर्थात् प्रकाश आदि की किरणों का वाहकस्वरूप और आकर्षणशक्ति का प्रवर्तकस्वरूप है। ईथर वायु से कहीं अधिक सूक्ष्म आकाशरूप तत्व है।

(४) ईथर को हम अग्राह्य द्रव्य कह सकते हैं क्योंकि उसकी तौल आदि जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। यदि उसमें कुछ गुरुत्व हो तो भी उसको जानना वैज्ञानिकों के सूक्ष्म से सूक्ष्म मानयंत्र की शक्ति के बाहर है।

(५) आकुंचन सिद्धांत के अनुसार द्रव्य ईथर या आकाशीय रूप से उत्तरोत्तर जमाव की प्रक्रिया द्वारा वायव्य रूप में आ सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वायव्य द्रव्य द्रवरूप में, और द्रव स्थूल या ठोसरूप में परिणत हो सकता है।

(६) अतः, उत्तरोत्तर रूपप्राप्ति क्रम के अनुसार द्रव्य की पाँच अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—ईथरीय या आकाशीय, वायव्य, द्रव, कणात्मक, जैसे कललरस की होती है, और ठोस।

(७) ईथर दिक् के समान अनंत और अपरिमेय है। वह सदा गति में रहता है। पिंडगति अर्थात् आकर्षण के साथ परस्पर कार्य करती हुई ईथर की यही नित्यगति, चाहे यह क्षोभ के रूप में मानी जाय अथवा खिंचाव या जमाव के रूप में; जगत् के संपूर्ण व्यापारों का मूल कारण है।

व्यक्त प्रकृति; जगत्

ईथर (आकाशरूप द्रव्य)—अग्राह्य	पिंड—ग्राह्य
१ स्वरूप आकाशीय (अर्थात् न वायव्य, न द्रव, न ठोस)	१ स्वरूप ठोस, द्रव वा वायव्य
२ विधान अणवात्मक नहीं, अखंड और व्यापक	२ विधान अणवात्मक, अत्यंत सूक्ष्म परमाणुओं से संघटित और खंडित
३ गुण प्रकाश, ज्योतिर्मय ताप, विद्युत् और चुंबक	३ गुण गुरुत्व, अधिचलल, अणवात्मक ताप, रासायनिक प्रवृत्ति

ईथर अर्थात् आकाश द्रव्य और ग्राह्य अर्थात् स्थूल द्रव्य सदा एक दूसरे के लगाव में ही नहीं रहते बल्कि एक दूसरे पर अपनी क्रिया करते हैं। प्रकृति के गुणों और व्यापारों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—ईथर के गुण और व्यापार, स्थूल द्रव्य के गुण और व्यापार।

द्रव्य के गुणों और व्यापारों के ये दोनों वर्ग द्रव्य के उन्नतिविधान में आदि कार्यविभाग हैं। पर कार्यतः अलग होते हुए भी ये दोनों वर्ग सदा संबंधसूत्र में बँधे रहते हैं और एक दूसरे पर कार्य किया करते हैं। यह जानी हुई बात है कि विद्युत् और रश्मिसंबंधी व्यापारों और ग्राह्य द्रव्य के भौतिक और रासायनिक विकारों में घनिष्ट संबंध होता है। ईथर का ज्योतिर्मय ताप भौतिक पिंड के ताप के रूप में परिणत किया जा सकता है। इसी प्रकार एक रूप की गतिशक्ति दूसरे रूप की गतिशक्ति में परिवर्तित हो सकती है। इन बातों से स्पष्ट है कि परमतत्व के दोनों रूप, ईथर और पिंड, सदा मिलकर कार्य किया करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है विश्व में गतिशक्ति का योग सदा एक ही रहता है, हमारे चारों ओर चाहे जो उलटफेर हों उसमें कुछ भी अंतर नहीं पड़ता। गतिस्वरूपा शक्ति भी उस द्रव्य के समान, जो उसका आश्रय है, नित्य और अनंत है। प्रकृति का सारा रंगस्थल चराचर का खेल है। उसमें पदार्थ कभी चल और कभी अचल होते रहते हैं। जो पदार्थ स्थिर या अचल रहते हैं उनमें उसी प्रकार गतिशक्ति रहती है जिस प्रकार चलायमान् पदार्थों में, अर्थात् वह निहित या संचित रहती है। यही निहित शक्ति जब व्यक्त हो जाती है तब वे पदार्थ गति में होते हैं। इस भौतिक जगत् में निहित शक्ति की और व्यक्त शक्ति की मात्रा अक्षुण्ण और एकरस रहती है। निहित गतिशक्ति व्यक्त गतिशक्ति के रूप में या व्यक्त शक्ति निहित के रूप में एक ठीक बँधे हुए हिसाब से परिवर्तित होती है। जिस हिसाब से एक ओर एक की वृद्धि

होती है उसी हिसाब से दूसरी ओर दूसरी का ह्रास होता है। अतः अंत में शक्ति की मात्रा उतनी ही रहती है, उसमें अंतर नहीं पड़ता।

भौतिक विज्ञान में जब परमतत्वसंबंधी नियम निश्चित हो गए तब शरीरविज्ञानियों ने उनकी चरितार्थता शरीरियों में भी दिखलाई। उन्होंने सिद्ध किया कि जड़ पदार्थों के नियमित व्यापार जैसे गतिशक्ति की विविध क्रियाओं के अनुसार होते हैं वैसे ही जीवों के सब शरीर-व्यापार, जैसे एक धातु से दूसरी धातु में परिवर्तन आदि, गतिशक्ति की नियमित क्रियाओं के अनुसार होते हैं। उद्भिदों और जंतुओं की वृद्धि और पोषण आदि व्यापार ही नहीं, बल्कि उनके संवेदन और अंगसंचालन, उनके इंद्रियव्यापार और अंतःकरण व्यापार भी, निहित गतिशक्ति के व्यक्त गतिशक्ति में और व्यक्त गतिशक्ति के निहित गतिशक्ति में परिवर्तित होने पर अवलंबित हैं। मनुष्य तथा दूसरे उन्नत प्राणियों में जो मन या बुद्धि की वृत्तियाँ कहलाती हैं वे भी परमतत्व के इन्हीं नियमों के अधीन हैं।

भौतिक अद्वैतदृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि परमतत्व-संबंधी नियम विश्व में सर्वत्र चलता है। यह बात ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इससे विश्व की एकमूलता का और उसके अंतर्गत होनेवाली सारी बातों के कार्यकारण संबंध का निरूपण ही नहीं होता बल्कि ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और अमरत्व इन तीन काल्पनिक प्रवादों का एकदम निराकरण भी हो जाता है।

———

तेरहवाँ प्रकरण

जगत् का विकास

जगत् की उत्पत्ति का विषय बड़ा भारी और बहुत टेढ़ा है। पर उन्नीसवीं शताब्दी में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो अद्भुत उन्नति हुई है उससे इस विषय का बहुत कुछ विचार हो गया है। सृष्टिसंबंधी जितनी बातें हैं सब का अंतर्भाव जादूभरे एक 'विकास' शब्द में हो जाता है। मनुष्य की उत्पत्ति, पशुओं की उत्पत्ति, वनस्पतियों की उत्पत्ति, सूर्य, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति के संबंध में अलग अलग प्रश्न न करके केवल एक ही प्रश्न किया जा सकता है—समस्त जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? किसी दैवी शक्ति से उसकी सृष्टि हुई है अथवा प्राकृतिक विधान के अनुसार उसका क्रमशः विकास हुआ है? यदि क्रमशः विकास हुआ है तो किस प्रकार?

प्राचीन काल की पौराणिक व्याख्या के अनुसार तो सृष्टि बनाई गई है। धर्मग्रंथों में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बड़ी अलौकिक और अद्भुत कथाएँ मिलती हैं। किताबी या पैगंबरी धर्मों, यहूदी, ईसाई, इसलाम आदि के कारण इन कहानियों का बहुत प्रचार हुआ है[1]।

---

१. इन अनार्य धर्मों में पुराण हैं, शास्त्र नहीं। एक एक पौराणिक पुस्तक-तौरेत, इंजील, कुरान आदि को लेकर ही ये धर्म चलते हैं। हिंदू, बौद्ध, जैन आदि आर्यधर्मों में पुराण और शास्त्र दोनों हैं। विद्वान् लोग प्रायः शास्त्रीय चर्चा में ही अपना समय लगाते हैं। हिंदुओं के पुराणों में जिस प्रकार आदि में जल के ऊपर शेषशायी भगवान् के रहने और उनकी नाभि के कमल से उत्पन्न ब्रह्मा के चराचर सृष्टि बनाने की कथा है लिखी है, उसी प्रकार उनके सांख्य शास्त्र में एक अव्यक्त मूल प्रकृति से क्रमशः संपूर्ण तत्वों के विकास का

ईसाई धर्म के प्रचार के पहले यूनान के स्वतंत्र दार्शनिकों और तत्वज्ञों ने सृष्टि के विकास के संबंध में अच्छा विचार किया था। ईसाई धर्म के साथ ही साथ यहूदियों के किस्सों और कहानियों का प्रचार हुआ। आर्यवंशीय ज्ञानवृद्ध और स्वतंत्र यूनानी जाति के आगे अनार्य यहूदी जाति बिलकुल गँवार और जंगली थी। प्राकृतिक कारण से सृष्टि के क्रमशः विधान का भाव तो उसके अनुन्नत अंतःकरण में आ नहीं सकता था, अतः वह जगत् की उत्पत्ति को किसी देवीदेवता की करामात समझने के सिवा और कर ही क्या सकती थी? इस सृष्टिकर्तृत्ववाद में पुरुषविशेषवाद मिला हुआ है। इसे माननेवाले समझते हैं कि कुम्हार जैसे अनेक प्रकार के बरतन उनके ढाँचे सोच कर बनाता है वैसे ही सृष्टिकर्ता जगत् को बनाता है। इस सृष्टिकर्ता की भावना मनुष्य या पुरुषविशेष के रूप में ही की जाती है।

सृष्टि की उत्पत्ति की भावना दो रूपों में देखी जाती है—एक तो संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति की और दूसरी उसके विविध अंगों की उत्तरोत्तर उत्पत्ति की। सृष्टि का एक कर्ता माननेवाले लोगों में जो युक्ति और बुद्धि की भी दुहाई देते हैं, उनका कहना है कि ईश्वर ने आदि में संपूर्ण जगत् का मूल या बीज उत्पन्न कर दिया, उसमें नाना रूपों के विकास की शक्ति भर दी और फिर चुपचाप बैठ रहा। यह कथन विशेषतः आजकल के मतसंशोधकों का है। ये विकासपरंपरा को एक प्रकार से मानते हैं पर मूल में जाकर उसे छोड़ देते हैं और वहाँ अपने सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्थापित करते हैं। दूसरे धार्मिक सृष्टिवादियों

गंभीर निरूपण भी किया गया है। पर इसाइयों का एकमात्र आधार उनका पुराणग्रंथ बाइबिल है जिसमें लिखा है कि ईश्वर ने छः दिन में आकाश, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतियों और जीवों को अलग अलग उत्पन्न किया, मनुष्य का पुतला बनाकर उसमें अपनी रूह फूँकी। इसी से योरप में जब पहले पहल सृष्टि-विकास का निरूपण हुआ तब वहाँ बड़ी खलबली मची।

का कहना है कि ऐसा नहीं, ईश्वर बराबर सृष्टि का पालन और शासन करता है, उसे एक बार बनाकर फिर किनारे नहीं हो जाता। इन लोगों के विचार कभी कभी बढ़ते बढ़ते सर्ववाद तक पहुँच जाते हैं और कभी शुद्ध ईश्वरवाद ही तक रहते हैं।

जगत् की सृष्टि के संबंध में जो अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं उनमें से कुछ ये हैं—

(१) द्विविध सृष्टि—ईश्वर ने दो बार सृष्टि की। एक बार तो उसने जड़जगत् अर्थात् निर्जीव द्रव्य को उत्पन्न किया जो उस भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है जो अचेतन रूप में कार्य करती है। फिर चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी स्वतंत्र शक्ति से जीवधारियों के विकास की व्यवस्था हुई।

(२) त्रिविधसृष्टि—ईश्वर ने तीन बार करके सृष्टि की। पहले उसने आसमान को बनाया, फिर जमीन को बनाया, पीछे अपने आकार के अनुसार मनुष्य की रचना की। यह बात ईसाई मत के उपदेशकों के मुँह से बहुत सुनी जाती है।

(३) साप्ताहिक सृष्टि—मूसा की किताब में लिखा है कि छः दिनों में ईश्वर ने चटपट सारी सृष्टि बनाकर तैयार कर दी और सातवें दिन आराम किया। पढ़ेलिखे लोगों में अब शायद ही कोई ऐसा निकले जो इस कहानी को ठीक मानता हो। फिर भी आजकल के कुछ धर्माभिमानी आधुनिक विज्ञान के शब्दों में इस कहानी की विशद व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। १८वीं शताब्दी तक जीवविज्ञानियों पर इस कहानी का बहुत कुछ प्रभाव था। सन् १७३५ में लिनी नामक प्राणिविज्ञानवेत्ता ने जंतुओं का वर्गों में विभाग आदि तो किया पर भिन्न भिन्न योनियों के विषय में उसने यही कहा कि 'संसार में योनियाँ उतनी ही हैं जितनी के ढाँचे सृष्टि के आदि में ईश्वर ने

उत्पन्न किए थे'। डारविन ने इस प्रवाद का पूर्णरूप से खंडन कर दिया।

(४) **कल्पसृष्टि**—प्रत्येक जीवकल्प या मन्वंतर के आदि में फिर से नए जीवों और वनस्पतियों की सृष्टि होती है और जीवकल्प के अंत में सबका नाश हो जाता है। भूगर्भस्थपंजरानुसंधान विद्या ने इस कल्पना की असारता सिद्ध कर दी है।

(५) **व्यक्तिशः सृष्टि**—प्रत्येक जीव जंतु जो उत्पन्न होता है वह प्राकृतिक नियम के अनुसार नहीं; बल्कि ईश्वर के द्वारा रचा जाता है। यह विश्वास साधारण जनों का है।

इस प्रकार की ऊटपटांग कल्पनाओं से प्राचीन काल के विचारशील पुरुषों का भी समाधान नहीं हुआ। प्राचीन काल के अनेक दार्शनिकों ने शुद्ध चिंतन के बल से प्राकृतिक कारणपरंपरा दिखाकर सृष्टितत्व का निरूपण किया। आजकल की सी वैज्ञानिक परीक्षाएँ सुलभ न होनेपर भी उनका उस काल में इस प्रकार तत्व तक पहुँचना निःसंदेह आश्चर्य की बात है। भारतवर्ष, यूनान आदि सभ्यता के प्राचीन पीठों में ऐसे अनेक तत्वदर्शी हो गए हैं पर सांप्रदायिक कल्पनाओं का जाल, उनके निरूपित तत्वों को लोगों की दृष्टि से छिपाने का बराबर यत्न करता रहा। योरप में जब ईसाई मत का प्रचार हुआ तब सब प्रकार के स्वतंत्र तात्विक विचार दबा दिए गए। ईसाई धर्माचार्यों की कोपाग्नि के भय से कोई ऐसी बात मुँह से निकाल तक न सकता था जो खुदाई किताब के विरुद्ध पड़ती हो। पर धीरे धीरे ज्ञान की ज्योति का फिर उदय हुआ और वैज्ञानिक युग आया। प्रकृति में किस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक गुणों और रूपों का स्फुरण हुआ है, इसका पता लगा। विकास सिद्धांत की स्थापना हुई। उसके आधार पर विश्वविधान के नियमों का निरूपण हुआ। विश्व के अंतर्गत लोकों की उत्पत्ति, पृथ्वी की उत्पत्ति, वनस्पति जीवजंतु आदि की उत्पत्ति

इन सब विषयों को लेकर प्रत्यक्ष प्राकृतिक नियमों के आधार पर अलग अलग शास्त्रों की नींवँ पड़ी। विस्तार के भय से सब का यहाँ पूरा वर्णन न करके चार मुख्य विषयों को लेता हूँ—(१) विश्व या जगत् की उत्पत्ति, (२) पृथ्वी की उत्पत्ति, (३) जीवों की उत्पत्ति और (४) मनुष्य की उत्पत्ति।

१. जगत् की उत्पत्ति

प्राकृतिक नियमों के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विधान की व्याख्या पहले पहल जरमनी के तत्वज्ञवर कांट ने सन् १७७५ में अपनी एक पुस्तक में की। पर दुर्भाग्यवश वह पुस्तक प्रकाशित न होने के कारण ९० वर्ष तक लुप्त रही। सन् १८४५ में वह मिली और प्रकाशित की गई। इस बीच में लाप्लेस नामक एक फरासीसी तत्व-वेत्ता भी स्वतंत्र रीति से उसी सिद्धांत पर पहुँचा जिस सिद्धांत पर कांट पहुँचा था। इन दोनों तत्वज्ञों ने ग्रहों और नक्षत्रों की गति की गणित की रीति से भौतिक व्याख्या की और यह दिखलाया कि अंतरिक्ष के समस्त पिंड पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह, सूर्य इत्यादि सब, घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका के जमने से उत्पन्न हुए हैं। इस ज्योतिष्क नीहारिका के सिद्धांत द्वारा ब्रह्मांड के भिन्न भिन्न लोकों की उत्पत्ति का भौतिक कारण बहुत कुछ समझ में आ गया। पीछे इस सिद्धांत में और उन्नति हुई और यह स्थिर किया गया कि लोकों की उत्पत्ति का यह विधान केवल एक ही बार नहीं हुआ है बल्कि बराबर होता रहता है। जब कि विश्व के किसी एक भाग में घूमती हुई ज्योतिष्क नीहारिका से नए नए पिंड ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती रहती है, दूसरे भाग में जर्जर ठंढे पड़े हुए सूर्य परस्पर टकराते हैं और उत्पन्न ताप के प्रभाव से फिर सूक्ष्म नीहारिका की दशा को प्राप्त हो जाते हैं। विश्व का यह क्रम नित्य है, उसमें साथ

ही कुछ लोकों का लय और कुछ लोकों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः उत्पत्ति और लय हम किसी एक विशेष लोक या लोकमंडल जैसे पृथ्वी आदि सहित हमारा सूर्य, ही के संबंध में कह सकते हैं, समष्टि विश्व के संबंध में नहीं। समष्टिरूप में विश्व सदा से है और सदा रहेगा। अत्यंत क्षुद्र अणुरूप जो लोक हैं उनके रूपांतरित होते रहने से उसकी नित्यता में कुछ भी अंतर नहीं पड़ सकता।

कांट, लाप्लेस आदि ने ब्रह्मांडों की उत्पत्ति का विधान तो समझाया पर लोगों की यह धारणा बनी रही कि समस्त विश्व का कोई आदि था। इन तत्वज्ञों का यह कथन कि आदि में एक अत्यंत सूक्ष्म नीहारिका रूप ज्योतिष्क द्रव्य था; लोकों और ब्रह्मांडों सूर्य, ग्रह, उपग्रह, इत्यादि के संबंध में था, समष्टि विश्व के संबंध में नहीं। पर 'आदि में' इस शब्द का अर्थ लोगों ने यही समझा कि समस्त विश्व का ही कोई आदि था। इस समझ के कारण यह शंका हुई कि विश्व के आदि में जो मूल ज्योतिष्क द्रव्य था उसमें गति कहाँ से आई। कुछ दार्शनिक चट कहने लगे कि वह गति 'अप्राकृतिक शक्ति' या 'दैवी प्रेरणा' से उत्पन्न हुई।

मेरी समझ में इस प्रकार की शंका सर्वथा निर्मूल है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ गति और संवेदन परमतत्व या मूल प्रकृति के गुण हैं। इस बात का प्रमाण द्रव्य और गति की अक्षरता के नियम से तथा भौतिकविज्ञान की परीक्षाओं और आधुनिक ज्योतिष के भेदों से बराबर मिलता है। प्रकाश की किरनों की जो वैज्ञानिक परीक्षा की जाती है उससे पता लग जाता है कि वे किरनें कितनी दूर से आ रही हैं और किस प्रकार के द्रव्यों से आ रही हैं। इस प्रकार की परीक्षा से यह सिद्ध हो चुका है कि अनंत अंतरिक्ष में जो करोड़ों पिंड नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह, उल्का, इत्यादि के रूप में हैं वे उन्हीं द्रव्यों से बने हैं, जिन

द्रव्यों से हमारी पृथ्वी और सूर्य आदि बने हैं तथा वे विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में हैं, अर्थात् कोई बन रहे हैं, कोई बिगड़े रहे हैं। किरणविश्लेषण यंत्र के सहारे ऐसे ऐसे नक्षत्रों की दूरी और गति आदि का पता लगा है जिनके विषय में दूरबीन कुछ भी नहीं बतला सकते थे। इसके अतिरिक्त दूरबीन के साथ फोटोग्राफी का जो संयोग हुआ उसके द्वारा ऐसी ऐसी बातों का पता लगा जिनका पचास वर्ष पहले स्वप्न में भी किसी को ध्यान नहीं था। केतुओं अर्थात् पुच्छल तारों, उल्काओं, तारकपुंजों और ज्योतिष्क नीहारिकाओं का जो सूक्ष्म अन्वीक्षण किया गया उसके द्वारा उन असंख्य छोटे छोटे पिंडों का महत्व प्रकट हुआ जो नक्षत्रों के बीच के अंतर स्थानों में भरे पड़े हैं।

पहले लोगों का ख्याल था कि अंतरिक्ष में घूमनेवाले पिंडों के मार्ग बिलकुल बँधे हुए हैं, उनमें कुछ भी फेरफार नहीं होता, पर अब यह मालूम हो गया है कि उनके मार्गों में भी फेरफार पड़ता रहता है। वे एक ही लीक पर बिना कुछ इधरउधर हुए बराबर नहीं घूमते रहते हैं। किरणविश्लेषण तथा विद्युत्क्रिया और ईथर के निरूपण आदि भौतिक विज्ञान के अंगों का योग पाकर इधर ज्योतिष विद्या ने बहुत ही पूर्णता प्राप्त की है। द्रव्य और गतिशक्ति की अक्षरता संबंधी जो परमतत्व का नियम निरूपित हुआ उसके द्वारा आधुनिक विज्ञान में बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हुई। अब हमारी ज्ञानदृष्टि इस सौर जगत् के भी बहुत आगे लोकलोकांतरों तक पहुँची है और हमने सर्वत्र इसी नियम को पाया है। अब हम कह सकते हैं कि यह नियम सर्वदेशव्यापी है। इसी प्रकार हमें यह भी मानना पड़ता है कि द्रव्य और शक्ति की अक्षरता का यह नियम सर्वकालव्यापी है अर्थात् नित्य है। जिस प्रकार समस्त विश्व आज इसके अधीन है उसी प्रकार सदा से रहा है और सदा रहेगा।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के सहारे विश्व के विधान और विकास के संबंध में जो तत्व निरूपित हुए हैं वे संक्षेप में ये हैं—

(१) जगत् या विश्व का विस्तार अनंत है। वह कहीं शून्य नहीं है, सर्वत्र द्रव्यमय है।

(२) जगत् शाश्वत और नित्य है, वह सदा से है और सदा रहेगा। उसका न कहीं आदि है, न अंत।

(३) परमतत्व सतत गतिशील और परिणामी है। वह सदा गति में रहता है और उसका बराबर रूपांतर या अवस्थांतर होता रहता है। जगत् में कहीं पूर्ण शांति या अचलता नहीं है। पर इस गति के होते हुए भी जगत् में द्रव्य और सतत परिणामशील गति की जो मात्रा है वह सदा वही रहती है।

(४) मूलप्रकृति या परमतत्व की जो नित्य गति है वही लोकों के विकास में कल्प का रूप धारण करती है जिसके भीतर लोकों का विकास और लय होता रहता है। कल्पों का यह विधान अनंत विश्व में अलग अलग बराबर चलता रहता है। दिक् के जिस भाग में विकास कल्प का आरंभ रहता है वहाँ लोकों की उत्पत्ति होती है और जिस भाग में उसका अंत होता है वहाँ लोकों का लय होता है। यह क्रम बराबर साथ ही साथ चलता रहता है।

(५) विकास कल्प का आरंभ इस प्रकार होता है कि कल्पांत के पीछे जब मूलप्रकृति अल्पकाल के लिये साम्यावस्था में आ जाती है तब फिर से उसके घनत्व में भेद पड़ता है और स्थूल द्रव्य तथा आकाश द्रव्य अर्थात् ईथर इन दो रूपों में आदि विभाग होता है।

(६) यह विभाग द्रव्य के उत्तरोत्तर जमने से होता है जिनके कारण जमाव के अनंत केंद्र बन जाते हैं। केंद्ररूप परमाणुओं में प्रवृत्ति और संवेदन परमतत्व के ये ही दो मूल गुण होते हैं जो विविध व्यापारों के कारणस्वरूप हैं।

(७) जब दिक् के एक भाग में जमाव के द्वारा इस प्रकार क्रमशः छोटे से बड़े पिंडों का विधान होता है और आकाशद्रव्य का तनाव बढ़ता है तब दूसरे भाग में इसी का उलटा होता है अर्थात् बड़े बड़े लोकपिंड एक दूसरे से टकरा कर नष्ट हो जाते हैं।

(८) वेग के साथ भ्रमण करते हुए लोकपिंडों के टकराने से प्रचुर परिमाण में जो ताप उत्पन्न होता है, वही व्यक्त गतिशक्ति होकर फैली हुई ज्योतिष्क नीहारिका को अमित वेग से घुमाता है और नए घूमते हुए ज्योतिष्कपिंडों का विधान करता है। इस प्रकार लोकविधान का क्रम फिर से जारी होता है। इसी प्रकार हमारी यह पृथ्वी भी, जो न जाने कितने अरब वर्ष पहले इसी प्रकार बनी थी, अंत में ठंढी और निर्जीव हो जायगी और अपने घूमने की कक्षा को क्रमशः छोटी करती हुई अर्थात् सूर्य से जितनी दूरी पर वह घूमती है उससे क्रमशः और कम दूरी पर घूमती हुई सूर्य में जा गिरेगी।

आधुनिक विज्ञान और ज्योतिष के द्वारा निर्धारित ऊपर लिखी बातों से विकास सिद्धांत के व्यापकत्व का पूरा बोध हो जाता है। विश्व-विधान संबंधी इन बातों पर विस्तृत दृष्टि रखकर यदि हम अपनी पृथ्वी को देखें तो वह रंध्रगत प्रकाश में दिखाई पड़ते हुए त्रसरेणु के तुल्य भी नहीं ठहरती। ऐसे ऐसे असंख्य लोकपिंड अणुओं के रूप में अपार दिक् समुद्र में भ्रमण कर रहे हैं। मनुष्य जो मोह में पड़कर अपने को ईश्वर-तुल्य कहता है, इस दृष्टि से एक क्षुद्र जरायुज जंतु के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता। अनंत विश्वविधान में उसका महत्व और उपयोग चींटी, जलकीटाणु आदि से अधिक नहीं दिखाई पड़ता। नित्य और अनंत परमतत्व के विकास का मनुष्य जाति एक क्षणिक रूप या अवस्था मात्र है।

तत्वज्ञवर कांट ने दिक् और काल की व्याख्या करते हुए कहा कि ये दोनों चित् के स्वरूप या आभास मात्र हैं। दिक् बाह्याभास का

स्वरूप है और काल अंतराभास का[1]। ये हमारी अनुभूति या मन के ही दो रूप हैं जिनमें ढला हुआ सारा जगत् दिखाई पड़ता है। जगत् का चित्तनिरपेक्ष वास्तव रूप क्या है यह मनुष्य कभी नहीं जान सकता। कांट के इस कथन को लेकर अनेक प्रकार की निराधार दार्शनिक कल्पनाएँ चल पड़ीं जिनसे जगत् की सत्ता तक में संदेह किया गया। कल्पनाप्रधान दार्शनिकों को यह कहने का मौका मिल गया कि वास्तव ज्ञान निराधार चिंतन या भावनाओं को लेकर ही हो सकता है, निरीक्षण या परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। यह बात कांट के अभिप्राय को न समझने के कारण हुई। कांट का उक्त कथन प्रमातृपक्ष के संबंध में था प्रमेय पक्ष के संबंध में नहीं। उसका मतलब यह था कि देश और काल को जिस रूप में मन ग्रहण करता है वह मन ही का रूप है। कांट ने स्पष्ट कहा है कि 'देश और काल को

---

१. पहले के कुछ दार्शनिक देश और काल को बाह्यपदार्थ मानते थे। वैशेषिक में दिक् और काल नौ द्रव्यों में तो माने गए हैं पर समवायिकारण नहीं कहे गए हैं केवल असाधारण या निमित्त कारण कहे गए हैं। वे परत्व-अपरत्व संबंधी प्रत्यय अर्थात् भाव या ज्ञान के कारण हैं। देश और काल दोनों विभु, सर्वव्यापी और परम महान् हैं। यद्यपि दिक् एक है और काल भी एक ही है पर उपाधि भेद से संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गुण उनमें आरोपित किए जाते हैं। काल और दिक् में मुख्य भेद यह है कि कालिक संबंध स्थिर रहता है और दैशिक संबंध बदलता रहता है। काल में जो आगे और पीछे होता है वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, जो पहले हो गया वह सदा पहले ही रहेगा जो पीछे हुआ वह सदा पीछे ही रहेगा। दो भाइयों में जो बड़ा होगा वह सदा जेठा ही रहेगा और जो छोटा होगा वह छोटा ही रहेगा पर देश में जो एक बार आगे है वह पीछे हो सकता है और जो पीछे है वह आगे हो सकता है।

आजकल के मनोविज्ञानवेत्ता भी देश की भावना को नेत्रेंद्रियगत संवेदन और पेशीगत गतिसंवेदन के योग से उत्पन्न मानते हैं।

विषयसत्ता है पर उसकी भावना दृश्य जगत् से अतीत है।' कांट का यह निरूपण हमारे आधुनिक तत्वाद्वैतवाद के सर्वथा अनुकूल है। पर उसके सिद्धांत का एक अंग लेकर जो विस्तार एकांगदर्शी दार्शनिकों ने किया है वह सर्वथा असंगत है। बर्क्ले ने यह सिद्धांत प्रकट किया था कि 'पिंड प्रत्यय या भावना मात्र हैं; उनकी सत्ता उनके बोध में ही है।' इस सिद्धांत को इस रूप में कहें तो ठीक हो—'पिंड हमारे चित्त के लिए प्रत्यय या भावना मात्र हैं। उनकी सत्ता उसी प्रकार वास्तविक है जिस प्रकार हमारे अंतःकरण की, जो पिंडों को विषयरूप से ग्रहण करता है।' देश और काल की सत्ता को अस्वीकार करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है जब कि स्वप्न, सन्निपात, उन्माद आदि में लोग अपनी ऊटपटांग कल्पनाओं को ही ठीक समझते हैं। डेकार्ट का प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध यह कहना कि 'मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ' अब माना नहीं जा सकता।[1] परमतत्व के नियम और जगदुत्पत्ति के विधान की अद्वैत व्याख्या हो जाने से आधुनिक दर्शन की पहुँच अब बहुत बढ़ गई। उसके अनुसार देश और काल की सत्ता अब पूर्णरूप से प्रतिपादित हो गई है। अब सौभाग्यवश 'शून्य देश' का भ्रम छूट गया है और सर्वदेशव्यापी द्रव्य का पिंड और आकाशद्रव्य दो रूपों में अस्तित्व सिद्ध हो गया

---

१. डेकार्ट ने कहा था कि प्रत्यक्ष ज्ञान में मतभेद देखा जाता है, अतः बाह्यवस्तुमात्र भ्रम हो सकती है यह संशय रहता है। पर यदि यह निश्चित हुआ कि मुझे संशय है तो यह भी निश्चित है कि मैं सोचता हूँ। पर जो वस्तु है वही कुछ कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूँ तो मैं अवश्य हूँ। 'मैं हूँ' यही एक निश्चय ऐसा है जिसमें कभी किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ सकता। चेतना में 'आत्मबोध' अर्थात् अपने होने का निश्चय सदा एक रहता है यदि भेद पड़ता है तो उस क्रियाविशेष के बोध में जो विषय ग्रहण में वह आप करती है।

है। इसी प्रकार सर्वकालव्यापी व्यापार नित्य गति या शक्ति के रूप में सिद्ध हो गया है जिसकी अभिव्यक्ति नित्यगतिशील जगत् के ब्रह्मांडों के विकासक्रम के रूप में होती रहती है।

कोई पिंड यदि चला दिया जाय तो तबतक बराबर चलता रहता है जबतक कि उसे बाहरी अवरोध नहीं मिलता। पर बाहरी अवरोध अवश्य मिलता है और उसकी गति धीरे धीरे मंद हो जाती है। एक लटकता हुआ लंगर यदि हिला दिया जाय तो बराबर एक चाल से अनंतकाल तक चलता रहे, यदि चारो तरफ फैली हुई वायु का अवरोध न हो और जिस जगह वह लटका है वहाँ रगड़ न लगे। इस अवरोध और रगड़ के कारण लंगर में हिलने की जो व्यक्त गतिशक्ति होती है वह ताप के रूप में होकर निकल जाती है। हमें उस लंगर को फिर चलाने के लिए कमानी आदि के द्वारा फिर से गतिशक्ति पहुँचानी पड़ती है। अस्तु हम ऐसी कोई कल नहीं बना सकते जो आप से आप यह गतिशक्ति पहुँचाती रहे और बराबर चलती रहे; ऐसी कल बनाना असंभव है जो अनंत काल तक चलती रहे कभी बंद न हो[1]।

पर विश्व या जगत् की गति ऐसी नहीं है, वह नित्य है। विश्व अपार और अनंत है। जिस अनंत द्रव्य से वह व्याप्त है उसकी भावना या प्रत्यय को ही हम 'देश' या 'दिक्' कहते हैं। उसकी नित्य गति की जो भावना हमारे चित्त में होती है उसे हम 'काल' कहते हैं। इस नित्यगति की विषय रूप में जो अभिव्यक्ति होती है वही विकासकल्प है। अनुभूति के ये दोनों रूप—स्वानुभूति अर्थात्

१. रेडियम की सहायता से अब ऐसी कल बनाई जा सकती है जो कई सौ वर्ष तक बराबर आपसे आप चलती रहे। कुछ घड़ियाँ ऐसी बनाई भी गई हैं। रेडियम एक ऐसा द्रव्य है जिसे हम ज्योतिःस्वरूप या गतिशक्तिरूप कहें तो विशेष अत्युक्ति नहीं।

चित्त को अपने ही संस्कार या भावना का अनुभव और बाह्यानुभूति अर्थात् बाह्य विषय रूप में अनुभव, जगत् की अनंतता और नित्यता का आभास देते हैं। यह जगत् सदा से चलती हुई और सदा चलती रहनेवाली कल है। इस अनंत और नित्य क्रियावान् जगद्रूप यंत्र की नित्य गति बनी रहती है क्योंकि उसमें अवरोध से होनेवाली कमी की पूर्ति गतिशक्ति की अक्षय समष्टि से हो जाती है और विश्व में व्यक्त और अव्यक्त गतिशक्ति का अनंत योग सदा वही रहता है। गतिशक्ति की अक्षरता का जो नियम है उससे जिस प्रकार समष्टि विश्व की नित्यगतिशक्ति सिद्ध होती है उसी प्रकार उसके किसी खंडव्यापार की नित्यगति असंभव भी सिद्ध होती है। यह नित्यगति समष्टि के संबंध में कही जा सकती है, किसी खंड या व्यष्टि के संबंध में नहीं। अस्तु शक्तिलय का सिद्धांत, जिसके द्वारा समस्त जगत् या विश्व का प्रलय कुछ वैज्ञानिकों ने कहा है, कभी माना नहीं जा सकता।

भौतिक विज्ञान में तापसंबंधी सिद्धांत के प्रवर्तक क्लाशियस सन् १८५० ने विश्वव्यापिनी गतिशक्ति को दो प्रकार की बतलाया— एक तो वह जो कार्य रूप में परिणत हो सकती है, जैसे ऊँचे परिमाण का ताप जिससे भौतिक पिंडविधान, तथा विद्युत् और रासायनिक व्यापार होते हैं और दूसरी वह जो कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकती। क्लाशियस के अनुसार यह दूसरे प्रकार की गतिशक्ति वह है जो एक बार ताप के रूप में होकर ठंढे पदार्थों में मिल जाती है। यह गतिशक्ति सब दिन के लिए लयप्राप्त हो जाती है, फिर इससे जगत् का कोई कार्य नहीं हो सकता। इसी को क्लाशियस ने शक्तिलय कहा है। यह शक्तिलय बराबर बढ़ता जाता है। इस प्रकार जगत् की जो विधायिनी और कार्यकारिणी गतिशक्ति है वह बराबर ताप के रूप में परिणत होकर लय को प्राप्त होती जाती है और फिर कार्यकारिणी गतिशक्ति के

रूप में परिणत नहीं हो सकती। अतः जगत् में ताप का जो मात्राभेद है वह न रह जायगा। ताप बिलकुल अंतर्लीन होकर एक अखिल और अचल द्रव्य में समान रूप से व्याप्त हो जायगा। इस साम्यावस्था के कारण जगत् की सब प्रकार की गति बंद हो जायगी, जीवजंतु कुछ भी न रह जायँगे। शक्तिलय के इस प्रकार परमावस्था को पहुँचने पर महाप्रलय या समस्त विश्व का अंत हो जायगा।

शक्तिलय का यह सिद्धांत यदि ठीक माना जाय तो जिस प्रकार जगत् का अंत होगा उसी प्रकार उसका आदि भी मानना ही पड़ेगा, जिसमें शक्तिलय आरंभावस्था में होगा और ताप का मात्राभेद अपनी पूरी हद पर रहेगा। पर ये दोनों बातें द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धांत के विरुद्ध हैं। जगत् का न कोई आदि है, न अंत। समष्टि रूप में विश्व या जगत् शाश्वत और नित्य गतिवान् है। उसमें व्यक्त गतिशक्ति निहित और निहित गतिशक्ति व्यक्त के रूप में बराबर परिणत होती रहती है। दोनों शक्तियों का योग विश्व में सदा वही रहता है।

शक्तिलय की बात विश्व के खंडव्यापारों के संबंध में ही कही जा सकती है, विश्वसमष्टि के संबंध में नहीं। अलग अलग जो विधान होते हैं उनमें अलबत्त ऐसा होता है कि जो शक्ति ताप के रूप में अंतर्लीन हो जाती है वह फिर क्रिया रूप में नहीं परिणत की जा सकती; जैसे, एंजिन में ताप क्रिया रूप में तभी परिणत होता है जब वह गरम पदार्थ भाप से निकल कर ठंडे पदार्थ जल में जाता है। इस प्रकार गए हुए ताप को हम फिर क्रियारूप में नहीं ला सकते, उससे फिर काम नहीं ले सकते। पर अखिल विश्वविधान की व्यवस्था दूसरी है उसमें लयप्राप्त गतिशक्ति फिर कार्यरूप में परिणत होती है। जब लोकपिंड वेग से टकरा कर चूर चूर हो जाते हैं तब प्रचुर मात्रा में ताप छूटता है जिससे भ्रमण करते हुए उल्कासमूहों को और उनसे

लोकपिंडों की फिर से उत्पत्ति होती है। यह भवचक्र बराबर चलता ही रहता है।

२. पृथ्वी की उत्पत्ति

जिस पृथ्वी के निर्माण का संक्षिप्त वृत्तांत मैं देना चाहता हूँ वह जगत् का एक अत्यंत क्षुद्र अंश है। पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के संबंध में भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ, अनेक प्रकार के प्रवाद बहुत दिनों से चले आते थे। इस विषय की वैज्ञानिक रीति से छानबीन सन् १८२२ से आरंभ हुई। प्रत्यक्ष बातों के आधार पर पृथ्वी के क्रमशः वर्तमान रूप में आने के इतिहास का पता लगाया गया। उसकी अलग अलग तहों की परीक्षा की गई और उनके निर्माण के कारण और काल आदि निश्चित किए गए। इस प्रकार भूगर्भशास्त्र की नींव पड़ी।

सूर्य से ग्रहपिंडों के निकल निकल कर अलग होने के पहले एक बड़ा भारी गोल ज्योतिष्कनीहारिका पिंड था जो चक्र के समान अत्यंत वेग से घूमता था। जब यह पिंड क्रमशः जमने लगा तब केंद्ररूप ज्वाला का एक घूमता गोला मध्य में हो गया और किनारे उसी प्रकार घूमते हुए ज्वलंत नीहारिकारूप कटिबंध या छल्ले रह गए। ये छल्ले भी क्रमशः जम कर घने पिंड के रूप में हो गए और स्वतंत्र रूप से अपने अपने अक्षों पर फिरते हुए उस मध्यवर्ती ज्वलंत गोले के चारों ओर परिक्रमा करने लगे। मध्यवर्ती ज्वलंत गोला हमारा सूर्य है और उसकी परिक्रमा करते हुए पिंड ग्रह हैं। इन्हीं ग्रहों में से हमारी यह पृथ्वी है। पहले यह भी ज्वलंत गोले के रूप में थी पीछे ताप के निकलने से ऊपरी तह ठंढी होकर पतले ठोस छिलके या पपड़ी के रूप में हो गई। भूतल जब कुछ और ठंढा पड़ा तब वह भाप जो उसे चारो ओर से आच्छादित किए थी, जमकर जल के रूप में हो गई। इस प्रकार पृथ्वी पर जल का आविर्भाव हुआ जो आगे चल-

कर जीवोत्पत्ति का आधार हुआ। जल ही में जीवों की उत्पत्ति हुई। जल के बिना जीवों की उत्पत्ति नहीं हो सकती[1]। भूतल पर जल का प्रादुर्भाव सोचिए तो कब हुआ होगा। कम से कम दस करोड़ वर्ष हुए होंगे।

३. जीव की उत्पत्ति

इस भूलोक में जीवों का प्रादुर्भाव विकास कल्प की तीसरी अवस्था है। किस प्रकार पृथ्वी पर भिन्न भिन्न रूप के जीव हुए यह एक बड़ा दुरूह प्रश्न समझा जाता था। इसका ठीक उत्तर आज से सौ वर्ष पहले कहीं से नहीं मिलता था। पर आधुनिक जीवविज्ञान और जात्यंतरपरिणाम या रूपांतर परंपरा के सिद्धांत द्वारा इस प्रश्न का उत्तर अब सहज हो गया। जीवधारियों के बहुत से व्यापारों की व्याख्या अब भौतिक नियमों के अनुसार हो गई है। यह दिखला दिया गया है कि चेतन प्राणियों की गतिविधि भी उन्हीं नियमों के अनुसार होती है जिन नियमों के अनुसार जड़ पदार्थों की। इसका मार्ग पहलेपहल १८०९ में फरासीसी वैज्ञानिक लामार्क ने दिखलाया। उसने बतलाया कि आजकल जो असंख्य प्रकार के पेड़पौधे और जीव दिखाई पड़ते हैं वे सब एक मूलरूप से क्रमशः रूपांतरित होते हुए अपने वर्तमान रूपों को प्राप्त हुए हैं। यह रूपांतर स्थितिपरिवर्तन के अनुसार होता आया है। जीवोत्पति के सिद्धांत में जो कुछ कसर थी वह डारविन ने अपने प्राकृतिक ग्रहणसिद्धांत द्वारा पूरी कर दी। यह विषय पांचवें प्रकरण में आ चुका है इससे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

४. मनुष्य की उत्पत्ति

विकास कल्प की चौथी अवस्था वह है जिसमें मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ। सन् १८०९ में ही लामार्क ने इस बात का आभास दिया था

१. जल का एक नाम जीवन भी है।

कि मनुष्य का विकास प्राकृतिक विधान परंपरा के अनुसार बनमानुसों से ही मानना पड़ता है। इसके पीछे हक्सले ने इस सिद्धांत का समर्थन अंगविच्छेद शास्त्र, गर्भविज्ञान और भूगर्भस्थ पंजरपरीक्षा द्वारा किया। अंत में डारविन ने सन् १८७१ में अपने 'मनुष्य की उत्पत्ति' नामक ग्रंथ में इसे अनेक प्रकार से सिद्ध कर दिखाया। मैंने भी १८६६ में विविध जंतुओं के अंगविधान पर जो पुस्तक लिखी थी उसमें विकास सिद्धांत पर एक प्रकरण दिया था। सन् १८७४ में अपने मानवोत्पत्ति नामक ग्रंथ में मैंने पहलेपहल मूल अर्थात् एक घटक अणुजीव मोनरा से लेकर मनुष्य पर्यंत उत्पत्तिपरंपरा का क्रम मिलाया। मैंने दिखलाया कि किस प्रकार एक मूल अणुजीव से अनेक प्रकार के जीव क्रमशः उत्पन्न होते गए हैं और मनुष्य का भी इसी परंपरा के अनुसार विकास हुआ है। अस्तु, मनुष्य का भी सबसे आदिम मूल पूर्वज मोनरा के ऐसा कोई सूक्ष्म अणुजीव रहा होगा।

———

चौदहवाँ प्रकरण

प्रकृति की अद्वैत सत्ता

परमतत्व के नियम द्वारा सिद्ध होनेवाली सबसे बड़ी बात यह है कि एक प्रकार की प्राकृतिक शक्ति परिणाम द्वारा दूसरे प्रकार की प्राकृतिक शक्ति का रूप धारण कर सकती है। शब्द और ताप, प्रकाश और विद्युत आदि शक्तियाँ एक दूसरे के रूप में परिवर्तित की जा सकती हैं। वे एक ही मूलशक्ति के भिन्न भिन्न रूप मात्र हैं। इस प्रकार सब प्राकृतिक शक्तियों की मौलिक एकता या अद्वैतता सिद्ध होती है। यह सिद्धांत भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र में, जहाँ तक उनका संबंध जड़ पदार्थों से है, सर्वस्वीकृत है।

पर सजीव सृष्टि के संबंध में यह बात नहीं है। शरीर के बहुत से व्यापारों का तो भौतिक और रासायनिक शक्ति के द्वारा, प्रकाश और विद्युत् के प्रभाव से, होना प्रत्यक्षरूप से बतलाया जा सकता है। ये व्यापार भौतिक और रासायनिक कारणों से होते हैं, इसमें किसी को कोई संदेह नहीं। पर कुछ व्यापार ऐसे हैं, विशेषकर मनोव्यापार और चेतना, जिनके यदि भौतिक और रासायनिक कारण बतलाए जाते हैं तो लोग विरोध करते हैं। विरोध भी ऐसा वैसा नहीं, बड़ा गहरा। पर आधुनिक विकाससिद्धांत ने सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों कोटि के व्यापारों में जो भेद प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है। अब यह निश्चित हो गया है कि शरीर के समस्त व्यापार क्या चलना फिरना, क्या सोचना विचारना, उसी प्रकार भौतिक नियमों के वशवर्ती हैं जिस प्रकार जड़ पदार्थों के व्यापार।

इस प्रकार प्रकृति की अद्वैतता सिद्ध हो गई है और द्वैतभाव का खंडन हो गया है। 'जगत् की मूल अद्वैतता', जड़ सृष्टि और चेतन सृष्टि की वास्तविक अभिन्नता, उनके व्यापारों का द्रव्य और गतिशक्ति के विविध रूपों में अंतर्भाव दिखाकर, अपने कई ग्रंथों में मैं सिद्ध कर चुका हूँ। अधिकांश वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार कर लिया है, पर कई तरफ से इसके विरोध का भी प्रयत्न किया गया है और सृष्टि के इन दोनों विभागों जड़ और चेतन में तत्वभेद सिद्ध करने की प्रवृत्ति दिखाई गई है। इस द्वैतभाव के बड़े भारी समर्थकों में से उद्भिद्वेत्ता रेन्के है जिसने कहा है कि 'जड़सृष्टि में तो केवल भौतिक और रासायनिक शक्तियों ही के द्वारा सब व्यापार होते हैं पर सजीव सृष्टि में चेतन शक्तियाँ कार्य करती हैं।' उनके अनुसार जड़ सृष्टि द्रव्य और भौतिक गतिशक्ति के नियमाधीन है पर चेतन सृष्टि नहीं। इस कथन पर विचार करने के पहले दूसरे दो सिद्धांतों का उल्लेख कर देना चाहिए जो वैज्ञानिकों ने सजीव सृष्टि के संबंध में स्थिर किए हैं। इनमें एक है अंगारक (कारबन) सिद्धांत और दूसरा है स्वतः उत्पत्ति का सिद्धांत।

शारीरिक रसायन ने अनेक विश्लेषणों के उपरांत ये पाँच बातें स्थिर की हैं—

१. सजीव पिंडों में वे ही मूल द्रव्य पाए जाते हैं जो जड़ सृष्टि में पाए जाते हैं।

२. मूलद्रव्यों के जिन मिश्रणों से सजीव पिंड बनते हैं और जिनके कारण अनेक प्रकार के सजीव व्यापार होते हैं वे शरीरधातुओं के कललरसरूप यौगिक द्रव्य हैं।

३. शरीरव्यापार एक भौतिक और रासायनिक क्रिया है जो इन कललधातुओं के द्रव्यों के गुण और परिमाण के आधार पर होती हैं।

४. अंगारक या कारबन ही वह मूल द्रव्य है जिसमें कुछ और

मूलद्रव्यों अम्लजन, उदजन, नत्रजन और गंधक आदि के विशेष मात्रा में मिश्रित होने से यौगिक कललधातुएँ बनती हैं।

५. अंगारक या कारबन से बनी हुई इन यौगिक कललधातुओं में और मूलद्रव्यों के रासायनिक संयोग से बने दूसरे यौगिक द्रव्यों से यह विशेषता होती है कि इनके अणुओं का मेल अत्यंत जटिल होता है और ये अस्थिर तथा मधु की तरह गाढ़े रस की होती हैं।

इन पाँच बातों के आधार पर अंगारक सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई जो इस प्रकार है—'अंगारक से अत्यंत जटिल मिश्रण के द्वारा बनी हुई इन यौगिक कललधातुओं के द्रवत्व और विश्लेषणशीलत्व आदि गुण ही उन विशिष्ट गतियों के एकमात्र कारण हैं जो जीवधारियों में देखी जाती हैं।' इस अंगारक सिद्धांत का कहीं कहीं विरोध तो किया गया पर इससे अधिक उपयुक्त कोई और सिद्धांत स्थिर नहीं हुआ। इधर मूल घटकों के जीवन व्यापार का जो अधिक अन्वीक्षण किया गया और कललरस की रासायनिक और भौतिक विशेषताओं का जो पता लगा, उससे इस सिद्धांत का समर्थन अच्छी तरह हुआ है।

अब स्वतःउत्पत्ति[1] को लीजिए। 'स्वतःउत्पति' से लोग कई अर्थ लेते हैं, इससे उसके संबंध में बहुत झगड़ा है। अतः इसका अर्थ विशिष्ट और स्पष्ट हो जाना चाहिए। स्वतः उत्पत्ति से अभिप्राय है जीवसृष्टि के आदि में जड़ अंगारक द्रव्यों से सजीव कललरस का प्रथम प्रादुर्भाव। जीवसृष्टि के इस आरंभ की दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं—प्रथम अंगारक घटित द्रव्यों से कललरस की योजना और द्वितीय कललरस का अलग अलग आदिम अणुजीवों में विभाग। इस प्रकार का स्वयं-

---

१. ए बायोजेनेसिस वह उत्पत्ति जो जनक पिंड से छूटकर पृथक् होनेवाले अंश की वृद्धि द्वारा जैसा कि समस्त प्राणियों में होता है, न हो, किंतु जड़ द्रव्य से आप से आप हो।

भूतवाद विकाससिद्धांत के अनुसार अवश्य मानना पड़ता है, और वैज्ञानिकों ने माना भी है। इसे न मानना जीवोत्पत्ति को 'ईश्वर की लीला' या 'खुदा की करामात' मानना है।

स्वतःउत्पति मान लेने पर फिर यह मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि सृष्टि की रचना किसी उद्देश्य रखनेवाले ने अपने उद्देश्य के अनुसार की है। जगत् या प्रकृति से भिन्न कोई उद्देश्य रखनेवाला है इस द्वैतभाव की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। डारविन ने अपने 'प्राकृतिक ग्रहण सिद्धांत' का एक ऐसा सूत्र हमारे हाथ में दे दिया है जिसके सहारे हम चेतन सृष्टि में जो अनेक प्रकार की क्रम-व्यवस्था दिखाई पड़ती है उसके भौतिक और प्राकृतिक हेतु निरूपित कर सकते हैं। अब किसी उद्देश्य रखनेवाली अप्राकृतिक शक्ति को मानने की जरूरत बाकी नहीं है। फिर भी कुछ लोग उसे अब तक मानते चले जाते हैं। तत्वज्ञवर कांट ने उपादान कारण और निमित्त कारण में जैसा गूढ़ भेद किया है वैसा और किसी दार्शनिक ने नहीं। इसी भेद के अनुसार उसने जगद्विधान की व्याख्या की है। जगत् के संपूर्ण विस्तारजाल की व्याख्या उसने न्यूटन के निर्द्धारित भौतिक नियमों के अनुसार की है। उसका ज्योतिष्क नीहारिका सिद्धांत न्यूटन के आकर्षण सिद्धांत पर स्थित है। फरासीसी ज्योतिषी लाप्लेस ने कांट के सिद्धांत की पुष्टि गणित की रीति से की। फ्रांस के बादशाह ने उससे पूछा कि आपने 'अपने सृष्टि निरूपण में सृष्टि के कर्ता और पालक ईश्वर को कहाँ स्थान दिया है'? उसने बड़ी सचाई के साथ जवाब दिया कि 'महाराज, अपने निरूपण में मुझे उसके मानने की जरूरत नहीं पड़ी है'। अतः जगदुत्पत्ति विज्ञान में भी और दूसरे जड़ पदार्थ संबंधी विज्ञानों के समान ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। उसकी भी वैज्ञानिक व्याख्या भौतिक नियमों के अनुसार हुई है।

आप से आप होनेवाले भौतिक विधानों के द्वारा ही हम प्राकृतिक व्यापारों के यथार्थ कारणों अर्थात् समवायिकारणों का निरूपण कर सकते हैं और यह बतला सकते हैं कि सब व्यापार द्रव्य की अचेतन और अंध प्रवृत्तियों के द्वारा होते हैं। कांट ने भी एक जगह साफ कहा है कि 'भूतों के इस स्वतःप्रेरित विधान की व्याख्या के बिना कोई विज्ञान विज्ञान नहीं कहा जा सकता। मनुष्य बुद्धि में व्यापारों के भौतिक हेतु निरूपित करने की अपार सामर्थ्य है।' पर पीछे जब कांट सजीव सृष्टि के जटिल व्यापारों की ओर आया तब उसने कह दिया कि भौतिक हेतु पर्याप्त नहीं है, इन व्यापारों की व्याख्या के लिए हमें निमित्त कारणों का सहारा लेना पड़ता है और यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि ये व्यापार किसी उद्देश्य रखनेवाली विधायिनी शक्ति की प्रेरणा से होते हैं। बुद्धि की भौतिक हेतुनिरूपण की शक्ति वहाँ परिमित हो जाती है। जीवधारियों के विविध व्यापारों की व्याख्या करने में कुछ दूर तक तो वह चलती है पर बहुत से व्यापार, विशेषतः मानसिक, ऐसे हैं जिनके लिए हमें निमित्त कारणों का आरोप करना पड़ता है; यह मानना पड़ता है कि वे व्यापार उद्देश्य रखनेवाली स्वतंत्र शक्ति के द्वारा होते हैं। किसी पदार्थ के प्राकृतिक उद्देश्य को समझने के लिए स्वयंभू भौतिक विधान को उद्दिष्ट विधान के अधीन मानना पड़ता है, कांट ने अंत में यही प्रतिपादन किया। जीवधारियों के विलक्षण कौशल के साथ बने हुए अवयवों और उनके व्यापारों की व्यवस्था को देख कांट को उनका 'शुद्ध और भौतिक हेतु निरूपित करना असंभव प्रतीत हुआ। उसने कहा कि शुद्ध भौतिक और प्राकृतिक सिद्धांतों के आधार पर ही किसी सजीव पिंड और उसकी अंतर्वृत्ति अर्थात् अंतःकरण व्यापार का वास्तविक तत्व समझाना तो दूर रहा, समाधानपूर्वक समझना भी कठिन है। किसी मनुष्य की यह आशा दुराशामात्र है कि प्राणिविज्ञान में भी

कोई न्यूटन पैदा होगा जो एक क्षुद्र तृण तक की उत्पत्ति को जड़ प्रकृति का ही कार्य सिद्ध कर देगा; जो यह प्रमाणित कर देगा कि भिन्न भिन्न जीवों की रचना एक सोचेसमझे हुए ढाँचे के अनुसार नहीं बल्कि आप से आप भौतिक नियमों के अनुसार होती है'। बतलाने की जरुरत नहीं कि कांट के सत्तर वर्ष पीछे डारविन के रूप में 'सजीवसृष्टि विज्ञान का न्यूटन' पैदा हुआ और उसने उस बात को कर दिखाया जिसे कांट ने असंभव बतलाया था।

जबसे न्यूटन ने आकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया और कांट, लाप्लेस आदि ने जगत् की योजना और उत्पत्ति को स्वतः क्रियमाण भूतों का विधान सिद्ध कर दिया तबसे जड़सृष्टि संबंधी समस्त विज्ञान शुद्ध भौतिक हो गए और उनमें ईश्वर वा भूतातीत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रह गई। ज्योतिष, जगदुत्पत्ति शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, पदार्थविज्ञान, रसायन इत्यादि सब में व्यापारों की व्याख्या नपेतुले भौतिक नियमों के अनुसार होती है। किसी व्यापार को ईश्वरकृत कह देने की चाल अब उनमें नहीं है। जड़सृष्टि में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह किसी की इच्छानुरूप रचना है ऐसा इन विज्ञानों में कहीं नहीं प्रतिपादित किया जाता। 'इच्छानुरूप रचना' का भाव ही जड़सृष्टिसंबंधी विज्ञान के क्षेत्र से उठ गया। अब कोई वैज्ञानिक इस बात की जिज्ञासा करने नहीं जाता कि अमुक व्यापार जो जड़ सृष्टि में देखा जाता है उसका 'उद्देश्य' क्या है। अब कोई वैज्ञानिक यह विश्वास नहीं रखता कि ईश्वर या किसी उद्देश्य रखनेवाली शक्ति ने कभी किसी समय सृष्टि का सारा ढाँचा सोचकर जगत् का विधान करनेवाले नियमों की सृष्टि की थी और उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार बराबर चला रहा है। इस प्रकार के पुरुषविशेष या कर्ता के स्थान पर अब 'प्रकृति के अखंड और शाश्वत नियम' ही माने जाते हैं।

पर सजीवसृष्टि को देखकर 'किसी की इच्छानुरूप रचना' का भ्रम अवश्य होता है। जीवधारियों के शरीर की बनावट और अंगव्यापारों को देखने से यह प्रतीत अवश्य होता है कि उनकी रचना सोचेविचारे हुए उद्देश्य के अनुसार हुई है। जंतुओं और पेड़पौधों के अवयव उसी प्रकार बैठाए हुए पाए जाते हैं जिस प्रकार किसी मनुष्य की बनाई हुई कलके पुरजे बैठाए हुए होते हैं। जीवित अवस्था में इन अवयवों के व्यापारों से विशेष उद्देश्यों की पूर्ति उसी प्रकार होती दिखाई पड़ती है जिस प्रकार कल के बनाए हुए पुरजों की चाल से। अतः ज्ञान की प्रारंभिक अवस्था में यही ख्याल हो सकता था कि सृष्टि का कोई पूर्ण ज्ञानमय कर्ता है जिसने प्रत्येक पेड़पौधे और जीवजंतु के ढाँचे को खूब सोचसमझ कर चतुराई के साथ बनाया है। पहले तो इस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता की भावना पुरुषविशेष के रूप में थी। जब तक वह निराकार समझा जाता था, आँखों से देखनेवाला, कानों से सुननेवाला, हाथों से करनेवाला माना जाता था, तब तक तो उसका स्वरूप थोड़ा बहुत ध्यान में आ भी जाता था। पर पीछे जब बुद्धिमान् बननेवाले लोगों ने उसको निराकार बताया और वे 'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै बिधि नाना' कहने लगे तब तो उसका ध्यान में आना ही असंभव हो गया। वैज्ञानिकों ने इधर यह चाल पकड़ी कि वे पुरुषविशेष के स्थान पर एक 'शक्तिविशेष' कहने लगे। शरीरव्यापारविज्ञान में बहुत से लोगों ने चेतन सर्वशक्तिमान् कर्ता के स्थान पर एक अचेतन विधायिनी शक्ति का आरोप किया जो भौतिक गतिशक्ति से भिन्न और परे होने पर भी उसे अपने अधीन कार्य में नियोजित करती है। शरीरव्यापारविज्ञान में यह 'शक्तिवाद' बहुत दिनों तक चलता रहा। सन् १८३३ में मूलर ने इस 'शक्तिवाद' की जड़ हिलाई। उसने अनेक प्रकार की परीक्षाओं द्वारा प्रमाणित किया कि मनुष्य तथा और जीवों के शरीर के अधिकतर व्यापार

भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार होते हैं और उनमें बहुत से तो ऐसे हैं जिनके विषय में यह बतलाया जा सकता है कि वे किस हिसाब से होते हैं। उसने रक्तसंचालन, पाचन और खाए हुए द्रव्य के शरीर की धातु में परिणत होने की प्रक्रिया से लेकर संवेदनसूत्रों जिनसे शरीर में संवेदना होती है, और पेशियों जिनसे अंगों में गति होती है, की गति तक को भौतिक और रासायनिक क्रियाविधान सिद्ध कर दिया। प्रजनन और मानसिक व्यापार अर्थात् विचार, चिंतन आदि ये ही दो बातें ऐसी रह गईं जिनका समाधान बिना कोई शक्तिविशेष माने शुद्ध भौतिक कारणों के द्वारा न हो सका। पर मूलर की मृत्यु के उपरांत ही डारविन का प्रसिद्ध ग्रंथ प्रकाशित हुआ जिसमें ग्रहणसिद्धांत के द्वारा यह दिखला दिया गया कि शरीरयोजना में जो व्यवस्थाक्रम दिखाई पड़ता है वह भौतिक कारणों ही से उत्पन्न होता है। डारविन ने अपने ग्रहणसिद्धांत द्वारा भिन्न भिन्न ढाँचे के जीवों के बनने का प्राकृतिक विधान और कारण समझा दिया। उसने प्रतिपादित किया कि 'जीवन प्रयत्न' ही ऐसी मूल वृत्ति है जिसके अधीन एक ढाँचे के शरीर से दूसरे ढाँचे के शरीर का क्रमशः विकास होता है। जिस स्थिति या अवस्था के बीच जीव रहते हैं वह परिवर्तनशील होती है। चारों ओर की स्थिति के बदलने से कुछ जीवों में कुछ अवयवों की विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं जो उस परिवर्तित स्थिति के उपयुक्त होती हैं। फिर उन जीवों की जो संतति होती है उसमें भी वे ही विशेषताएँ रहती हैं। इस प्रकार नए ढाँचे के जंतुओं का विकास होता है जो अपने पूर्वज जंतुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार एक सादे ढाँचे के मूल अणुजीव से भिन्न भिन्न ढाँचों के जीव क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। अतः क्रिया के अनुकूल ढाँचे बिना किसी उद्देश्य रखनेवाले के केवल भूतों की जड़क्रिया से किस प्रकार उत्पन्न हो सकते हैं, लोग जो यह पूछा करते थे उसका उत्तर मिल

गया। अब तो जीवों के अत्यंत जटिल और सूक्ष्म विधानों की व्याख्या 'व्यापार के अनुकूल शरीर की आपसे आप उत्पत्ति' मानकर की जाती है। अब भूतों से परे किसी उद्देष्टा या विधायिनी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है।

पर इधर कुछ दिनों से भूतातीत 'विधायिनी शक्ति' का भूत फिर कुछ लोगों के सिर पर सवार हुआ है। कई एक जीवविज्ञानियों ने उसकी चर्चा नए ढंग से चलाई है। उद्भिद्वेत्ता रेनके ने इस विषय में विशेष प्रयत्न किया है। उसने सजीव सृष्टि के विधान को प्रेरणा करनेवाली एक शक्ति का कार्य बतलाया है और पौराणिक (बाइबिल की) सृष्टिकथा आदि के मंडन की चेष्टा की है। दूसरे नए शक्तिवादियों ने एक पुरुषविशेष या कर्ता माना है जिसने सब जीवधारियों को उनके जीवनव्यापार के अनुकूल शरीर के ढाँचे सोचसमझकर प्रदान किए हैं। पर ऐसी बातों पर वैज्ञानिक लोग अब ध्यान नहीं देते।

जीवों के ढाँचों को किसी पूर्णज्ञानमय सर्वज्ञ कर्ता ने अपनी इच्छा के अनुसार सब बातों को सोच कर बनाया है; इसका कोई प्रमाण भिन्न भिन्न जीवों के शरीरनिरीक्षण से नहीं मिलता है। भिन्न भिन्न जीवों के शरीर का यदि निरीक्षण किया जाय तो प्रायः सब में कुछ न कुछ ऐसे फालतू अवयव मिलेंगे जिनका कोई काम नहीं और जिनसे कभी कभी बड़ी हानि पहुँच जाती है। बहुत से पौधों के फूलों में स्त्री और पुरुष केसरों के अतिरिक्त जिनसे गर्भाधान होता है, बहुत से ऐसे दल होते हैं जिनका कोई प्रयोजन नहीं। उड़नेवाले फतिंगों और पक्षियों में बहुत से ऐसे होते हैं जिनके पर बेकाम होते हैं, जो उड़ नहीं सकते। बहुत से ऐसे जंतु होते हैं जो अँधेरे में रहते हैं, जिन्हें आँखें तो होती हैं पर वे देखने के काम की नहीं होतीं, निरर्थक होती हैं। मनुष्य के शरीर में बहुत से अवयव ऐसे हैं जो निरर्थक हैं, जो

मूल पूर्वज अवस्था के अवशिष्ट चिह्न मात्र हैं। कान की मांसपेशियाँ, पुरुषों के स्तनचिह्न चुचुक आदि इसी प्रकार के अवयव हैं। बंद बड़ी आँत निरर्थक ही नहीं भयंकर भी है। इसकी सूजन से प्रतिवर्ष न जाने कितने मनुष्य मरते हैं[1]।

इन निरर्थक विधानों का आधुनिक शक्तिवाद कोई हेतु नहीं दे सकता, पर विकास द्वारा उत्पत्तिक्रिया का जो सिद्धांत है उसकी दृष्टि से विचार करने पर इनके रहने का कारण सहज में समझ में आ जाता है। विकास की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पता लग जाता है कि ये अवयव प्रयोग के अभाव से क्षीण और बेकाम हो गए हैं। जिस प्रकार हमारी इंद्रियाँ, पेशियाँ और नाड़ियाँ इत्यादि अधिक प्रयोग के द्वारा सबल और पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार व्यवहार में न आने या कम आने से वे विकल और बेकाम हो जाती हैं। प्रयोग के अभाव से अवयव क्षीण और बेकाम तो हो जाते हैं पर उनके चिह्न एकबारगी नहीं मिट जाते, वंशपरंपरा के नियमानुसार वे बहुत पीढ़ियों तक बने रहते हैं, धीरे धीरे बहुत काल बीतने पर वे लुप्त होते हैं। भिन्न भिन्न अवयवों के बीच भी स्थिति के लिए जो अंधप्रयत्न चलता रहता है उसी के अनुसार कुछ अवयवों की वृद्धि और कुछ का ह्रास आप से आप होता है। इसमें किसी उद्देश्य रखनेवाले का कोई और भीतरी मतलब नहीं है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीरविधान में कुछ अपूर्णता रहती है उसी प्रकार और जंतुओं और पौधों के शरीरविधान में भी पाई जाती है। बात यह है कि प्रकृति नित्य परिणामी है वह सदा परिणाम की अवस्था में रहती है, उसमें बराबर फेरफार होता रहता है। जहाँ तक हमारे इस भूग्रह की सजीव सृष्टि को देखने से पता लगता है, विकास की गति द्वारा सजीव पिंड सादे से जटिल,

---

१. इस बंद आँत को योरप में अब कुछ लोग निकलवा देते हैं और कष्ट तथा प्राणभय से बच जाते हैं।

क्षुद्र से उन्नत और अपूर्ण से पूर्ण होते रहते हैं। पूर्णताप्राप्ति का यह विधान प्राकृतिक ग्रहणवृत्ति द्वारा होता है, किसी सोचीसमझी हुई युक्ति के अनुसार नहीं। इसका प्रमाण यह है कि कोई सजीव पिंड सर्वांगपूर्ण नहीं रहता है। यदि किसी समय वह स्थिति के सर्वथा अनुकूल घटित होकर पूर्णता प्राप्त भी करता है तो भी यह पूर्णता बहुत काल तक नहीं चलती, क्योंकि स्थिति में बराबर परिवर्तन होता रहता है। सन् १८७६ में प्रसिद्ध जीवविज्ञानी बेयर ने उद्देश्यवाद का जो नए ढंग से समर्थन किया वह शक्तिवादियों और दैववादियों को बहुत भाया, उसकी बातों को लेकर अब तक लोग उछला कूदा करते हैं। यद्यपि बेयर अत्यंत उच्च कोटि का विज्ञानवेत्ता था पर ज्यों ज्यों वह बुड्ढा होने लगा उसके तात्विक विचार क्षीण होने लगे यहाँ तक कि अंत में वह शरीर और आत्मा, द्रव्य और शक्ति को परस्पर भिन्न माननेवाला पूरा द्वैतवादी हो गया। गर्भांड के वृद्धिक्रम का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसने उन उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तनों को दिखलाया जिनसे वह अंडे से रीढ़वाले जीव के रूप में आता है। उसने उन परिवर्तनों के कारणों और नियमों का भी पता लगाया और यह सिद्धांत स्थिर किया कि व्यक्ति के विकास का जो यह क्रम है वही व्यक्तित्व मात्र के विकास का क्रम है। इस सिद्धांत से उसने यह तत्व निकाला कि 'वह परमभाव जिसके अनुसार अनेक रूपों में जंतुओं का विकास होता है वही है जिसके अनुसार अंतरिक्ष के विकीर्ण खंड लोकपिंडों के रूप में बने और सौरब्रह्मांड का विधान हुआ। वह परमभाव ही जीवन है। विविध प्रकार के जीव ही वे वर्ण और शब्द हैं जिनमें वह परमभाव व्यक्त होता है। बेयर का यह उद्देश्यरूप परमभाव प्लेटो[1] और अरस्तू के 'नित्यभाव' की पुनरुक्ति मात्र है।

१. प्लेटो या अफलातून ईसा से ३०० वर्ष पहले यूनान में हुआ है। उसने कहा है कि समस्त जगत् एक परमभाव या संविद् 'आइडिया' के अनुसार चल

बतलाने की आवश्यकता नहीं कि बेयर ने सृष्टि के उत्पत्तिक्रम के एक ही अंग पर दृष्टि डाली थी, उसने गर्भ से लेकर एक एक जीव के उत्पत्तिक्रम का ही विचार किया था। इसी क्रम से जीवों की भिन्न भिन्न योनियों और जातियों की भी उत्पत्ति हुई है, यह बात उसे नहीं सूझी थी यद्यपि सन् १८०९ में ही लामार्क ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था। अतः जब सन् १८५९ में डारविन ने इसे सिद्धांतरूप में प्रकट किया और अपने ग्रहणसिद्धांत की स्थापना की तब बेयर इसे स्वीकार न कर सका। यह इसका विरोध ही करता रहा। जीवोत्पत्ति की यह बात बेयर की समझ में न आई कि गर्भावस्था से लेकर जिस क्रम से किसी एक जीव (व्यक्ति) का उत्तरोत्तर विकास होता है उसी क्रम से आदिम अणुजीवों से भिन्न भिन्न जीववर्गों का भी विकास हुआ है।

इतिहास के क्षेत्र में न्यायपूर्ण दैवी विधान दिखाने की चाल बहुत अधिक है। इतिहासलेखक किसी देश के निवासियों के अभ्युदय, पतन, वृद्धि, दुर्दशा इत्यादि को ईश्वर की न्यायव्यवस्था के अनुसार बतलाने का प्रयत्न करते हैं। वे यह दिखाना चाहते हैं कि एक जाति जो दूसरी जाति के ऊपर विजयी होकर शासन करती है उसमें पूर्ण-ज्ञानमय ईश्वर का कुछ परम उद्देश्य रहता है। जड़ सृष्टि के संबंध में तो 'न्यायपूर्ण व्यवस्था' की बात नहीं उठती। अब रहा जीवविज्ञान,

---

रहा है। सामान्य प्रत्ययों को लेकर विचार करने से मनुष्य संवित या परमभाव तक पहुँच सकता है। संसार में बहुत से लोग वीर आदि हैं पर उन सब में जो वीरता आदि सामान्य धर्म हैं, जिनके द्वारा कौन कितना वीर है हम यह समझते हैं, वे ही वीरता के 'भाव' या वास्तव स्वरूप हैं, उन्हीं के नमूने पर सब वीर, उदार आदि बने हैं। वीरता, उदारता आदि के ये स्वरूप या 'भाव' केवल मनुष्यों के मन में ही हैं, ऐसा नहीं है। ये स्वयंभू और सनातन हैं, इनकी स्थिति किसी के अधीन या आश्रित नहीं है।

उसमें भी यदि हम मनुष्य को थोड़ी देर के लिये छोड़ दें तो कहीं इस प्रकार की व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती जो चैतन्य रूप ईश्वर की कृति कही जा सके। डारविन ने अपने प्राकृतिक ग्रहणसिद्धांत द्वारा यह अच्छी तरह दिखा दिया है कि जंतुओं और पौधों की शरीररचना और जीवनवृत्ति में जो व्यवस्थित विधान दिखाई पड़ता है वह भौतिक नियमों के अनुसार उत्पन्न हुआ है, किसी पहले से सोचीसमझी हुई युक्ति के अनुसार नहीं। उसने यह भी सिद्ध कर दिया है कि 'जीवन-प्रयत्न' ही वह प्रबल प्राकृतिक शक्ति है जिसके वशवर्ती होकर भिन्न भिन्न जीवों का विकास और स्थितिविधान हुआ है। 'जीवनप्रयत्न' का अर्थ यह है कि जीवों के बीच स्थिति के लिये जो घोर समर चलता रहता है उसमें वे ही जीव विजयी होते या रह जाते हैं जो सब से अधिक योग्य या श्रेष्ठ होते हैं। सबसे अधिक योग्य या श्रेष्ठ वे ही हैं जो सबसे अधिक बलवान होते हैं। प्रकृति में यही नीति और यही न्याय है।

मनुष्य जातियों के इतिहास में भी हम कोई दूसरी बात नहीं पाते। उसमें भी हमें कहीं शील के उन्नत आदर्श का अथवा न्यायकारी, दयालु परमेश्वर का पता नहीं लगता। हम बराबर यह नहीं देखते कि जो जातियाँ बहुत ही शीलवान्, सीधीसादी रही हैं वे ही समृद्ध और विजयी हुई हैं। इतिहासों से बराबर यही पाया जाता है कि जिन जातियों ने जितना ही अधिक जीवनप्रयत्न किया है, स्थिति और उन्नति के लिये वे जितना ही अधिक अग्रसर हुई हैं, उतना ही उनके भाग्य का उदय हुआ है। उसी 'जीवनप्रयत्न' के द्वारा उनके भाग्य का भी निबटारा हुआ है जिसके अनुसार समस्त सजीव सृष्टि में स्थिति और विनाश का क्रम करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है।

भूगर्भवेत्ता सजीवसृष्टि के इतिहास को भूगर्भस्थ पंजरों की परीक्षा द्वारा तीन कल्पों में विभक्त करते हैं—प्रथम, द्वितीय और

तृतीय। उनकी गणना के अनुसार प्रथम कल्प लगभग ३४,०००,००० वर्षों का, द्वितीय कल्प ११,०००,००० वर्षों का और तृतीय कल्प ३०००,००० वर्षों का था। इन्हीं तीन कल्पों के बीच अस्थिवाले जीवों का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है। प्रथम कल्प में मछलियाँ हुईं जो रीढ़वाले जीवों में सबसे निम्नश्रेणी की हैं। द्वितीय कल्प में मछलियों से और उन्नत कछुए, मगर, घड़ियाल, छिपकली, साँप इत्यादि कूर्मज या सरीसृप हुए। तृतीय कल्प में दूध पिलानेवाले स्तन्य जीव हुए जो सब से उन्नत हैं। इन तीन प्रधान जीववर्गों के इतिहास को यदि ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि इनके अंतर्गत जीवों की जो अनेक शाखाएँ हुईं वे भी क्रमशः अधिक पूर्णता को पहुँचती गईं। उन्नति के इस क्रमागत विधान को क्या हम किसी चैतन्य का सोचा समझा हुआ कार्य, किसी सर्वशक्तिमान् कारीगर की रचना कह सकते हैं? कभी नहीं। ग्रहणसिद्धांत की सहायता से जब हम सृष्टि के बीच उस जीवनप्रयत्न को देखते हैं जिसके द्वारा सबल जीव निर्बलों को दबाकर या नष्ट करके अग्रसर हुए हैं और बराबर उन्नति करते गए हैं तब हम न्याय, नीति और शील की कोई व्यवस्था नहीं पाते। पाँच करोड़ वर्षों के बीच जंतुओं की न जाने कितनी सुंदर सुंदर जातियों का कुल नष्ट हो गया और उनके स्थान पर वे ही जीव रह गए जो सबल निकले। उन सबल जीवों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे न्याय और शील में बहुत बढ़ कर थे।

यही बात मनुष्य जातियों के संबंध में भी ठीक है। उनके इतिहासों में भी यही बात पाई जाती है। एशिया के पश्चिमी भागों में फारस, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान आदि देशों में इसलाम धर्म का जो प्रचार हुआ वह न्याय, नीति और शील के बल से नहीं। इन बातों का उन देशों में भी अभाव नहीं था। अत्याचार और क्रूरता के

बल से देखते देखते उन देशों से प्राचीन आर्यसभ्यता का, ज्ञान के संचित भंडार का, लोप हो गया। ईश्वर की न्याय नीति और दया कहीं देखने में न आई। जिन असभ्य, दरिद्र और मरभूखी जातियों को आवश्यकतावश अधिक जीवनप्रयत्न करना पड़ा वे अग्रसर हो गईं।

एक एक मनुष्य के जीवन को लेकर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करते हैं तो उसकी दशा भी मनुष्यजातियों की दशा के समान किसी चेतन शक्ति के अधीन नहीं जान पड़ती। उसकी गति का विधान भी भौतिक कार्यकारण परंपरा के अनुसार होता है। मनुष्य के जीवन में जो जो बातें होती हैं सब का संबंध कुछ पूर्ववर्ती कारणों से होता है। ये कारण प्रकृति की अंधपरंपरा के अनुसार ही खड़े होते रहते हैं, किसी सोची समझी हुई न्यायव्यवस्था के अनुसार नहीं। भावी प्रबल होती है, पर यह भावी कार्यकारण भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश किसी विधाता के हाथ में नहीं है। विधाता और दयानिधान परमेश्वर तभी अधिक सूझता है जब किसी की कोई कामना पूरी होती है, किसी अनर्थ से रक्षा होती है। जब कोई आपत्ति आती है, कोई प्यारा मनोरथ पूरा नहीं होता तब प्रायः मुँह से यही निकलता है—'ईश्वर न जाने कहाँ है?' इधर विज्ञान और व्यापार की जो अपूर्व वृद्धि हुई है उसके कारण प्रतिवर्ष अनेक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं, हजारों जानें रेल लड़ने से, पुल टूटने से, जहाज डूबने से जाती हैं। सहस्रों निरपराध मनुष्यों के प्राण युद्ध में लिए जाते हैं, इतने पर भी ईश्वर के न्याय और नीति की चर्चा बराबर चली चलती है।

जगत् के विकासक्रम का मनन करने से उसमें किसी विशेष उद्देश्य का पता नहीं लगता। प्रकृति के जितने व्यापार हैं सब कारण इकट्ठे होने से होते हैं। संसार में जितनी बातें होती हैं सब संयोग से,

किसी संकल्प के अनुसार नहीं। प्रकृति के गुण या अंधप्रवृत्ति के अनुसार जब जैसा संयोग उपस्थित होता है तब वैसी बात होती है। अतः विकासवादियों के सिद्धांत पर लोग यह आक्षेप करते हैं कि उसमें सब बातें 'संयोग' के अधीन बतलाई जाती हैं। शक्तिवादियों की समझ में यह नहीं आता कि सृष्टि का इतना बड़ा चरखा बिना किसी के सोचसमझ कर चलाए कैसे चल रहा है। इसी बात को लेकर दार्शनिकों के दो भिन्न दल हो गए हैं। द्वैतवादी दल अपनी भावना के अनुसार यही कहता जाता है कि संपूर्ण जगत् ज्ञानकृत व्यवस्था के अनुसार चल रहा है, छोटी से छोटी बात भी जो होती है उसका कोई न कोई उद्देश्य होता है, संयोग कोई चीज नहीं। हेतुवादियों[1] का दल कहता है कि जगत् का विकास एक भौतिक या प्राकृतिक विधान है जिसमें कोई उद्देश्य या ज्ञानकृत व्यवस्था नहीं है। सजीव सृष्टि में जो व्यवस्था दिखाई पड़ती है वह शरीरद्रव्य की प्रवृत्तियों के योग का परिणाम है। न तो और लोकपिंडों के विकास में न पृथ्वी के नाना तलों[2] के विकास में किसी चैतन्य की कोई करतूत प्रकट होती है; सब बातें संयोग पाकर होती हैं। 'संयोग' शब्द का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। 'संयोग' पहले से निश्चित अदृष्ट व्यवस्था का नाम नहीं है, कारणों के समाहार का नाम है। संयोग से कोई बात हो गई इसका यह मतलब नहीं कि बिना कारण कोई बात

---

१. राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति, प्रीति, परिमिति, पति हेतुवाद हठि हेरि हई है।
—तुलसी।

२. पुराणों में पृथ्वीतल के तल, वितल, सुतल, रसातल आदि सात भाग किए गए हैं।

हो गई। प्रकृति में जो कुछ व्यापार होता है सब का भौतिक कारण होता है। यदि कहीं जाने पर कोई किसी आपदा में पड़ता है तो लोग प्रायः कहते हैं कि 'संयोग उसे ले गया'। 'संयोग' नहीं ले गया, उसके जाने से ऐसा संयोग उपस्थित हुआ कि वह आपदा में पड़ गया। 'संयोग' का अर्थ है कई भिन्न भिन्न बातों का भिन्न भिन्न कारणों से एक साथ घटित होना।

———

पंद्रहवाँ प्रकरण

ईश्वर और जगत्

कई हजार वर्षों से मनुष्य जाति सृष्टि के समस्त व्यापारों का एक परम कारण मानती चली आ रही है जिसे ईश्वर कहते हैं। और सब सामान्य भावनाओं के समान ईश्वरसंबंधिनी भावना में भी बुद्धि के विकास के साथ साथ अनेक प्रकार के फेरफार होते आए हैं। सच पूछिए तो और किसी पदार्थ की भावना में समय समय पर इतने परिवर्तन नहीं हुए हैं। बात यह है कि बुद्धि और आन्वीक्षिकी विद्याओं के जितने मुख्य विषय हैं, कल्पना और मनोवेग के जितने आधार हैं, सबका इसके साथ गहरा लगाव है। ईश्वर के संबंध में जितनी प्रकार की भावनाएँ हैं उन सबको यदि परस्पर मिलान करके देखते हैं तो बहुत सी बातें प्रकट होती हैं। कई ऐसे उपयोगी ग्रंथ लिखे भी जा चुके हैं जिनमें इस ढंग की आलोचना की गई है। पर यहाँ अधिक स्थान नहीं है। अनेक रूपों में लोग ईश्वर की भावना करते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि वह ऐसा है, कुछ लोग कहते हैं ऐसा नहीं ऐसा है। मुख्य मत दो हैं—देववाद और ब्रह्मवाद या सर्वात्मवाद। देववाद द्वैतवादियों का है और ब्रह्मवाद अद्वैतवादियों का।

देववाद—देववादी ईश्वर को जगत् से भिन्न, उसका कर्ता और पालक मानते हैं। देववाद में ईश्वर एक 'पुरुषविशेष' माना गया है जो मनुष्यों ही के समान सोचता, विचारता और काम करता है। अंतर इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने और काम करने की कोई हद नहीं है। ईश्वर की यह नराकार भावना अनेक रूपों में पाई जाती है

असभ्य जातियों के भूतप्रेत से लेकर सभ्य जातियों के एक ईश्वर तक सब इसी के अंतर्गत हैं। देववाद चार प्रकार का पाया जाता है। बहुदेववाद, त्रिदेववाद, द्विदेववाद और एकदेववाद।

बहुदेववाद—बहुदेववादी बहुत से देवीदेवता मानते हैं और समझते हैं कि संसार में जो कुछ होता है सब उन्हीं के द्वारा। इसमें कोई जड़ प्रतीक लेते हैं कोई चेतन प्रतीक। जड़ प्रतीकवाले अग्नि, वायु, जल, पर्वत, नदी, मूर्ति इत्यादि निर्जीव पदार्थों में देवताओं का आरोप करते हैं। चेतन प्रतीकवाले मनुष्य, पशु आदि में देवताओं की भावना करते हैं। हिंदुओं, यूनानियों तथा और प्राचीन जातियों में ये दोनों प्रकार के भाव विशद रूपों में प्रकट किए गए हैं। ईसाई आदि एकेश्वरवादी कहलाने वालों में भी बहुदेवाराधन किसी न किसी रूप में पाया जाता है। कैथलिक ईसाई ईसा की माता मरियम तथा अनेक महात्माओं को मानते हैं और उनके अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं।

त्रिदेववाद—त्रिदेववाद भी कई रूपों में मिलता है। ईसाइयों का एक ईश्वर तीन रूपों में व्यक्त किया गया है- (१) परमपिता ईश्वर जो सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता है। (२) तत्पुत्र ईसामसीह और (३) पवित्रात्मा। यह पवित्र आत्मा क्या बला है इसे समझने समझाने के लिये हजारों वर्ष से ईसाई धर्माचार्य सिर मारते चले आ रहे हैं। इस गोरखधंधे का आधार है बाइबिल, पर उसमें कहीं यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि यह पवित्रात्मा है क्या और इसका पिता पुत्र से संबंध क्या है। बात यह है कि यह देवत्रयी और अधिक प्राचीन धर्मों से ली गई है। मूसा के पहले जो प्राचीन यहूदी धर्म बाबिलन के मगों की सूर्योपासना के आधार पर प्रचलित था, उसमें सृष्टिकर्ता इलू की तीन रूपों में भावना की गई थी। 'अलू' जो शून्यरूप माना जाता था, 'बेल' जो ब्रह्मा या जगत् की रचना

करनेवाला माना जाता था और 'आइ' जो दिव्य ज्योति या ज्ञानस्वरूप माना जाता था। प्राचीन हिंदू धर्म में भी ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह त्रिमूर्ति बहुत काल पहले मानी गई थी। प्राचीन धर्मों में यह तीन की संख्या विशेष रूप से ग्रहण की गई थी।

द्विदेववाद—युग्मदेववादियों के अनुसार जगत् का सारा व्यापार सत्व और तमस् इन्हीं दो देवताओं के आदेश पर चल रहा है। सात्विक देव अच्छी बातों का प्रवर्तक है और तामस देव बुरी बातों का। इन दोनों में बराबर विरोध चलता रहता है। संसार की अवस्था इसी नित्य विरोध का परिणाम है। दयामय सात्विक देवता या भगवान् सुख, शांति और सौंदर्य के मूल हैं। यदि उन्हीं की चलती तो यह संसार सुख और शांति का धाम होता, पर उनके कार्य में तामस देवता या शैतान बराबर बाधा डालता रहता है। संसार में जो अनेक प्रकार के क्लेश और अनर्थ हैं सब इसी शैतान की करतूत है। ईश्वर की इस दोरंगी भावना से संसार में जो कुछ हो रहा है उसका बहुत कुछ समाधान हो जाता है। अतः ईसा से कई हजार वर्ष पहले सभ्यताप्राप्त प्राचीन जातियों में यह युग्मदेववाद प्रचलित था। प्राचीन भारत में सुर और असुर परस्पर विरोधी माने जाते थे। प्राचीन मिस्र में रक्षक देवता ओसिरीज के कार्य का बाधक क्रूर देवता टाइफन माना जाता था। प्राचीन पारसियों के जंद धर्म का भी यही सिद्धांत था कि ज्योतिःस्वरूप अहुरमुज्द धर्म द्वारा संसार की रक्षा करता है और तमोमय अहमान अधर्म द्वारा उसके सुख और शांति का भंग करता है।

ईसाइयों की पौराणिक कथा में भी शैतान का दर्जा खुदा से किसी बात में कम नहीं है। एक स्वर्ग का राजा है तो दूसरा नरक का। एक में यदि भलाई की शक्ति है तो दूसरे में बुराई की। एक अच्छे कर्मों की प्रेरणा करता है तो दूसरा बुरे कर्म करने के लिये बहकाता है।

बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस शैतान की भावना बराबर पुरुष रूप में होती चली आई है। इधर थोड़े दिनों से अपने धर्म को युक्ति-संगत प्रकट करने के लिये लोग इसे रूपक कहकर उड़ाना चाहते हैं, पर इसी का जोड़ा जो जमीन और आसमान बनानेवाला खुदा है, उसका पल्ला कस कर पकड़े हुए हैं। पर ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि शैतान और खुदा की जोड़ी मानने से इस सुखदुःखात्मक जगत् की बातों का समाधान जितना सुगम है उतना और दूसरी कल्पना से नहीं।

एकदेववाद या एकेश्वरवाद—साधारणतः लोग एकेश्वरवाद को बहुत ठीक और युक्तिसंगत मत समझते हैं और उसे धर्म का एक प्रधान अंग मानते हैं। उनकी धारणा है कि सारे सभ्य देशों के लोग एकेश्वरवादी हैं, पर यह बात नहीं है। जितने मत एकेश्वरवादी बनकर दूसरे मतों की निंदा किया करते हैं उनकी यदि परीक्षा की जाय तो उनमें भी एक सर्वोपरि देव ईश्वर के अतिरिक्त बहुत से उपदेव, गण, दूत, पारिषद इत्यादि के रूप में पाए जाते हैं। क्या यहूदी, क्या ईसाई, क्या मुसलमान इन सब मतों में आसमानी खुदा के सिवाय पैगंबर, फरिश्ते, शैतान इत्यादि भी माने जाते हैं। मोटे हिसाब से इस पृथ्वी पर डेढ़ अरब के लगभग मनुष्य बसते हैं। इनमें ६० करोड़ तो हिंदू और बौद्ध हैं, ५० करोड़ ईसाई कहलाते हैं, १८ करोड़ के लगभग इसलाम मत के माननेवाले हैं, १० करोड़ यहूदी हैं, २० करोड़ दूसरे भिन्न भिन्न मत मानते हैं या भूतप्रेत आदि पूजते हैं, बाकी १० करोड़ ऐसे हैं जिनका कोई धर्म नहीं। इनमें जो एकेश्वरवादी[1] होने का डंका पीटते हैं ईश्वर के संबंध में उनको भावना स्पष्ट नहीं है।

१. एशिया के पश्चिमी भागों में प्रवर्त्तित ईसाई, यहूदी आदि पैगंबरी मत।

एकेश्वरवाद दो रूपों में पाया जाता है, प्राकृतिक और पौरुषेय। प्राकृतिक एकेश्वरवाद ईश्वरीय विभूति का आरोप अपरिमित तेज और शक्ति के प्राकृतिक अधिष्ठानों में करता है। कई हजार वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियों ने उस सूर्य की उपासना चलाई जो अपार शक्ति और तेज का अधिष्ठान है, जिस पर समस्त सजीव सृष्टि अवलंबित है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में सूर्योपासना से बढ़कर उपयुक्त ईश्वरोपासना की और कोई विधि नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक सिद्धांतों से उसका कोई विरोध नहीं पड़ता। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान और भूगोलोत्पत्ति शास्त्र-द्वारा यह निरूपित हो चुका है कि पृथ्वी सूर्य का ही एक खंड है जो उससे छूटकर अलग हुआ है और फिर उसी में जाकर मिल जायगा। आधुनिक शरीरव्यापार विज्ञान हमें यह बताता है कि सजीव सृष्टि का मूल तत्व कलल रस है और इस कलल रस की सृष्टि जल, अंगारक, अमोनिया आदि निर्जीव द्रव्यों के संयोगविशेष से होती है जो सूर्य की ज्योति के प्रभाव से ही होता है। इसी कललरस से आदि में रसात्मक अणुद्भिदों की सृष्टि हुई, फिर रसात्मक अणुजीवों की, जिनका पोषण उन अणुद्भिदों के द्वारा होता है। इसी जीवोत्पत्ति परंपरा के अनुसार अंत में मनुष्य की भी उत्पत्ति हुई है। सच पूछिए तो हमारे समस्त जीवन व्यापार सूर्य की ज्योति और ताप पर ही निर्भर हैं। अतः शुद्ध बुद्धि से यदि विवेचन किया जाय तो उन ईसाई, मुसलमान आदि एकेश्वरवादी मतों की उपासना की अपेक्षा जो ईश्वर की भावना पुरुष रूप में करते हैं, सूर्योपासना कहीं अधिक युक्तिसंगत है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसीसे हजारों वर्ष पूर्व हिंदू, पारसी, मग इत्यादि सूर्योपासक जातियाँ ज्ञान और सभ्यता की जिस सीमा तक पहुँची थीं उस सीमा तक दूसरी जातियाँ नहीं।

अब दूसरी भावना ईश्वर के विषय में यह है कि वह मनुष्य ही के समान सोचता, विचारता और कार्य करता

है। भेद इतना ही है कि उसके सोचने, विचारने और कार्य करने की कोई हद नहीं है। पुरुष या पुरुषोत्तम रूप में ईश्वर की इस भावना का सभ्यता के इतिहास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। पर सबसे विलक्षण और दुर्बोध रूप इस भावना को यहूदी, ईसाई और इसलाम इन तीन पैगंबरी मतों में प्राप्त हुआ है। ये तीनों मत परस्पर संबद्ध हैं और एशिया के पश्चिमी किनारे पर इबरानी अनार्य जातियों के कुछ भावोन्मत्त लोगों के द्वारा प्रवर्तित हुए हैं। इनमें प्राचीन यहूदी मत है जिससे ईसाई मत निकला। ईसाई मत के सिद्धांतों को लेकर ही इसलाम धर्म की स्थापना हुई। जिस प्रकार ईसाई मत की पौराणिक कथाएँ मूसा के यहूदी धर्म से ली गई हैं उसी प्रकार मुसलमान मत की कथाएँ दोनों पूर्ववर्त्ती मतों से संगृहीत हुई हैं। उक्त तीनों मत पहले पहले एकेश्वरवाद को लेकर खड़े हुए पर ज्यों ज्यों उनका प्रसार बढ़ता गया त्यों त्यों उनमें बहुदेववाद आता गया।

जिस एकदेववाद को मूसा ने ईसा से १६०० वर्ष पहले चलाया और जिसमें एकमात्र 'यह्वा' की उपासना मानी गई वह बहुदेववाद ही से निकला था। 'यह्वा' उन अनेक देवताओं में से एक का नामांतर है जिन्हें प्राचीन यहूदी पूजते थे। यह यह्वा आदि में स्वर्ग का देवता माना जाता था जो और देवताओं ही के समान कठोर और क्रूर था और पूजा न पाने पर कड़ा दंड देता था। इस यह्वा के अतिरिक्त और भी अनेक देवता थे जिन्हें प्राचीन यहूदी पूजते थे पर मूसा के पीछे इसे प्रधानता प्राप्त होती गई और सिद्धांत रूप से यह यहूदियों का एकमात्र देवता कहा जाने लगा। यद्यपि 'यह्वा' का यह वचन था कि 'मैं ही तेरा एकमात्र प्रभु और ईश्वर हूँ, मेरे सिवा और किसी देवता को न मानना' पर और बाकी देवताओं का संस्कार बहुत दिनों तक बना रहा।

मूसाई धर्म से निकले हुए ईसाई धर्म की भी यही दशा हुई। यद्यपि सिद्धांत रूप में ईसाई धर्म एकेश्वरवादी ही था पर व्यवहार में वह बहुदेववादी हो गया। एकेश्वरवाद का त्याग तो एक प्रकार से तभी हो गया जब पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की देवत्रयी मानी गई। पर इस देवत्रयी के अतिरिक्त ईसा की माता मरियम की उपासना इतनी प्रबल पड़ी कि वह स्वर्ग की अधीश्वरी देवी मानी गई। कैथलिक संप्रदाय के ईसाइयों के बीच स्वर्ग की इस अधीश्वरी ने इतनी प्रधानता प्राप्त की कि देवत्रयी भंग पड़ गई। यहीं तक नहीं, ईसाई भक्तों की भावुकता ने अनेक सन्तों और महात्माओं की मंडली बिठाकर स्वर्ग को और गुलजार कर दिया। पोप लोग इस मंडली को बराबर बढ़ाते ही गए। गाने बजानेवाले फरिश्तों का जमावड़ा तो वहाँ पहले ही से था। इस प्रकार स्वर्ग में खुदा का एक खासा दरबार लग गया और उस दरबार में 'ईसा के नायब' पोपों के द्वारा अर्जियाँ भी गुजरने लगीं।

ईसाई धर्म के तत्वों को जानकर मुहम्मद ने ईसा से ६०० वर्ष बाद अपना नया एकेश्वरवादी मत इसलाम के नाम से चलाया। ईसाइयों के संसर्ग से ही मुहम्मद ने अपने देश-वासी मूर्तिपूजक अरबों को तिरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखना सीखा और उनके बीच अपने ज्ञान का आतंक जमाया। उन्होंने ईसाई मत की मुख्य मुख्य बातों को तो ले लिया पर ईसा को परमेश्वर का पुत्र नहीं माना, मूसा के समान एक पैगंबर ही माना। देवत्रयी को भी उन्होंने अपने मत में स्थान नहीं दिया। मरियम की उपासना को उन्होंने मूर्तिपूजा ठहराया। सारांश यह कि अपने एकेश्वर-वाद को जहाँ तक विशुद्ध रखते बना उन्होंने रक्खा। पर उनका ईश्वर भी नरस्वरूप या देवता स्वरूप ही था। खुशामद सुनने और बदला लेने में वह मनुष्य के समान ही था। उसके यहाँ भी पूरी दरबारदारी होती थी।

भिन्न भिन्न मतों की ईश्वरसंबंधिनी जिन निर्दिष्ट भावनाओं का ऊपर विवेचन हुआ उन सबसे अधिक प्रचार मिश्र भावना का है जिसमें कई प्रकार की, कभी कभी परस्पर विरुद्ध भावनाओं का मेल रहता है। यद्यपि सिद्धांतरूप में इस प्रकार का मिश्रित मत कोई स्वतंत्र मत नहीं स्वीकार किया गया है पर व्यवहार में सब से अधिक चलन इसी का देखा जाता है। मनुष्यों का अधिकांश इसी को माननेवाला है। अधिकतर लोगों की ईश्वर के संबंध में जो भावना होती है वह कुछ अपने मत और संप्रदाय की भावना और कुछ दूसरे मतों और संप्रदायों की भावनाओं से मिलजुल कर बनी होती है। लड़कपन में ही अपने मत या संप्रदाय की जो भावना प्राप्त होती है उसमें आगे चल कर दूसरे मतों और संप्रदायों के साथ संसर्ग होने से कुछ फेरफार हो जाता है। शिक्षित मनुष्यों में दर्शन और विज्ञान के अध्ययन के प्रभाव से भी ईश्वरसंबंधिनी भावना में बहुत कुछ फेरफार और रूपांतर हो जाता है। इस प्रकार के परस्परविरुद्ध संस्कार मन में जम कर आजीवन बने रहते हैं। बात यह है कि लड़कपन में पुरानी कथा कहानियों का जो वंशपरंपरागत संस्कार होता है वह बड़ा प्रबल होता है, वह तो बना ही रहता है। पीछे शिक्षा तथा दूसरे मतों के परिचय द्वारा जो भाव प्राप्त होते हैं वे भी पुराने भावों के साथ जा मिलते हैं। इस प्रकार लोगों का अंतःकरण 'भानमती का पिटारा' हो जाता है जिसमें ईश्वरविषयक रंगबिरंग की परस्पर असंबद्ध और असंगत भावनाएँ भरी हुई रहती हैं।

ऊपर जितने प्रकार के देववादों (ईश्वरवादों) का जिक्र हुआ उन सबमें ईश्वर प्रकृति या भूतों से परे माना गया है। वह जगत् से भिन्न, बाह्य और स्वतंत्र तथा उसका कर्ता और नियंता कहा जाता है। उसकी भावना पुरुषविशेष या देवविशेष के रूप में ही हुई है। वह मनुष्यों ही के समान सोचता विचारता, अनुभव करता तथा प्रसन्न

और अप्रसन्न होता है। भेद इतना ही समझा गया है कि मनुष्य में सब बातें अपूर्ण रूप में होती हैं पर उसमें परम पूर्णता को प्राप्त रहती हैं। ईश्वर के विषय में ऐसी ही धारणा अधिकतर मनुष्यों की है—किसी की स्थूल किसी की सूक्ष्म। जिन मतों में ईश्वर की भावना सूक्ष्म रूप में की गई है उनमें स्थूल शरीर आदि का आरोप न कर ईश्वर को 'शुद्ध आत्मा' माना है। पर बिना शरीर की इस निराकार आत्मा के व्यापार भी ठीक उसी तरह के माने जाते हैं जिस तरह साकार पुरुषरूप ईश्वर के। शरीरियों के मस्तिष्क या अंतःकरण के जो व्यापार हैं वे सब उसमें आरोपित किए जाते हैं।

ब्रह्मवाद या सर्ववाद[1]

सर्ववाद कहता है कि ईश्वर और जगत् अभिन्न अर्थात् एक हैं। ईश्वर की यह भावना मूलप्रकृति या परमतत्व ही की भावना के अनुरूप है[2]। यह भावना उन सब भावनाओं के विरुद्ध पड़ती है जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। 'यह भी ठीक, वह भी ठीक' कहनेवाले बहुत से लोगों ने इन दोनों प्रकार की भावनाओं में जो विरोध है उसके परिहार का व्यर्थ प्रयास किया है। पर यह विरोध अपरिहार्य है। दोनों प्रकार

१. सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

२. हैकल के अद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के बीच सिद्धांतभेद है। ब्रह्मवाद चेतन समष्टि को ब्रह्म मानता है—उसका ब्रह्म चिन्मय और ज्ञानस्वरूप है। हैकल का परमतत्व प्रवृत्तिधर्मयुक्त होने पर भी जड़ है, चेतन का उसके साथ नित्य संबंध नहीं। उसके गुणविकास की एक अवस्था का नाम ही चेतना है, जिसका अधिष्ठान शरीरियों के अंतःकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं। भौतिक अंतःकरण ही द्रष्टा है। अतः सांख्य के प्रकृति पुरुष के द्वैत में से यदि हम पुरुष को निकाल केवल जड़ प्रकृति ही को रखें तो हैकल का अद्वैत मत निकलता है जिसे हम प्रकृतिवाद ही कह सकते हैं।

की भावनाओं में बड़ा अंतर है। ईश्वरवाद में ईश्वर प्रकृति से सर्वथा स्वतंत्र, भूतों से परे, और जगत् से बाह्य समझा जाता है पर सर्ववाद या ब्रह्मवाद में ब्रह्म जगत् में अंतर्व्यापी और ओतप्रोत भाव से शक्ति रूप में उसका संचालन करनेवाला माना जाता है। सर्ववाद की भावना ही वैज्ञानिकों के अनुकूल पड़ती है। परम तत्व की अचरता का जो वैज्ञानिक सिद्धांत है उसके साथ इसका मेल हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि सर्ववादियों का ब्रह्म अनंत विश्वविज्ञान ही का नामांतर है। यह सच है कि अब भी कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो इसे नहीं मानते और पुरुषाकार भावना के साथ इस जगद्विज्ञान समष्टिरूप सर्ववाद का सामंजस्य संभव समझते हैं पर उनका यह सब विचार व्यर्थ का वितंडा है।

सर्ववाद या ब्रह्मवाद ज्ञान की अत्यंत उन्नत अवस्था का सूचक है अतः पृथ्वी की प्राचीन सभ्य जातियों के बीच ही इसका उदय हुआ। प्राचीन भारतवासियों और चीनियों के बीच इसका बीजारोपण इसा से कई हजार वर्ष पहले हो चुका था। पीछे यूनान और रोम के तत्वज्ञानियों के बीच इसका प्रचार हुआ। यूनान में इस सिद्धांत को पूर्णरूप से अनाक्जिमेंडर ने व्यक्त किया। उसी ने अनंत विश्व की एकता की स्पष्ट व्याख्या की और जगत् के संपूर्ण व्यापारों का मूलाधार एक विभु, नित्य आदितत्व बतलाया। उसने लोकपिंडों की उत्पत्ति और लय के अखंड क्रम का भी आभास दिया। ईपिडाक्लीज आदि अन्य तत्वदर्शियों ने भी ईश्वर और जगत्, शरीर और आत्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन अपने ढंग पर किया। ईसाई धर्माचार्यों ने इस तत्व को दबाने की लाख अन्याय चेष्टायें कीं पर यह बिलकुल दबा नहीं। पोपोंके क्रूर अत्याचारों के समय में भी इस सत्य की घोषणा समय समय पर होती रही। सन् १६०० में इस सर्ववाद के समर्थन के अपराध में पोप की आज्ञा से ब्रूनो जीता जलाया गया।

योरप में ब्रह्मवाद या सर्ववाद की विशुद्ध और पूर्ण व्याख्या सन् १७०० में स्पिनोजा द्वारा हुई। उसने वस्तुसमष्टि का ऐसा लक्षण निरूपित किया जिसके अंतर्गत ईश्वर और जगत् दोनों आ गए[1]। इस तत्ववेत्ता ने अपने शुद्ध चिंतन के बल से जिस सिद्धांत की स्थापना की, पीछे परीक्षात्मक विज्ञान से भी उसका समर्थन हुआ। इसका अद्वैतवाद ही वैज्ञानिकों का तत्वाद्वैतवाद हुआ।

अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् का कर्ता और नियंता कोई ईश्वर या देवता नहीं। अनीश्वरवादियों के इस 'ईश्वरानपेक्ष विश्वविधान' का आधुनिक वैज्ञानिकों के तत्वाद्वैतवाद या सर्ववाद के साथ पूरा मेल हो जाता है। सच पूछिए तो दोनों एक ही हैं, केवल नाम का भेद है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने ठीक ही कहा है कि 'सर्ववाद प्रच्छन्न अनीश्वरवाद ही है। सर्ववाद ईश्वर और जगत् इस द्वैतभाव का खंडन करके यह प्रतिपादित करता है कि जगत् अपनी ही निहित शक्तियों के द्वारा परिचालित हो रहा है। वैज्ञानिक अद्वैतवादियों का यह कहना कि ईश्वर और जगत् एक ही है प्रच्छन्न रूप से ईश्वर को बिदा दे देना ही है।'

लोक में अनीश्वरवादी बहुत बुरे समझे जाते हैं। लोग मानते हैं

---

१. स्पिनोजा ने एक ही शुद्ध निरपेक्ष द्रव्य का प्रतिपादन किया है और निरपेक्षता को द्रव्य का लक्षण माना है। उसके अनुसार वस्तुतः एक ही द्रव्य है जो स्वयंभू, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है; क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न, किसी वस्तु से घिरा हुआ या किसी के साथ रहता तो बिना द्वितीय वस्तु के उसका बोध न होता और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयंभू अपरिच्छिन्न और अद्वितीय द्रव्य के नाम के विषय में कोई विवाद नहीं। सामान्यतः ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। पर तार्किकों और धार्मिकों ने इच्छा ज्ञान आदि विशिष्ट व्यक्तिविशेष को जैसा ईश्वर समझ रखा है, वैसा वह नहीं है। सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही ईश्वर है।

कि उनकी बहुत बुरी गति होगी। इसी से सब बातों को समझने बूझनेवाले लोग भी ऊपर से इस बात की चेष्टा में रहते हैं कि वे अनीश्वरवादी न समझे जायँ। सत्य के अनुसंधान में सच्चे हृदय से तत्पर अनीश्वरवादी वैज्ञानिक में लोग दुनिया भर की बुराई मानने के लिए तैयार रहते हैं पर घंटों पूजापाठ और टंटघंट करनेवाले को, चाहे वह कपट और व्यभिचार ही में डूबा रहता हो, लोग परम साधु और क्रियानिष्ठ कहते पाए जाते हैं। यह दुरवस्था तभी दूर होगी जब ज्ञान का प्रचार होगा और लोगों को तत्वदृष्टि प्राप्त होगी।

———

सोलहवाँ प्रकरण

ज्ञान और विश्वास

सत्य की खोज करना ही सच्चे विज्ञान का काम है। प्रत्येक विज्ञान इस बात का प्रयत्न करता है कि सत्य का ज्ञान प्राप्त हो। प्रकृति का ज्ञान ही हमारा वास्तव ज्ञान है। यह उन अंतराभासों से संघटित होता है जिनका वाह्यपदार्थों से बिंबप्रतिबिंब संबंध होता है। यह ठीक है कि हमारी बुद्धि इस जगत् की आभ्यंतर सत्ता या वास्तविक स्वरूप तक नहीं पहुँच सकती, पर विशुद्ध विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि ज्ञानेंद्रियों और मस्तिष्क की अविकृत क्रियाओं के द्वारा, वाह्य जगत् के जो अनुभव होते हैं वे सब मनुष्यों में समान होते हैं और अंतःकरण की अविकृत क्रियाओं के द्वारा, कुछ ऐसे अंतराभास उत्पन्न होते हैं जो सर्वत्र एक होते हैं। ऐसे अंतराभासों को हम 'सत्य' कहते हैं क्योंकि हमें इस बात का निश्चय रहता है कि वे वस्तुओं के ज्ञेय स्वरूप के ठीक ठीक प्रतिबिंब हैं।

सत्य का सारा ज्ञान दो विभिन्न, परस्परसंबद्ध, शरीरव्यापारों पर निर्भर है, वाह्यार्थ या विषय के इंद्रियानुभव पर जो इंद्रियों की क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है, और इंद्रियानुभवों की योजना द्वारा संघटित और स्वयं द्रष्टा या विषयी ही में उपस्थित अंतराभास पर। इंद्रियानुभव जिनके द्वारा होते हैं उन्हें वाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेंद्रियाँ कहते हैं और अंतराभासों को जो ग्रहण और संयोजित करते हैं उन्हें अंतःकरण कहते हैं। वाह्यकरण विज्ञानमयकोश के ऊपरी तल के अंश हैं और

अंतःकरण भीतरी केंद्रस्थान के। इसी जटिल मनोविज्ञानमय कोश के द्वारा समस्त मनोव्यापार होते हैं।

मनुष्य के इंद्रियव्यापार बनमानुसों के इंद्रियव्यापार के समुन्नत रूप हैं। जिस प्रकार बनमानुसी शरीर से क्रमशः उन्नत होते होते मानव शरीर का विकास हुआ है उसी प्रकार बनमानुसी इंद्रियव्यापारों से मनुष्य के इंद्रियव्यापारों का विकास हुआ है। किंपुरुष वर्ग जिसके अंतर्गत बंदर, बनमानुस और मनुष्य हैं, के सब प्राणियों की इंद्रियों की बनावट एक ही ढाँचे की होती है। जिन भौतिक और रासायनिक नियमों के अनुसार एक के इंद्रियव्यापार होते हैं उन्हींके अनुसार दूसरे के भी। जिस क्रम से और जिन अवस्थाओं में होते हुए एक के इंद्रियव्यापार गर्भावस्था से क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी क्रम से और उन्हीं अवस्थाओं में होते हुए दूसरे के भी। प्रारंभ में संपूर्ण त्वक् ही बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेंद्रियों का काम देता है। भ्रूण की ऊपरी कला (झिल्ली) के जो संवेदनात्मक घटक होते हैं वे ही ज्ञानेंद्रियों के मूल हैं। भिन्न भिन्न विषयों प्रकाश, शब्द, ताप आदि को विशेष रूप से ग्रहण करने के कारण वे मिलकर विशिष्ट इंद्रियों के रूप में हो जाते हैं। जिस विषय का जिन घटकों के साथ अधिक संयोग हुआ उसे ग्रहण करने ही के उपयुक्त वे हो गए। नेत्रपटल के शलाकाघटक, कानों के भीतर के श्रोत्रघटक, नाक के भीतर के घ्राणघटक, जिह्वा पर के रसघटक, सब के सब आरंभ में ऊपरी झिल्ली के घटक थे और उसपर सर्वत्र फैले थे। मनुष्य तथा और दूसरे उन्नत जीवों के भ्रूणवृद्धिक्रम को ध्यानपूर्वक देखने से इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। पहले कहा जा चुका है कि गर्भाधान के उपरांत किसी एक जीव के उत्तरोत्तर एक अवस्था से दूसरी अवस्था में होते हुए विकास का जो क्रम है, वही क्रम एक प्रकार के जीवों से दूसरे प्रकार के जीवों के उत्पन्न होने का भी है।

सामान्य कलाकोश या झिल्ली की थैली के रूप के जो क्षुद्र आदिम जीव थे जैसे पेट के केंचुए आदि, उनमें भिन्न भिन्न इंद्रियों का विभाग नहीं था। उनकी बाहरी झिल्ली में जो संवेदनग्राही घटकों की तह थी उन्हीं से सर्वत्र समानरूप में संवेदन व्यापार होता था। विकास क्रमानुसार उन क्षुद्र जीवों से ज्यों ज्यों उत्तरोत्तर उन्नत जीवों की उत्पत्ति होती गई त्यों त्यों उनके त्वक् के घटक इस प्रकार विभक्त होते गये कि कुछ केवल एक प्रकार का संवेदन ग्रहण करने लगे और कुछ दूसरे प्रकार का। कुछ प्रकाश को ग्रहण करने लगे, कुछ शब्द को और कुछ गंध को। इस प्रकार इन भिन्न भिन्न प्रकार के घटकों की योजना से उन्नत जीवों में भिन्न भिन्न प्रकार के संवेदनसूत्रों और ज्ञानेंद्रियों की उत्पत्ति हुई। एक प्रकार के संवेदनसूत्र से बाह्य पदार्थ के एक ही गुण का ग्रहण होता है, और का नहीं। आँख में जो संवेदनसूत्र हैं उनसे रूप ही का, कान में जो हैं उनसे शब्द ही का, नाक में जो हैं उनसे गंध ही का बोध होगा।

संवेदनसूत्रों की इस विशेषधर्मता से, उनके विशेष विशेष गुणों को ही ग्रहण करने की शक्ति रखने से, लोगों ने कई प्रकार के भ्रांत सिद्धांत निकाले। बहुतों ने यह कहना आरंभ किया कि मस्तिष्क या आत्मा को संवेदनसूत्र की विशेष अवस्था ही का बोध हो सकता है अतः उसकी इस क्रिया द्वारा बाह्यपदार्थ के अस्तित्व और वास्तव स्वरूप के विषय में कोई सिद्धांत नहीं स्थिर किया जा सकता। संशयवादियों ने बाह्य जगत् के होने तक में संदेह प्रकट किया और मायावादियों ने तो उसका होना अस्वीकार ही कर दिया।

इस प्रकार के मत भ्रम से उत्पन्न हुए हैं। सबसे पहले तो समझने की बात यह है कि भिन्न भिन्न संवेदनसूत्रों के जो 'विशेष धर्म' कहे जाते हैं वे उनके मूल गुण नहीं हैं बल्कि ऊपरी झिल्ली के घटकों के क्रमशः एक एक विषय में अधिकाधिक अभ्यस्त होने से प्राप्त

हुए हैं। आरंभ में ऊपरी झिल्ली के ये घटक भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करने के लिए अलग अलग वर्गों में विभक्त नहीं थे, सब में सब विषयों को अत्यंत अल्प परिमाण में ग्रहण करने की समान शक्ति थी। क्रमशः कुछ घटक एक विषय के ग्रहण करने में अभ्यस्त होते गए और कुछ दूसरे विषय के। कुछ घटक प्रकाशरश्मियों को ही ग्रहण करने के योग्य हो गए, कुछ शब्दतरंगों को, कुछ गंध के रासायनिक उत्तेजन को, इत्यादि। इस प्रकार कार्यविभाग हो जाने से विषयों को ग्रहण करने की शक्ति क्रमशः तीव्र होती गई और एक एक विषय को ग्रहण करनेवाले घटकों की अलग अलग योजना और स्थिति से ऊपरी झिल्ली के बनावट में भी विभेद पड़ते गए। प्राकृतिक ग्रहणप्रवृत्ति द्वारा ये विभेद उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करते गए और आँख, कान आदि भिन्न भिन्न इंद्रियों का प्रादुर्भाव हुआ।[1] इस प्रकार भिन्न भिन्न इंद्रियों के संवेदनसूत्र और उनके विशेष विशेष धर्म उत्तरोत्तर अभ्यास द्वारा

---

१. सांख्यशास्त्र में अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति का जो क्रम निर्धारित किया गया है उसमें एक ही मूल इंद्रिय से क्रमशः और इंद्रियों की उत्पत्ति नहीं मानी गई है, बल्कि अहंकार से पहले पाँचों सूक्ष्म इंद्रियाँ और फिर पाँच स्थूल इंद्रियाँ सब की सब एक साथ और एक दूसरे से स्वतंत्र उत्पन्न हुईं, ऐसा कहा गया है। सांख्य में जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, तन्मात्र रूप से अर्थात् परस्पर अभिश्लिष्ट और सूक्ष्म मूलरूप में एक साथ उत्पन्न माने गए हैं उसी प्रकार उनको ग्रहण करनेवाली पाँचों इंद्रियाँ भी। पर सृष्टितत्व के आधिभौतिक आचार्यों ने परीक्षा द्वारा यह निश्चित किया है कि आरंभ में त्वचा ही एक मूल इंद्रिय थी जिससे और इंद्रियाँ क्रमशः उत्पन्न हुई हैं, जैसे त्वचा पर प्रकाश का संयोग होते होते आँख उत्पन्न हुई। इस पर सांख्यवादी यह कह सकते हैं कि मूल प्रकृति में यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियों के उत्पन्न होने की शक्ति न हो तो क्षुद्र कीटों को त्वचा पर प्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे तो भी उन्हें

प्रादुर्भूत हुए हैं और प्रादुर्भूत होकर वंशपरंपरा के नियमानुसार पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर चले आ रहे हैं।

मनुष्यों के इंद्रियव्यापारों को और दूसरे रीढ़वाले जंतुओं के इंद्रियव्यापारों के साथ ध्यानपूर्वक मिलाने से कई बातें मालूम होती हैं। ज्ञान और भावुकता के सबसे बड़े कारण आँख और कान ही को ले लीजिए। और जंतुओं के आँख कान से रीढ़वाले जंतुओं के आँख कान की बनावट भी भिन्न और पेचीली होती है और गर्भ में उनकी वृद्धि भी विशेष प्रकार से होती है। सब मेरुदंड जीवों की इंद्रियों के ढाँचे और उनकी गर्भवृद्धि के क्रम को देखने से यही निश्चय होता है कि वे एक ही मूल जीव से उत्पन्न हुए हैं। मेरुदंड वर्ग के जीवों में भी कई प्रकार के ढाँचे देखने में आते हैं। यह विभिन्नता भिन्न भिन्न परिस्थिति में पड़ने और तदनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से जीवन निर्वाह करने के कारण उत्पन्न हुई है। परिस्थिति के अनुसार किसी को किसी इंद्रिय का अधिक उपयोग करना पड़ा और किसी का कम। इस प्रकार मेरुदंड वर्ग में भिन्न भिन्न आकार और प्रकार की इंद्रियों वाले भिन्न भिन्न जीव उत्पन्न हुए। मनुष्य, कुत्ते, बिल्ली, बैल, आदि के आँख कान की रचना और शक्ति में भेद दिखाई पड़ता है।

मनुष्य सबसे उन्नत प्राणी है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी इंद्रियाँ सबसे अधिक पूर्ण हैं। गीध की दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से कहीं अधिक तीव्र होती है। जितनी दूर की चीजें उसकी आखें देख सकती हैं उतनी दूर की चीजें मनुष्य की भी आँखें नहीं

आँखें नहीं उत्पन्न हो सकतीं। उत्पन्न होने की शक्ति तो आधिभौतिक तत्वज्ञ भी मानते हैं पर उन का कहना है कि यह शक्ति अस्पष्टरूप में थी विशिष्ट या पृथक् रूप में नहीं थी।

देख सकतीं। स्तन्यजंतुओं में शेर, भेड़िए आदि, हिंसक जंतुओं, खुरवाले जंतुओं और कुतरनेवाले जंतुओं, जैसे चूहों, गिलहरियों आदि की श्रवणशक्ति मनुष्य की श्रवणशक्ति से कहीं अधिक तीव्र होती है। उनके कानों के भीतर की कुंडली को देखने से ही इसका पता लग जाता है। कोकिल आदि पक्षियों की वाणी कोमल संगीत स्वर निकालने में मनुष्य की वाणी से श्रेष्ठ होती है। कुत्ते यदि मनुष्य की घ्राणशक्ति को अपनी घ्राणशक्ति से मिलावें तो उन्हें मनुष्यों पर दया आ सकती है। इसी प्रकार रसना, काम वेदना, स्पर्श आदि की शक्तियों के विषय में भी कह सकते हैं कि वे कुछ जंतुओं में जितनी तीव्र हैं उतनी मनुष्य में नहीं।

हम उन्हीं संवेदनों के विषय में कुछ कह सकते हैं जिनका हमें अपनी इंद्रियों के द्वारा अनुभव होता है। पर अंगविच्छेद परीक्षा द्वारा बहुत से जंतुओं में कुछ और ऐसी इंद्रियाँ पाई गई हैं जिनसे हम परिचित नहीं। मछलियों तथा कुछ और जलजंतुओं की त्वचा में कुछ ऐसे इंद्रियगोलक होते हैं जो विशेष प्रकार के संवेदनसूत्रों से संबद्ध होते हैं। मछली के दाहिने और बाएँ एक एक लंबी नली होती है जिससे और छोटी छोटी नलियाँ शाखा के रूप में निकली होती हैं। इन नलियों में एक विशेष प्रकार के संवेदन सूत्र होते हैं जो स्थलचारी जंतुओं में नहीं पाए जाते। इन संवेदन सूत्रों के बाहरी छोर पर अनुभवात्मक इंद्रियगोलक होते हैं। यह शरीर-व्यापी इंद्रिय शायद जल के दबाव तथा उसके और और गुणों के अनुभव के लिए होती है। कुछ जाति की मछलियों में कुछ और भी इंद्रियगोलक होते हैं जिनका क्या उपयोग है हम नहीं कह सकते।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के इंद्रियानुभव परिमित हैं। पहले तो जितनी इंद्रियाँ उसे प्राप्त हैं उनके द्वारा पदार्थों के सब गुणों

का अनुभव नहीं हो सकता। उन्हीं गुणों का अनुभव हो सकता है जिन्हें विषय रूप से ग्रहण करने के लिए इंद्रियाँ हैं। दूसरी बात यह है कि जिन गुणों का जो अनुभव हमें होता भी है वह किसी हद तक होता है। यह नहीं है कि हमारी आँखें सूक्ष्म अणुओं को देख सकती हैं या हमारे कान नाड़ियों के रक्तसंचार का शब्द सुन सकते हैं[1]। हमारी इंद्रियाँ अपूर्ण हैं। संघर्ष या आघात को जिस रूप में इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं उसी रूप में संवेदनसूत्र उन्हें मस्तिष्क या अंतःकरण तक पहुँचाते हैं।

हमारी इंद्रियाँ चाहे अपूर्ण हों पर उनके महत्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हमारे सारे ज्ञान विज्ञान का मूल इंद्रियबोध है। ज्ञान के प्रथम साधन इंद्रियाँ हैं। अंतःकरण जबतक काम के योग्य नहीं होता है तब तक इन्हीं इंद्रियों, बाह्यकरणों से ही हमारा काम चलता है; ये ही हमें बतलाती हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अतः जो लोग इंद्रियों के एकबारगी दमन या नाश का उपदेश दिया करते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। यदि कोई आदमी इसलिए अपनी आँखें निकलवा डाले कि वे एक बार बहुत बुरी चीजों पर पड़ गई थीं, अथवा इस डर से अपना हाथ कटा डाले कि वह 'पराये माल' पर न पड़े तो उसे लोग क्या कहेंगे? इंद्रियज ज्ञान के आधार पर ही सारे दर्शन विज्ञान प्रतिष्ठित हैं। इंद्रियों के बिना ज्ञान हो नहीं सकता।

पर इन अपूर्ण इंद्रियों के द्वारा बाह्यजगत् का जो परिज्ञान होता है उससे शिक्षितों और विचारवानों को संतोष नहीं हो सकता। वे इंद्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों को मस्तिष्क की संवेदन ग्रंथियों के भीतर अनुभवरूप में ग्रहण करते हैं और फिर अंतःकरण की ब्रह्मग्रंथि में अंतराभास के रूप में उनकी योजना करते हैं। अंत में इन अंतराभासों

---

१. जो अनाहत नाद सुनने लगते हैं उनकी बात दूसरी है।

की योजना से संबद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। पर बुद्धि की यह योजना शक्ति परिमित होती है। कल्पना शक्ति यदि बीच बीच में कुछ स्वरूपों का न्यास करके इन अंतराभासों को अच्छी तरह संयोजित न करे तो संबद्ध ज्ञान पूरा नहीं हो सकता। इस प्रकार अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियों के द्वारा खंडज्ञान के संयोजित और समन्वित हो जाने पर एक नये सामान्य स्वरूप का आभास होता है जिससे उपस्थित विषय का समाधान हो जाता है और हमारी कार्यकारण बुद्धि तुष्ट हो जाती है।

वह अंतराभास जिसकी उद्भावना ज्ञान की शृंखला पूरी करने के लिए अथवा निश्चयात्मक ज्ञान के अभाव में उसका स्थान ग्रहण करने के लिए की जाती है, 'विश्वास' कहलाता है। प्रतिदिन के व्यवहार में हमें इसका काम पड़ता है। जब हमें यह निश्चय नहीं होता है कि बात ऐसी ही है तब हम कहते हैं कि हमें विश्वास है कि बात ऐसी ही है। इस प्रकार का विश्वास विज्ञान तक में चलता है। दो बातों के बीच अमुक संबंध है इसका प्रत्यक्ष द्वारा निश्चय न होने पर भी हम यह अनुमान कर लेते या मान लेते हैं कि संबंध है। यदि यह संबंध कार्यकारण का हुआ तो इस प्रकार का मानना अभ्युपगम कहलाता है। विज्ञान में ऐसे ही अभ्युपगम ग्राह्य होते हैं जो मनुष्य की बुद्धि में आ सकते हैं और अनुभव के विरुद्ध नहीं पड़ते। भौतिक विज्ञान में ईथर की गति, रसायन शास्त्र में परमाणु और उनकी प्रवृत्ति, जीव-विज्ञान में सजीव कललरस का अयवात्मक होना इसी प्रकार के अभ्युपगम हैं। ईथर इतना सूक्ष्म है कि उसकी गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसी प्रकार रासायनिक मूल द्रव्यों के परमाणुओं और कललरस के अणुओं का निश्चय भी हम परीक्षा आदि द्वारा नहीं कर सकते।

बहुत सी संबद्ध बातों का समाधान एक सामान्य कारण मान कर

करना सिद्धांत निकालना कहा जाता है। चाहे अभ्युपगम हो, चाहे सिद्धांत, विश्वास दोनों में आवश्यक है। दोनों में कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। वस्तु संबंध ज्ञान के लिए अकेली बुद्धि ही को नहीं काम करना पड़ता। कुछ बातों का तो हमें प्रत्यक्ष होता है, कुछ का बुद्धि के द्वारा निश्चय होता है और कुछ का कल्पना के सहारे अनुमान होता है। इन तीनों के मेल से ही बड़े बड़े सिद्धांत निकलते हैं। दर्शन या विज्ञान में कोई ऐसा सिद्धांत नहीं जिसमें अनुमान से काम न लिया गया हो। शुद्ध प्रत्यक्ष ही के आश्रय पर यदि कोई किसी विज्ञान की स्थापना करना चाहे तो नहीं कर सकता। कार्यकारण संबंध ज्ञान केवल प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता।

ज्योतिष में आकर्षणसिद्धांत, भौतिकविज्ञान में गतिशक्ति का सिद्धांत, रसायन में परमाणुसिद्धांत, प्राणिविज्ञान में विकाससिद्धांत इत्यादि बड़े महत्व के सिद्धांत हैं। इनके द्वारा प्रायः समस्त प्राकृतिक व्यापारों का सामंजस्य भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बहुत सी बातों के लिये एक एक सामान्य कारण मान लेने से हो जाता है। इन सामान्य कारणों का स्वरूप आदि चाहे हम न भी स्थिर कर सकें पर इनका अस्तित्व मान लेने से हमारा काम चल जाता है। संशयवादी कह सकते हैं कि आकर्षण, परमाणु, विकास इत्यादि काम चलाने के लिए मानी हुई बातें हैं। इनका आधार 'शास्त्रीय विश्वास' है और कुछ नहीं। पर इस प्रकार के शास्त्रीय अनुमान या शास्त्रीय विश्वास के बिना किसी प्रकार का ज्ञान हो नहीं सकता।

यह तो हुआ 'शास्त्रीय विश्वास' जो अनुमान के आधार पर होता है। इससे सर्वथा भिन्न वह विश्वास होता है जो सांप्रदायिक या मतमतांतरसंबंधी कल्पित बातों में होता है। सांप्रदायिक विश्वास का अर्थ है अलौकिक और अप्राकृतिक बातों में विश्वास जिनकी संगति बुद्धि के अनुसार नहीं बैठ सकती। इस प्रकार का विश्वास व्यवस्थित

अनुमान[1] के उपरांत नहीं होता, यों ही बुद्धि को किनारे रख कर किया जाता है। अतः इसे एक प्रकार का अंधविश्वास ही कह सकते हैं। इसमें और शास्त्रीय विश्वास में बड़ा भारी भेद यह है कि यह ऐसी बातों के प्रति होता है जिनका प्रकृति में प्रायः अत्यंताभाव होता है, जो विज्ञान द्वारा निश्चित प्राकृतिक नियमों के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं। भिन्न भिन्न धर्मों में विश्वास रखनेवाले एक या कई भूतातीत शक्तियां मान कर अनेक प्रकार की कल्पित और असंभव बातें मानते हैं।

भूमंडल पर बसनेवाली मनुष्यजातियों की जो इधर खूब छानबीन की गई तो अनेक प्रकार के अंधविश्वासों का पता लगा जो भिन्न भिन्न असभ्य जातियों के बीच अब तक प्रचलित हैं। इन अंधविश्वासों का परस्पर मिलान करने पर उनमें विलक्षण सादृश्य पाया जाता है। कुछ विचार करने पर बहुतों का, और तत्वदृष्टि से विचार करने पर सबका, एक ही मूल निश्चित होता है। सब का मूल है कारणजिज्ञासा जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। मनुष्य प्रकृति के बहुत से व्यापारों को देखता है और उनका कारण जानना चाहता है। ऐसी बातों के कारणों को जानने की व्यग्रता सब से अधिक होती है जिनसे मन में किसी प्रकार का भय उत्पन्न होता है, जैसे बादल गरजना, बिजली चमकना, भूकंप आना, ग्रहण लगना इत्यादि। असभ्य से असभ्य, जंगली से जंगली जातियों में ऐसी बातों के कारण जानने की व्यग्रता पाई जाती है। और कहाँ तक कहें कुछ पशुओं तक में पाई जाती है। कुत्ते जब पूर्ण चंद्र को देख कर, फहराते हुए झंडे को देख

१. जो कल्पना प्रत्यक्ष के आधार पर और हेतुज्ञानपूर्वक की जाती है उसी को अनुमान कहते हैं। बुद्धि की सहयोगिता से या उसके आदेश पर प्रयोजनवश जो अंतराभास कल्पना उपस्थित करती है वही अनुमान है। इसीसे अनुमान एक प्रकार से बुद्धि ही का कार्य कहा जाता है। कल्पना को अव्यवस्थित क्रीड़ा को अनुमान नहीं कह सकते।

कर, शंख या घंटे का शब्द सुनकर भूँकने लगते हैं तब वे केवल अपना भय ही प्रकट नहीं करते बल्कि इन रहस्यपूर्ण व्यापारों के कारण जानने की व्यग्रता भी प्रकट करते हैं। प्राचीन जातियों के बीच धर्म का उदय ऐसे ही व्यापारों के कल्पित कारणों में विश्वास करते करते हुआ है। आगे की पीढ़ियों में ये विश्वास संस्कार के रूप में और अधिक बद्धमूल होते गए। इस प्रकार अंधविश्वास, पितरों की उपासना और अनेक प्रकार के मनोरागों से भिन्न भिन्न जातियों के बीच मत मतांतरों की स्थापना हुई।

आजकल की सभ्य जातियों के बीच जो धर्म विश्वास प्रचलित हैं वे असभ्य जंगली जातियों के अंधविश्वास से बहुत उन्नत समझे जाते हैं। ये जातियाँ समझती हैं कि सभ्यता द्वारा हमारे सब अंधविश्वास दूर हो गए हैं। पर यह बड़ी भारी भूल है। निष्पक्ष भाव से यदि मिलान करके देखा जाय तो धर्मविश्वास जैसा असभ्य जातियों का है वैसा ही सभ्य कहलानेवाली जातियों का भी। दोनों में केवल स्वरूप-भेद है, ऊपरी बातों में थोड़ा बहुत फर्क है। तत्वज्ञान की दृष्टि से सभ्य जातियों के परिमार्जित धर्मविश्वास भी वैसे ही असंगत और ऊटपटांग हैं जैसे जंगली जातियों के, जिन्हें वे अहंकारवश उपेक्षा की दृष्टि से देखती हैं। सभ्य देशों में जो मत प्रचलित हैं उनकी यदि समीक्षा की जाय तो वे सब अंधविश्वासपूर्ण ही पाए जायँगे। ईसाई मत को ही लीजिए। सृष्टि की ६ दिन में रचना, देवत्रयी अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्रात्मा, पवित्रात्मा द्वारा कुमारी मरियम का गर्भाधान, ईसा का मर कर जी उठना और सदेह स्वर्ग जाना इत्यादि वैसी ही बेसिर पैर की बातें हैं जैसी मुसलमान, हिंदू, बौद्ध आदि और मतों में पाई जाती हैं। इनमें से किसी एक मत पर जिसे पक्का विश्वास है वह अपने ही मत को एकमात्र सत्य और दूसरे मत को मिथ्या क्या घोर अधर्म समझता है। जितना ही जो संप्रदाय अपने

मत का अनन्य और दृढ़विश्वासी होगा उतने ही कट्टरपन और भीषणता के साथ वह और संप्रदायों के साथ झगड़ा करने के लिए तैयार रहेगा। संसार में धर्म के नाम पर जो इतने भीषण युद्ध हुए हैं वे सब इसी अनन्य विश्वास, इसी अंधविश्वास के कारण। शुद्ध बुद्धि की कसौटी पर तो सारे प्रचलित मत समान रूप से असंगत, मिथ्या और कपोलकल्पित हैं। युक्ति और विश्वास के सामने कोई ठहरने के योग्य नहीं।

इस अंधविश्वास ने मनुष्य जाति का कितना अपकार किया है। धर्मांधता के कारण कितना रक्तपात हुआ है, कितने प्राणियों का सुख धूल में मिल गया है। कितने आदमियों को घरबार छोड़ दूर देशों में भागना पड़ा है। राज्यशासन में जहाँ जहाँ धर्मांधता का प्रवेश रहा है वहाँ वहाँ घोर अनर्थ हुए हैं। बहुत से देशों में धर्मशिक्षा स्कूलों में अनिवार्य रखी गई है जिसका फल यह होता है कि बालकों के कोमल हृदयों पर ऐसे कुसंस्कार जम जाते हैं जो कभी नहीं जाते। उनका चित्त अंधविश्वास का अनुयायी हो जाता है, फिर उन्हें व्याहत और असंगत बातें अभ्यास के कारण नहीं खटकती। दुःख की बात है कि जिन देशों में सौभाग्यवश धर्मशिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था नहीं है वहाँ भी अब कुछ लोग गला फाड़ फाड़ कर उसकी आवश्यकता बतला रहे हैं। पर आधुनिक सभ्य राज्यों के लिए यह परम आवश्यक है कि सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए ऐसे विद्यालय खुलें जो सांप्रदायिक बंधनों से मुक्त हों।

सांप्रदायिक शिक्षा के लिए जो इतना आग्रह किया जाता है वह कई प्रकार के मनोरागों के कारण। इनमें सबसे प्रबल है परंपरा से चली आती हुई बातों पर 'आस्था'। जिन बातों को बापदादे मानते चले आए हैं उनसे एक प्रकार की आसक्ति हो जाती है-उनका मानना धर्म समझा जाता है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से जो विचार करेगा उसे

प्रकट हो जायगा कि पूर्वजों की परंपरा में बराबर एक ही प्रकार का विश्वास नहीं रहा है। एक हजार वर्ष पहले के बापदादे जिन बातों को मानते थे वे उनसे भिन्न थीं जिन्हें ढाई हजार वर्ष पूर्व के बापदादे मानते थे। इसी प्रकार तीन सौ वर्ष पहले जिन जिन बातों पर लोगों का विश्वास था उनका एक हजार वर्ष पहले कहीं नाम तक न था। लोगों के विश्वास और धारणा में देशकालानुसार बराबर परिवर्तन होता आया है। दूसरी बात यह है कि अपनी विद्या, बुद्धि और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिए धर्म का एक विशेष रूप ग्रहण कर लेता है जो और लोगों के तथा बापदादों के धर्म से कुछ निराला ही होता है।

सबसे प्रबल अंधविश्वास जिसका जनता पर अब तक बहुत कुछ प्रभाव है अध्यात्म वा आत्मविद्या है। दुःख और आश्चर्य की बात है कि करोड़ों शिक्षित पुरुष, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता तक इस घोर अंधविश्वास में निमग्न हैं। अध्यात्म संबंधी बहुत सी पत्रिकाएँ प्रकाशित होकर इस अंधविश्वास को चारों ओर दूर दूर तक फैलाती हैं। अच्छे खासे पढ़ेलिखे और प्रतिष्ठित लोग ऐसे चक्रों में संमिलित होते हैं जिनमें प्रेतात्माएँ आकर बोलती, लिखतीं और परलोक का हाल बताती हैं। अध्यात्मवादी प्रायः इस बात का गर्व प्रकट किया करते हैं कि उनके अंधविश्वासों का समर्थन बड़े बड़े विज्ञानविशारद करते हैं। वे अपने पक्ष की पुष्टि में ऐसे लोगों का नाम लेते हैं जैसे जरमनी के जोलनर और फेक्नर, इंगलैंड के वालेस और क्रुक्स। ऐसे ऐसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक जो अध्यात्म के चक्कर में पड़ जाते हैं इसका कारण है कुछ तो उनकी कल्पना की अधिकता और विवेचन शक्ति की न्यूनता और कुछ उन प्रबल संस्कारों का प्रभाव जो सांप्रदायिक शिक्षा द्वारा उनके चित्त में बचपन ही में जमा दिए जाते हैं। अमेरिका के प्रसिद्ध इंद्रजालिक स्लेड ने जोलनर, फेक्नर और वेबर को अपने चक्र में संमिलित करके

कैसे धोखे में डाला था इस बात को जरमनी में प्रायः सब लोग जानते हैं। पीछे उसकी चालाकियाँ खुल गईं और वह एक धूर्त प्रमाणित हुआ। इसी प्रकार आत्मविद्या के चमत्कार जहाँ जहाँ दिखाए गए हैं वहाँ वहाँ अनुसंधान करने पर उनके भीतर गहरी चालबाजियाँ पाई गई हैं। जिनके ऊपर प्रेतात्माएँ बुलाई जाती हैं वे या तो पक्के धूर्त होते हैं अथवा दुर्बलचित्त के मनुष्य। आत्माओं का अन्य लोक से आना, बातचीत करना, परोक्ष का वृत्तान्त कहना ये सब बातें कल्पना की उच्छृंखलता, विवेचना की न्यूनता और शरीरविज्ञान की अनभिज्ञता से उत्पन्न हैं।

संसार के प्रचलित मतों के बीच बहुत सी बातों में परस्पर भेद होते हुए भी एक बात ऐसी है जो सब में समानभाव से पाई जाती है और जिसे प्रत्येक अपना बड़ा भारी सहारा समझता है। जितने मत हैं सब इस बात का दावा करते हैं कि हम जगत् की स्थिति, जीवन के रहस्य आदि के संबंध में दैवी आभास वा दिव्यदृष्टि द्वारा ऐसी बातों का ज्ञान कराते हैं जो मनुष्य की प्राकृतिक बुद्धि के बाहर हैं। भिन्न भिन्न मतवाले अपने उपदेशों और वितंडावादों को दैवी आभास द्वारा प्राप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि उन्हीं के अनुकूल आचरण और विश्वास करना मनुष्य का धर्म है। मानवजीवन का शासन उन्हीं के अनुसार होना चाहिए, वे ही ईश्वरीय धर्मशास्त्र हैं। बहुत सी ऊटपटांग गढ़ी हुई कथाओं का मूल भी दैवी आभास ही बतलाया जाता है। कहीं तो ईश्वर साक्षात् प्रकट होकर मनुष्य की तरह बातचीत करता हुआ बताया गया है और कहीं मेघगर्जन, आँधी, भूकंप, दावाग्नि में प्रज्वलित झाड़ी, जैसी मूसा ने देखी थी, इत्यादि द्वारा अपने को व्यक्त करता हुआ कहा गया है। पर जिस ज्ञान को ईश्वर इनके द्वारा व्यक्त करता है वह वैसा ही होता है जैसा मनुष्य अपने मस्तिष्क में सद्भावित करके अपने कंठ और वाणी द्वारा प्रकट

करता है। प्राचीन भारत, मिस्र, यूनान और रोम की धर्मकथाओं में, नई और पुरानी बाइबिल में देवता या ईश्वर मनुष्य ही के समान बोलता, सोचता, विचारता और काम करता हुआ बतलाया गया है। अतः जिस ज्ञान को वह कल्पित रीति से व्यक्त करता हुआ बतलाया गया है वह मनुष्यों की कपोलकल्पना मात्र है। उसे ज्ञान नहीं कह सकते। उसमें विश्वास करना घोर अंधविश्वास है।

सच्चे ज्ञान का आभास प्रकृति ही में मिल सकता है; उसमें ही उसे ढूँढ़ना चाहिए। उसके लिए अप्राकृतिक शक्ति की कल्पना करना प्रमाद और बुद्धि का आलस्य है। सत्य का ज्ञान जो कुछ मनुष्य को हुआ है और हो सकता है वह प्रकृति की समीक्षा द्वारा प्राप्त अनुभवों तथा इन अनुभवों की संगत योजना द्वारा स्थिर सिद्धान्तों द्वारा ही। प्रत्येक बुद्धिसंपन्न और अविकृत मस्तिष्क का मनुष्य सत्य का आभास प्रकृति निरीक्षण द्वारा प्राप्त कर सकता है और अपने को अज्ञान और अंधविश्वास के बंधन से मुक्त कर सकता है।

———

सत्रहवाँ प्रकरण

विज्ञान और ईसाई मत

विगत शताब्दी से विज्ञान और ईसाई मत के बीच विरोध बढ़ता चला जाता है। ज्यों ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जाती है त्यों त्यों उन मतों की असारता प्रमाणित होती जाती है जो दिव्य दृष्टि या दैवी आभास के बल पर बुद्धि का दमन करके उसे बंधन में रखते आए हैं। ऐसे ही मतों में से एक ईसाई मत भी है। जितनी ही दृढ़ता के साथ आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान, भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र ने समस्त जगत् के चलानेवाले नियमों का निरूपण किया है और उद्भिद्विज्ञान, जंतुविज्ञान और मानवविज्ञान ने इन नियमों की चरितार्थता सजीव सृष्टि के बीच दिखलाई है, उतने ही कट्टरपन के साथ ईसाई मत ने द्वैतवादी दर्शन का सहारा लेकर 'आध्यात्मिक क्षेत्र' में अर्थात् मस्तिष्क व्यापार के एक विभाग में, इन प्राकृतिक नियमों की चरितार्थता अस्वीकार की है।

आधुनिक विज्ञान द्वारा निश्चित बातों और ईसाई मत की पुरानी सड़ीगली बातों के बीच कितना गहरा विरोध है, इसे कई लेखक अच्छी तरह दिखा चुके हैं। ईसाई मत ने अपनी स्थिति के लिए विज्ञान से जो लड़ाई ठानी उसके द्वारा उसने अपने विनाश के सामान और भी अधिक इकट्ठे कर लिए। दार्शनिक रीति से इस बात को हार्टमान ने अपने 'ईसाई मत का आत्मविनाश' नामक ग्रंथ में अच्छी तरह दिखाया है। इस मत का संसार के एक बड़े भाग की सभ्यता पर कितना प्रभाव पड़ा है इसको देखते हुए उसके इतिहास पर दृष्टि

डालना आवश्यक है। ईसाई मत के चार रूप कहे जा सकते हैं जो उसे आरंभ से अब तक प्राप्त हुए हैं—(१) प्राचीन ईसाई मत ईसवी सन् की पहली से तीसरी शताब्दी तक, (२) पोपों द्वारा परिचालित महंती ईसाई मत चौथी से १५ वीं शताब्दी तक, (३) पुनः संस्कारप्राप्त ईसाई मत १६ वीं से १८ वीं शताब्दी तक और (४) आजकल का नाममात्र का ईसाई मत।

प्राचीन ईसाई मत

ईसाई मत अपने आदि रूप में तीन सौ वर्ष तक रहा। ईसा, जिसने ईसाई मत चलाया, दया और प्रेम से परिपूर्ण था पर उस समय की यूनानी, मिस्री आदि सभ्य जातियों के ज्ञान विज्ञान से कोसों दूर था। यहूदियों में प्रचलित किस्से कहानियों के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं जानता था। वह अपनी लिखी एक पंक्ति भी नहीं छोड़ गया। यूनानी दर्शन और विज्ञान उससे पाँच सौ वर्ष पहले ही किस उन्नत अवस्था को पहुँच चुके थे इसका उसे कुछ भी परिज्ञान न था।

उसके विषय में हमें जो कुछ जानकारी है वह नई बाइबिल (इंजील) के द्वारा जिसके अंतर्गत चार सुसमाचार और प्रेरितों के पत्र हैं। पहले चार सुसमाचारों की बात लीजिए। प्रत्येक इतिहासवेत्ता जानता है कि उनका संग्रह पहली और दूसरी शताब्दी के ढेर के ढेर जाली कागजों और पोथियों में से चुन कर हुआ है। दूसरी शताब्दी में यह संग्रह धर्मशास्त्र के रूप में व्यवस्थित हुआ पर चौथी शताब्दी तक घटाने और बढ़ाने का काम थोड़ा बहुत जारी रहा। सेंट जिरोम नामक एक प्राचीन धर्माचार्य ने लिखा है कि ईसवी सन् ३२५ में निकेआ के धर्मसंघ में उक्त संग्रह में एक पोथी और जोड़ी गई थी। आधुनिक विद्वानों ने तीन सुसमाचारों, मत्ती, मार्क और लूक जो इन तीनों के मरने के पीछे औरों के द्वारा लिखे गए; का ईसवी सन् ६५

और १०० के बीच और योहन के समाचार का ईसवी सन् १२५ के कुछ पहले लिखा जाना निश्चित किया है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये चारो सुसमाचार जिस रूप में आज मिलते हैं उसी रूप में पहले भी थे। इनमें न जाने कितना फेरफार हुआ है। ईसा की मृत्यु के १५० वर्ष तक तो इन सुसमाचारों का पुस्तक रूप में संकलन हुआ ही नहीं था। सेंट जस्टिन के समय से ही इनका एक संबद्ध ग्रंथ के रूप में होना पाया जाता है। उसके पहले इनके कुछ वाक्य ही इधर उधर उद्धृत पाए जाते हैं, पुस्तकों के रूप में इनका उल्लेख नहीं मिलता। अस्तु, इन सुसमाचारों में जो कथाएँ पाई जाती हैं उनका यदि कोई इन पुस्तकों के संकलन के पहले प्रमाण ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिल सकता। ईसा की मृत्यु के सौ सवा सौ वर्ष पीछे ही इन कथाओं का प्रचार पाया जाता है। किसी महात्मा या मतप्रवर्तक के संबंध में कितनी जल्दी जल्दी अलौकिक कथाएँ जुड़ती जाती हैं इसका जिन्हें अनुभव है वे कदापि इतने पीछे संकलित की हुई पुस्तकों में लिखी हुई बातों को ठीक नहीं मान सकते[1]। सब से पहले लिखी जानेवाली

१. भारतवर्ष में तो साधुओं और महात्माओं के संबंध में अलौकिक कथाओं का जोड़ा जाना एक बहुत साधारण बात है। सारा भक्तमाल ऐसी ही अलौकिक और अप्राकृतिक कथाओं से भरा पड़ा है। मुर्दे जिलानेवाले, लड़की से लड़का कर देनेवाले, नदी के जल से घी का काम लेनेवाले न जाने कितने हुए हैं। अयोध्या में बाबा रघुनाथ दास, बाबा माधोदास अभी हाल में हो हुए हैं। एक जीवित महात्मा का जीवनचरित उनके कुछ भक्तों ने लिखा है जिसमें बहुत से चमत्कार वर्णन किए गए हैं, जैसे आँख मूँदते ही सैकड़ों कोस दूर एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन पर पहुँच जाना, ईश्वर का आकर सरकारी काम पूरा कर जाना इत्यादि। किसी साधारण आदमी से पूछिए वह किसी न किसी करामाती बाबा का नाम जरूर जानता होगा। पर ऐसे ऐसे करामातियों की कथाएँ मूर्ख सप्रदायों या पंथों ही में विशेषतः प्रचलित हैं। शंकराचार्य का अनुयायी कोई वेदांती ऐसी बातों की चर्चा नहीं करेगा।

थोथी (मार्क) का काल यदि हम ईसवी सन् ७० मान लें तो भी कथाओं के जुड़ने और फैलने के लिए यथेष्ट समय माना जा सकता है।

पाल प्रेरित के पत्रों से भी ईसा के जीवनवृत्तांत का कुछ विशेष पता नहीं लगता। अस्तु, ईसाई मत का प्रवर्तक कैसा था, उसने क्या क्या काम किए, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। उसके संबंध में जो अनेक प्रकार की कथाएँ पीछे लिखी गई हैं उन्हें माननेवाले अब दिन दिन कम होते जा रहे हैं। पवित्रात्मा द्वारा क्वारी कन्या के गर्भ से ईसा की अलौकिक उत्पत्तिवाली कथा अब इंग्लैंड, जरमनी आदि देशों में प्रक्षिप्त कह कर टाली जा रही है। इसी प्रकार कब्र से उठना, सदेह स्वर्ग जाना, मुर्दे जिलाना इत्यादि जो अलौकिक बातें धर्मपुस्तक में पाई जाती हैं, उनकी चर्चा अब पढ़ेलिखे लोगों के बीच नहीं होती। इस प्रकार ईसा का जो चित्र बाइबिल ने जनसाधारण के चित्त में अंकित कर रखा था वह क्रमशः हवा होता जाता है।

ज्यों ज्यों विद्वान् लोग ईसा के वास्तविक चरित्र और उपदेश के संबंध में ऐतिहासिक छानबीन करते जाते हैं और कुछ कुछ असल बातों का पता लगता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ता जाता है। दो तत्व निर्विवाद ठहरते हैं, दया दाक्षिण्य का सिद्धांत और आचरण का प्रधान नियम अर्थात् दूसरों के साथ तू वैसा ही कर जैसा तू चाहता है कि दूसरे तेरे साथ करें। पर धर्म के ये दोनों तत्व ईसा से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य जातियों के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे[1]।

---

१. शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए हैं उनमें एक यह भी है कि जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरों के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय है उसे दूसरों के लिए भी अप्रिय समझे।

जैगीषव्य ने इसी प्रकार देवल से कहा था कि 'जो उनपर आघात करते हैं उनसे वे (मनीषी) बदला लेने की भी इच्छा नहीं रखते।'

महंती या रोमक मत

कैथलिय संप्रदाय में धर्माचार्य पोप की आज्ञा सब बातों में मान्य समझी जाती है। पुराने समय में पोप लोगों का प्रताप और वैभव बहुत बढ़ा चढ़ा था। योरप के बड़े बड़े बादशाह उनके डर से काँपते थे। राजाओं को राजसिंहासन से च्युत करना, धर्मद्रोह का अपराध लगा कर लोगों को चिता पर बिठा कर भस्म करना उनके लिये एक साधारण बात थी। ईसाई मत ईसा के शिष्यों द्वारा पहले यूनान में पहुँचा, वहाँ से फिर रोम में गया। रोम ही से वह इंगलैंड आदि देशों में फैला। अतः महंत की गद्दी वहीं स्थापित हुई। रोमक संप्रदाय के ईसाई सब बातों में पुरानी पद्धति के अनुयायी हैं। उनके यहाँ जो प्रार्थना होती है वह लैटिन भाषा में। उनके गिरजों में ईसा की माता मरियम तथा अनेक महात्माओं या संतों की मूर्तियाँ होती हैं। १२०० वर्ष तक योरप का आध्यात्मिक शासन इसी संप्रदाय के हाथ में रहा। अब भी इसको माननेवाले संसार में बहुत अधिक हैं। ५० करोड़ ईसाइयों में से २५ करोड़ रोमक मत के हैं। सब से अधिक ध्यान देने की बात यह है कि इतने दिनों के बीच यह एशिया के प्राचीन धर्मों पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका। अब भी वहाँ साढ़े पचास करोड़ बौद्ध और बीस बाईस करोड़ हिंदू वर्तमान हैं।

चौथी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक योरप में रोमक मत का एकाधिपत्य रहा। उस बीच में घोर अंधकार छाया रहा। पोपों के अत्याचार से स्वतंत्र विचार का अवरोध रहा, ज्ञान विज्ञान का मार्ग बंद रहा, अन्याय और व्यभिचार का प्रचार रहा। ईसा के पूर्व यूनान और रोम आदि की प्राचीन सभ्यता के प्रभाव से जो जातियाँ ज्ञान के उन्नत सोपान पर आरूढ़ हो चुकी थीं वे ईसाई मत के कुप्रभाव के कारण एकदम पतित होकर बर्बरावस्था को प्राप्त हो गईं। विश्वास को बुद्धि पर प्रधानता दी गई। बुद्धि के द्वारा तत्वचिंतन और

वैज्ञानिक अनुसंधान का कुछ महत्व ही न रह गया क्योंकि सब लोग ईसाई धर्माचार्यों के उपदेशानुसार कल्पित परलोक की तैयारी ही में हैरान रहने लगे।

सन् ३२५ में पोप कांस्टेंटाइन की अध्यक्षता में निकेआ के धर्म-संघ की बैठक हुई थी। तभी से प्राचीन काल के दर्शन और साहित्य पर प्रहार आरंभ हुआ। उनका प्रचार बंद किया गया। यहाँ तक कि बहुत से ग्रंथ नष्ट कर दिए गए। स्वतंत्र दर्शन और विज्ञान की चर्चा ही उठ गई। जो कोई सृष्टिविज्ञान आदि के संबंध में अपना स्वतंत्र विचार प्रगट करता था वह जीता जला दिया जाता था। इस प्रकार १२०० वर्ष तक परम शक्तिशाली पोपों के अत्याचार से सारा योरप अज्ञान के बंधन में पड़ा रहा।

ईसाई धर्म के जो मुख्य तत्व हैं वे सदाचार संबंधी हैं। उनकी रक्षा लोकरक्षा के लिये परम आवश्यक है। अतः यह बात नहीं है कि ईसाई मत ने ही पहले पहल उन तत्वों का उद्घाटन किया, ईसा के पहले किसी को उनका ज्ञान नहीं था। ईसा के कई हजार वर्ष पहले से धर्म के वे आदर्श भारतीय आर्यों, पारसियों, चीनियों, मिस्रियों, यूनानियों तथा और दूसरी सभ्यताप्राप्त जातियों के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे। इन प्राचीन जातियों के बीच उनकी स्थापना अत्यंत दृढ़ नींव पर थी। पोपों के आडंबर के आगे धर्म के वास्तव अंग छिप गए। स्वर्गप्राप्ति कराने का ठेका होने लगा, मुक्ति बिकने लगी। अधर्मियों अर्थात् पोप की इच्छा के प्रतिकूल चूँ करनेवालों के लिये स्थान स्थान पर विशेष न्यायालय (या अन्यायालय) खुल गए। सन् १४८१ और १४९८ के बीच अकेले स्पेन में ८००० मनुष्य जीते जलाए गए, ९०० मनुष्यों की जायदाद जप्त की गई। इसी प्रकार हालैंड में पाँचवें चार्लस के राजत्वकाल में पादरियों की रक्तपिपासा यहाँ तक बढ़ी कि ५०० मनुष्यों के प्राण अनेक प्रकार की दुर्दशा से

लिए गए। एक ओर तो निरपराध प्राणी घोर यंत्रणा से हाहाकार करते थे दूसरी ओर सारे योरप का धन धर्मदंड के रूप में पोप के खजाने में जाता था और अनेक प्रकार के उपभोगों से ईसा के अनुयायी धर्माचार्यों की आत्माएँ तुष्ट होती थीं। उपदंसग्रस्त पोप दसवें लिओ ने एक बार मौज में आकर कह ही डाला कि 'ये सब अधिकार और उपभोग हमलोगों को ईसा की कहानी की बदौलत ही प्राप्त हैं।'

रोमक मत के प्रताप से समाज की दशा एकदम बिगड़ गई, उसकी सारी व्यवस्था नष्ट हो गई। अज्ञान, दारिद्र्य और अंधविश्वास के साथ साथ व्यभिचार खूब बढ़ा। क्वारे रहने का जो नियम चलाया गया उससे व्यभिचार में पूरी सुगमता हो गई। एक एक मठ में हजारों क्वारे बाबा और क्वारी संन्यासिनें रहने लगीं। अनेक प्रकार के छल, पाखंड और मिथ्या प्रवादों के द्वारा व्यभिचार लीला होने लगी। अनीश्वरवादी ईश्वर के न होने के जो अनेक प्रमाण दिया करते हैं उनमें यह भूल जाते हैं कि १२०० वर्ष तक 'ईसा के नायब' ने जो अनेक प्रकार के घृणित अत्याचार प्रजा पर किए वे सब ईश्वर के नाम पर ही। मुहम्मद के अनुयायियों ने जो इतने प्राणियों की हत्या की वह अल्लाह के नाम पर ही।

संस्कारप्राप्त ईसाई मत

१६ वीं शताब्दी के आरंभ के साथ ही योरप में एक नया युग उपस्थित हुआ। जरमनी के लूथर ने ईसाई मत का संस्कार किया। पोप द्वारा प्रचारित व्यवस्था का खंडन किया गया। उसका एकाधिपत्य अस्वीकृत किया गया। छापे के प्रचार और देशों के संसर्ग से विद्या की चर्चा पहले ही से हो चली थी। अतः संशोधित मत के प्रचार में बड़ी सुगमता हुई। जो पोपों के अत्याचार से दबे हुए थे वे इस नए संप्रदाय का सहारा पाकर बहुत प्रबल हुए। संस्कृत संप्रदाय दिन

दिन बढ़ता गया। लोगों की बुद्धि, जो इतने दिनों तक कड़े बंधन में पड़ी थी, कुछ कुछ मुक्त हो कर इधर उधर दौड़ने लगी। सृष्टि के वास्तव तत्वों की ओर ध्यान जाने लगा। लूथर ने पोपों के पाखंड का तो खंडन किया पर जिस घोर अंधविश्वास का सहारा लेकर ईसाई मत खड़ा हुआ था उससे वह अपने को मुक्त नहीं कर सका था। वह जिंदगी भर बाइबिल की बातों को ईश्वरवाक्य कहता रहा। ईसा का कब्र से जी उठना, मनुष्य जाति का शापवश मूल ही से पापग्रस्त होना, संसार में होनेवाली छोटी से छोटी बात का पूर्व ही से निश्चित होना, केवल विश्वास द्वारा ही धर्मसंबंधी बातों का समाधान तथा इसी प्रकार की और दूसरी कल्पनाओं का वह कट्टर समर्थक था। कोपरनिकस के भूभ्रमणसिद्धांत को उसने मूर्खता बतलाया क्योंकि बाइबिल में जोशुवा ने सूर्य को ठहर जाने के लिये कहा है पृथ्वी को नहीं। सुधारे हुए ईसाई मत के अनुयायियों का कट्टरपन भी कुछ कम नहीं था। उन्हीं में से एक ने एक डाक्टर को इसलिये जला दिया कि उसने ईसाई मत की त्रिदेव कल्पना पर अविश्वास प्रकट किया था। पर इन दोषों के रहते हुए भी ईसाई मत के संस्कार द्वारा बड़ा काम हुआ। पोपों का भय हट जाने से लोगों की बुद्धि बंधनमुक्त हो गई और अनेक विषयों पर स्वतंत्र विचार प्रकट किए जाने लगे। दर्शन और विज्ञान की उन्नति का रास्ता खुल गया और थोड़े ही दिनों में उस नवीन युग का आरंभ हो गया जो 'विज्ञानयुग' कहलाता है।

आजकल का ईसाई मत

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ ही से विद्या के विविध अंगों की उन्नति आरंभ हुई। प्रकृति के अनेक विभागों की छानबीन में लोग अग्रसर हुए। १९वीं शताब्दी ने तो ज्ञान के अनेक नए क्षेत्र खोल दिए। अंगविच्छेद शास्त्र की सहायता से भिन्न भिन्न जंतुओं की शरीर-

रचना का मिलान किया गया। भिन्न भिन्न जीवों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई इसके निर्धारित हो जाने पर मनुष्य की उत्पत्ति का सिद्धांत स्थिर किया गया। सन् १८३८ में शरीरसंयोजक घटकों का पता लग जाने से यह प्रत्यक्ष हो गया कि सब प्राणियों के शरीर इन्हीं घटकों या जीवाणुओं की व्यवस्थित योजना से बने हैं। भौतिक कारणों से ही पृथ्वी की उत्पत्ति सिद्ध हो गई। द्रव्य और शक्ति की अक्षरता के सिद्धांत द्वारा सृष्टि के समस्त व्यापारों की व्याख्या की गई। लोकों की उत्पत्ति और लय का व्यापार नित्य स्थिर किया गया। अंत में डारविन ने अपने विकास सिद्धांत द्वारा सजीव सृष्टि में होनेवाले व्यापारों का समाधान भौतिक रीति से करके इन सब का एक में समाहार कर दिया।

अब देखना चाहिए कि इस विज्ञान की इस अपूर्व उन्नति के आगे आधुनिक ईसाई मत की स्थिति क्या है? ईसाई मत की बातें तो वैज्ञानिक अनुसंधान से सर्वथा असंगत और निःसार प्रमाणित हुईं। इससे रोमक संप्रदाय ने तो हताश होकर अपना कट्टरपन और भी अधिक बढ़ा दिया। वह अब तक अपने अंधविश्वासों का समर्थन तथा दिन दिन बढ़ते हुए विज्ञान का विरोध तन मन से करता चला जा रहा है। रहा संस्कारप्राप्त (प्रोटेस्टांट) उदार ईसाई मत, उसने सर्वात्मवाद या अद्वैतवाद की शरण ली और विरोधों के परिहार की नाना युक्तियाँ ढूँढने में लगा। वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा जो प्राकृतिक नियम स्थिर हुए और उन नियमों को लेकर जो दार्शनिक तत्व निरूपित हुए, उनके साथ वे ऐसी परिमार्जित धर्मभावना का अविरोध दिखाने में तत्पर हुए जिसमें अन्य मतों से भिन्न कोई विशेष लक्षण ही न रह गया। सामान्य धर्म जिसे हम ईसाई या इसलाम किसी एक नाम से नहीं पुकार सकते; ही को लेकर यह भी ठीक वह भी ठीकवाला वितंडावाद कुछ चल सकता था अतः उसी को उन्होंने ग्रहण किया। पर यह बात लोगों पर अच्छी तरह खुल गई कि जिसे

हम ईसाई मत कहते हैं उसका प्रत्येक आधार खंडित हो गया, अब केवल उसकी सदाचार संबंधिनी बातों को ही लोग स्वीकार कर सकते हैं। लोगों के विचारों में तो इस प्रकार का परिवर्तन हुआ पर आधुनिक राज्यों में ईसाई मत के ऊपरी आडंबर ज्यों के त्यों बने हुए हैं जिसके कारण शिक्षितों के बीच ईसाई मत मिथ्याडंबर के रूप में पाया जाता है। अब सभ्य देशों में ईसाई मत एक कृत्रिम और दिखाऊ रीति रस्म के ही रूप में रह गया है। भीतर भीतर तो आधुनिक विद्यालयों के प्रभाव से लोगों के विचार बिलकुल बदल गए हैं पर ऊपर से दिखाने के लिए वे अपने को ईसाई मत के अनुयायी प्रकट करते हैं। यह पाखंड या कपटधर्म समाज के लिये अनिष्टकर है। यह मिथ्या व्यवहार बहुत दिनों तक चल नहीं सकता।

इधर यह कृत्रिम ईसाई मत इतना ढीला है कि इससे ज्ञानार्जन में किसी प्रकार की बाधा अब नहीं पड़ती है। उधर रोमक संप्रदाय ने ज्ञान का जो खुल्लमखुल्ला विरोध आरंभ किया उससे शिक्षितों में बड़ी खलबली मची और उन पर उसका कुछ भी प्रभाव न रह गया। सन् १८५४ में पोप ने मरियम की निर्दोष भावना के सिद्धांत[1] की घोषणा की। १८६४ में पोप की ओर से जो धर्माज्ञा निकली उसमें जितने वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धांत निकले थे उन सब की निंदा की गई और उनका मानना धार्मिकों के लिये पाप ठहराया गया। ६ वर्ष पीछे पोप ने मूर्खता की हद कर दी और यह घोषणा प्रचलित की कि पाप दोष और भ्रम से परे है, उसके

१. ईसाइयों के सिद्धांत के अनुसार पाप आदि ही से मनुष्य जाति के साथ लगा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य पाप के साथ उत्पन्न होता है। ईसा की माता मरियम ही पाप से सर्वथा निर्लिप्त उत्पन्न हुई। युक्तिपूर्वक विचार किया जाय तो पाप के साथ उत्पन्न होना और पाप से सर्वथा निर्लिप्त होना ये दोनों बातें कपोलकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

कार्य में कभी दोष और भ्रम हो ही नहीं सकता। वर्तमान समय में ऐसी ऐसी घोषणाओं का शिक्षित समुदाय पर क्या प्रभाव पड़ सकता है यह समझने की बात है।

अब रही अप्राकृतिक रीति से कुमारी मरियम के गर्भ से ईसा के जन्मवाली कथा। जो भिन्न भिन्न मतों की पौराणिक कथाओं से परिचित हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि इस प्रकार की जन्मकथाएँ ईसा के जन्म से बहुत पहले से प्राचीन जातियों में प्रचलित थीं। हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म, सब में ऐसी कथाएँ पाई जाती हैं। जब किसी राजा या बड़े आदमी की कोई कन्या कुमारिकावस्था में ही गर्भवती हो जाती थी तब इस बात का प्रचार किया जाता था कि उसे किसी देवता, जैसे सूर्य, इंद्र आदि से गर्भ रहा। ईसाइयों ने भी इसी प्रकार की कथा गढ़ी और ईसा की उत्पत्ति पवित्रात्मा से बतलाने लगे। इस प्रकार के 'देवपुत्र' प्रायः बड़े प्रतापी, यशस्वी और बुद्धिमान हुआ करते थे। यवन (यूनानी) और रोमक (रोमन) लोगों की प्राचीन कथाओं में इस प्रकार के देवपुत्रों के बहुत से वृत्तांत हैं।

पवित्रात्मा द्वारा कुमारी मरियम के गर्भाधान की जो कथा है उस पर थोड़ा विचार आवश्यक है। बाइबिल की केवल दो पोथियों—मत्ती और लूक में इस कथा का उल्लेख पाया जाता है। पर इन दोनों पोथियों में शेष पोथियों के अनुकूल यह भी लिखा है कि मरियम की मँगनी यूसफ नाम के बढ़ई के साथ हो चुकी थी पर संयोग के पूर्व ही पवित्रात्मा द्वारा मरियम गर्भवती हो गई। पर जैसा पहले कहा जा चुका है ये चारो पोथियाँ ढेर की ढेर पोथियों में से अधिक प्रामाणिक समझी जाकर चुन ली गई थीं। शेष पोथियाँ अत्यंत अधिक असंबद्ध बातों और असंभव वृत्तांतों के कारण प्रक्षिप्त और अग्राह्य मानी गईं, जैसे; जेम्स, टामस, और निकोडेमस रचित सुसमाचार। पर उनमें कई ऐसी हैं जो चार गृहीत सुसमाचारों से प्राचीनता में

कम नहीं हैं। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से जैसे ये चार सुसमाचार वैसी ही वे अगृहीत पोथियाँ जिन्हें प्रक्षिप्त बतलाकर लोगों ने अलग कर दिया है। उन अगृहीत पुस्तकों में से निकोडेमस रचित सुसमाचार है जिसका ईसा से सौ डेढ़ सौ वर्ष बाद लिखा जाना विद्वानों ने निश्चित किया है। उसमें लिखा है कि यहूदियों ने ईसा पर व्यभिचार से उत्पन्न होने का दोष लगाया था। इस बात का समर्थन सेलसस नामक एक यूनानी लेखक ने भी किया है जो ईसा की दूसरी शताब्दी में अर्थात् निकोडेमसकी पोथी लिखे जाने के थोड़े ही आगे पीछे हुआ था। उसने लिखा है कि ईसा की माता को यूसफ नाम के बढ़ई ने तिरस्कार देकर इसलिए छोड़ दिया था कि उस पर व्यभिचार का अभियोग लगाया गया था और पांथरास नामक एक सैनिक से उसे एक लड़का पैदा हुआ था। यह कथा यहूदियों के यहाँ भी पाई जाती है कि रोमन सेना के एक अफसर और मरियम के अनुचित संबंध से ईसा की उत्पत्ति हुई।

पर बाइबिलसंबंधी अनुसंधान करनेवाले अधिकांश विद्वानों ने ईसा को उस बढ़ई का पुत्र मानना ही अधिक उपयुक्त ठहराया है। कई देशों में यूसफ और मरियम के विवाह के पूर्व की प्रेमलीला बड़ी भावभक्ति के साथ कही सुनी जाती है। पवित्रात्मा वाली अप्राकृतिक कथा का अब विद्वानों में आदर नहीं रहा है। अतः जब इस अप्राकृतिक कल्पना का परित्याग हो ही रहा है तब इसका पता लगा तो क्या, न लगा तो क्या कि ईसा का बाप यथार्थ में था कौन। बाइबिल में औदार्य, दया, परोपकार और प्रेमभाव आदि के जो धर्मोपदेश हैं वे इन अप्राकृतिक और असंगत कल्पनाओं के आधार के बिना भी ज्यों के त्यों मान्य बने रह सकते हैं। यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि वे ईश्वर द्वारा कहे गए या आभास के रूप में प्रकट किए गए। इस प्रकार की बातें विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धांतों के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं।

———

अठारहवाँ प्रकरण

ज्ञानतत्त्वोपासना या

तत्त्वाद्वैतदृष्टि से उपासनाकांड

आजकल के बहुत से वैज्ञानिक और दार्शनिक यह कहने लगे हैं कि मत या मजहब, जैसे ईसाई, इसलाम आदि की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई। उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि विज्ञान की अपूर्व उन्नति से जगद्विकास के जो नाना रहस्य खुल पड़े हैं उनसे केवल हमारी बुद्धि ही तुष्ट न होगी बल्कि भक्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि वृत्तियाँ भी जाग्रत होंगी। सारांश यह कि यदि हमें सम्यक् तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो उसमें ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनों का मेल हो जाता है। पर बड़े दुःख की बात है कि इस प्रकार की तत्त्वदृष्टि बहुत ही कम लोगों को प्राप्त होती है। अधिकांश शिक्षितों की यही धारणा रहती है कि मतविश्वास एक और ही चीज है जिसका ज्ञान से कोई संबंध नहीं। वे कहते हैं कि मजहब में अक्ल का दखल नहीं। पर अब ऐसा कहना ठीक नहीं। विज्ञान की आधुनिक उन्नति से हमें जो नए नए तर्क और नई नई युक्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे तो हमारे मन में अवश्य रहेंगी पर उनके साथ ही साथ हमारे अंतःकरण को श्रद्धा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों के लिये यथेष्ट सामग्री भी प्राप्त होगी, अतः हमारी भावुकता में किसी प्रकार की कमी न होने पाएगी। अंतर इतना ही होगा कि हमारी श्रद्धा, भक्ति आदि वेगवती वृत्तियों के लिये, हमारी भावुकता के लिये, जो सामग्री अप्राकृतिक और असत्य

कल्पनाओं के द्वारा उपस्थित की गई थी उनके स्थान पर अब सत्य वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा प्राप्त सामग्री होगी।

आधुनिक विज्ञान ने अंधविश्वास की बातों का खंडन तो कर डाला; अब उसको चाहिए कि वह मनुष्य की श्रद्धाभक्ति के लिये एक भव्य ज्ञानमंदिर खड़ा करे जिसमें तत्वदृष्टि प्राप्त कर के लोग सत्य, सत्व और रजस् (सौंदर्य) इन तीन देवताओं की उपासना करें। इस दिव्य भाव की प्राप्ति के लिये यह देख लेना आवश्यक है कि प्रचलित मत-मतांतरों की कौन कौन सी बातें हमें रखनी होंगी और कौन छोड़नी होंगी। हजारों वर्षों से जिन मतों का अधिकार मनुष्य जाति के हृदय पर चला आ रहा है उनकी शील और सदाचार संबंधिनी बातों को हम नहीं छोड़ सकते, उनका महत्व हम कभी अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः हमें चाहिए कि इन मतों में जो सदाचार तत्व है उसी पर अपना आग्रह प्रकट करें। उसी पर दृष्टि रखने के लिये भिन्न भिन्न मतों और संप्रदायों से अनुरोध करें। इसी रीति का अवलंबन करने से आधुनिक ज्ञानमूलक धर्म की स्थापना सुगम होगी। हमें अपने धार्मिक जीवन में विप्लव नहीं उपस्थित करना है, संस्कार करना है। जिस प्रकार प्राचीन सभ्य जातियाँ आदर्श के लिये भिन्न भिन्न सद्गुणों की मूर्त भावना करती थीं उसी प्रकार हमें भी चाहिए कि हम सत्य, सत्व और रजस् को देवरूप में ग्रहण करें।

१. **सत्य**—पहले सत्य को लीजिए। जो कुछ पीछे कहा जा चुका है उससे यह दृढ़ हो गया कि विशुद्ध सत्य प्रकृति ही के भीतर साधना-पूर्वक ढूँढ़ने से मिल सकता है और इस साधना के दो ही मार्ग हैं, सूक्ष्म अन्वीक्षण और चिंतन। पहले प्रकृति में जो व्यापार वास्तव में होते हैं उनका एक एक करके पता लगाना चाहिए फिर उनके कारणों का खूब मनन करना चाहिए। इसी रीति से हम शुद्ध बुद्धि के बल से उस सत्य ज्ञान या विज्ञान तक पहुँच सकते हैं जो मनुष्य की सब से

बड़ी संपत्ति है। हमें 'ईश्वराभास', 'दैवी प्रेरणा' आदि बातों का एकदम परित्याग करना होगा क्योंकि उनका मतलब यह है कि ज्ञान-प्राप्ति के जो दो मार्ग ऊपर बतलाए गए हैं केवल उन्हीं से नहीं, बल्कि बिना बुद्धि के प्रयास के, आसमान से भी ज्ञान टपक सकता है[1]। अब यह बात पूर्णतया स्थिर हो गई है कि ज्ञान अप्राकृतिक या अलौकिक रीति से न कभी किसी को प्राप्त हुआ है और न हो सकता है। प्रकृति का मंदिर ही सत्यदेव का निवासस्थान है। वे हरेभरे जंगलों, नीलाभ सरोवरों और तुषारमंडित गिरिशृंगों में रहते हैं; मंदिरों, मसजिदों और गिरिजों के अँधेरे कोने में नहीं। सत्य और ज्ञानरूप देवताओं की प्राप्ति के लिये हमें प्रकृति से प्रेम करना चाहिए और उसके नियमों का मनन करना चाहिए। ज्ञानतत्वोपासना के लिए हमें अपार और अनंत नक्षत्रों और लोकों की दूरबीनों द्वारा, और सूक्ष्म घटक या अणुजगत् की सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा छानबीन करनी होगी; कर्मकांड के निरर्थक विधानों तथा पूजा की लंबी चौड़ी पद्धतियों की कोई आवश्यकता न होगी। सत्यदेव के प्रसाद से हमें ज्ञानवृक्ष के विशद फल प्राप्त होंगे जिनसे हमारी दृष्टि स्वच्छ हो जायगी और हम जगत् के नाना रहस्यों का आनंद ले सकेंगे।

२. सत्व—सात्विकशीलता या सत्व के संबंध में हमें उतना उलटफेर करने की आवश्यकता न होगी जितना सत्य के संबंध में करना पड़ेगा। सत्य की स्थापना के लिये हमें 'ईश्वराभास', 'आकाश-वाणी', 'इलहाम' इत्यादि को कपोलकल्पना कहकर एकदम किनारे कर देना होगा, पर सद्गुण या सात्विकशीलता के संबंध में प्रचलित मतों से हमारा कोई विरोध न होगा। ईसाई धर्म को ही लीजिए। उसमें वदान्यता, उदारता, दया, दैन्य और परोपकार के जो भाव हैं

१. किसी देवी देवता के प्रसाद से किसी मूर्ख का एकबारगी भारी कवि या पंडित हो जाना इसी प्रकार की बात है।

वे सब को समान रूप से मान्य हैं। हमारे ज्ञानमूलक धर्म में भी उनका वही स्थान रहेगा। सदाचार के वे तत्व संसार के सब सभ्य मतों में हैं, अकेले ईसाई मत में नहीं। अस्तु, ईसाई लोग अन्य मतावलंबियों को अपने मत में लाने का क्यों प्रयत्न किया करते हैं समझ में नहीं आता। एक विषय में ईसाई मत एकांगदर्शी है[1]। कर्माकर्म की व्यवस्था में, सदाचार के नियम में, यह मत परार्थ ही पर ज्यादा जोर देता है, स्वार्थ का एकदम निषेध करता है। हमारा ज्ञानमूलक धर्म दोनों पर समान दृष्टि रक्खेगा। वह स्वोपकार और परोपकार दोनों का पलड़ा ठीक रखने का उपदेश देता है।

३. रजस् - जिससे हमारी प्रकृति का अनुरंजन हो उसे रजस् या सौंदर्य कहना चाहिए। सौंदर्य के संबंध में हमारे तत्वाद्वैत धर्म का वैराग्यप्रधान मतों से बड़ा भारी विरोध है। ये मत सांसारिक जीवन को सर्वथा असार समझते हैं, उसे केवल परलोक की तैयारी के लिये समझते हैं। अतः मनुष्य के जीवन की जो बातें हैं, प्रकृति, विज्ञान और कलाकौशल में जो कुछ सौंदर्य हम देखते हैं, वह सब उन मतों की दृष्टि में निरर्थक है। सच्चे धार्मिक को इससे दूर रहना चाहिए, उसे केवल परलोक की चिंता में रहना चाहिए। प्रकृति से घृणा, उसकी नाना शोभाओं से विरक्ति, सुंदर कलाओं से कुरुचि ये सब धर्म के अंग हैं। ये अंग यहाँ तक पूर्णता को पहुँचाए जाते हैं कि लोग स्त्रीवर्गियों से अलग जाकर रहते हैं, शरीर को नाना प्रकार के क्लेश देते हैं, मढ़ियों और कुटियों में पड़े पड़े अपना समय नाम जपने और भजन गाने में बिताते हैं।

जिस उद्देश्य से प्रकृति का यह तिरस्कार किया गया वह सिद्ध भी नहीं हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है। संन्यास आश्रम इसलिये निकाला गया था कि कुछ लोग विषय वासनाओं से निर्लिप्त

१. जैन आदि अन्य वैराग्यप्रधान धर्म भी इसी प्रकार के कहे जा सकते हैं।

रहकर यम, नियम और पवित्रता के आदर्श बनेंगे। पर हुआ इसका उलटा। मढ़ियों के स्थान पर साधुओं के बड़े बड़े मठ खड़े हो गए जिनमें ऐसी ऐसी व्यभिचार लीलाएँ होने लगीं जिनका बेचारे गृहस्थ अनुमान तक नहीं कर सकते। बड़े बड़े मठधारी महंतों के धनवैभव और भोगविलास को देख बड़े बड़े राजा दंग रहने लगे। लोग कहेंगे कि ईसाई, जैन, बौद्ध, शैव आदि मत वैराग्यप्रधान हैं, पर उनके द्वारा कलाकौशल की कितनी उन्नति हुई है, उनके अनुयायियों ने कैसे सुंदर सुंदर मंदिर, गिरजे आदि बनवाए हैं। यह ठीक है, पर उन मतों की शिक्षा से सुंदर रचनाओं से क्या संबंध? इनका निर्माण तो उनकी शिक्षाओं से स्वतंत्र हुआ है। कहाँ उनकी शिक्षा कि इस संसार के आमोदप्रमोद से दूर रहो, इस जीवन के भौतिक सौंदर्य पर मत भूलो, स्त्रियों के प्रेम जाल में मत फँसो, धन, परिजन आदि सब को माया समझो, कहाँ मंदिरों और गिरजों का ठाटबाट, महंतों और धर्माचार्यों की धूमधाम की सवारियाँ! कैथलिक संप्रदाय के गिरजों तथा और दूसरे मतों के मंदिरों की चित्रकारियाँ होती कैसी हैं? इन गिरजों को जाकर देखिये तो उनमें ईसा, मरियम और महात्माओं की अलौकिक भावनापूर्ण प्रतिमाएँ मिलेंगी, उनके अप्राकृतिक चरित्र अंकित पाए जायँगे। मंदिरों को देखिए तो उनमें कहीं बौद्ध जातकों की कल्पित कहानियाँ चित्रित मिलेंगी, कहीं कई सिरपैर वाले देवताओं की मूर्तियाँ सामने आएँगी। इन चित्रकारियों का प्रभाव भी जनता पर विलक्षण पड़ता आया है। जनसाधारण के चित्त पर यह संस्कार बराबर जमता रहा कि जिस रूप के देवी देवता हैं, वैसे कभी रहे हैं और जो अलौकिक बातें चित्रकारियों में दिखाई गई हैं वे वास्तव में कभी हुई हैं।

मतों और संप्रदायों के आश्रय से कलाकौशल को जो रूप प्राप्त हुआ है उससे कलाकौशल की वह नई प्रवृत्ति जो आजकल विज्ञान के संबंध से जाग्रत हुई है, सर्वथा विरुद्ध है। विज्ञान द्वारा प्रकृति के

क्षेत्र में हमारी दृष्टि का जो विस्तार बढ़ गया है और हमें जीवों और पदार्थों के असंख्य रूपों का जो पता लगा है उससे हमारे अंतःकरण में सौंदर्य के नए नए भावों का उदय हुआ और चित्रकारी तथा शिल्पविद्या को नई उत्तेजना प्राप्त हुई है। पृथ्वी के नाना प्रदेशों, द्वीपों और खंडों की जो छानबीन हुई है उससे नए नए प्रकार के असंख्य जीव, विशेषतः छोटे जीव जिनकी ओर पहले किसी का ध्यान तक नहीं गया था, मिले हैं जिनके मनोहर रूप रंग को लेकर बहुत सुंदर चित्रकारी और कारीगरी हो सकती है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र ने हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणुओं की; विशेषतः जल कीटाणुओं की एक नई दुनियाँ दिखा दी है। सहस्रों प्रकार के चित्रविचित्र समुद्री जीव, मूँगे, छत्रक, शुक्तियाँ, केकड़े इत्यादि हमें देखने को मिले हैं जिनके सौंदर्य और आकृतिभेद के सामने मनुष्यों की कल्पना झख मारे। प्राणिविज्ञान और उद्भिद्विज्ञान की कोई बड़ी सचित्र पुस्तक खोल कर देखिए, इस बात का निश्चय हो जायगा।

आधुनिक विज्ञान ने हमें सूक्ष्म जगत् की ही सैर नहीं कराई है बल्कि प्रकृति के विशाल पदार्थों का भी अधिक परिचय कराया है। एक समय था जब हिमालय ऐसे पर्वतों और पर्वताकार तरंगवाले समुद्रों को लोग भय की दृष्टि से देखते थे। अब विज्ञान ने ऐसे सुबीते कर दिए हैं कि साधारण वित्त के मनुष्य भी ऊँचे ऊँचे पर्वतों पर जाकर हिमप्रपातों के निकट महीनों रह सकते हैं और वहाँ के विशाल और मनोहर दृश्यों का आनंद ले सकते हैं; तथा समुद्र के अपार वक्षस्थल पर निर्भय विचरण करते हुए नीलांबुराशि की क्रीड़ा का अवलोकन कर सकते हैं। आजकल जिस प्रकार प्रकृति के नाना रहस्यों के परिज्ञान के साधन सुलभ हो गए हैं उसी प्रकार उसके असीम सौंदर्य के उपभोग के भी। इसी अवस्था में हमारे अंतःकरण की भिन्न भिन्न वृत्तियाँ परिपुष्ट हो सकती हैं और तत्वाद्वैत धर्म का भाव दृढ़ हो सकता है।

वर्तमान काल की चित्रकारी को देखने से इस बात का अच्छा प्रमाण मिल सकता है। पुराने समय में जो चित्र बनते थे वे अधिकतर मनुष्य या कुछ थोड़े से जंतुओं के ही होते थे। अब वन, नदी, पर्वत, समुद्रतट आदि नाना प्राकृतिक पदार्थों के सुंदर सुंदर चित्र देखने को मिलते हैं। न जाने कितने मासिकपत्र चित्रों के हा निकलते हैं जिनमें अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अंकित रहते हैं। प्राकृतिक दृश्यांकन में आजकल बड़ी उन्नति हुई है। इन दृश्यों के द्वारा प्रकृति से हमारा प्रेम बढ़ता है और उसके रहस्यों के जानने की उत्कंठा उत्पन्न होती है। इस प्रकार के चित्र शिक्षा के अच्छे साधन हैं। बच्चों में इनकी ओर अभिरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। प्रकृति अनंत सौंदर्य का भांडार है। उसके सौंदर्य का आनंद, उसके अविचल और नित्य नियमों से संबद्ध होने के कारण, ज्ञानविज्ञान का उत्तेजक है। इस आनंदानुभव की उत्कंठा द्वारा ज्ञान की ओर सच्ची प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति मार्ग ज्ञान का सच्चा मार्ग है। जिस विस्मय के साथ हम तारकित गगनमंडल को और एक जलबिंदु के भीतर की सजीव सृष्टि को देखते हैं, जिस स्तब्धता के साथ द्रव्य की नाना गतियों में उसकी शक्ति की क्रीड़ा का परिचय पाते हैं, जिस पूज्य भाव से 'परमतत्व की अक्षरता' के नियम की विश्वव्यापकता का अनुभव करते हैं, वह विस्मय, वह स्तब्धता और वह पूज्यभाव सब के सब हमारी धर्मभावना के ही अंग हैं। ये ही धर्म के सच्चे आवेश हैं। इन सच्चे आवेशों द्वारा प्रेरित धर्म हमारा प्रकृत धर्म है।

प्रकृत सत्य का बोध और प्रकृत सौन्दर्य का उपभोग दोनों हमारे तत्वाद्वैत धर्म के अंग हैं। ईसाई आदि वैराग्यप्रधान मतों से इन दोनों अंगों का विरोध प्रत्यक्ष है। ये दोनों अंग ऐहिक हैं, इसी लोक से संबंध रखनेवाले हैं। पर ईसाई आदि मत सदा परलोक ही की ओर ध्यान रखने का उपदेश देते हैं। तत्वाद्वैत धर्म बतलाता है कि हम

लोग इस पृथ्वी पर के मर्त्य जीव हैं जो कुछ काल तक इसके नाना पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं, इसके सौंदर्य का आनंद ले सकते हैं और इसकी अद्भुत शक्तियों की क्रीड़ा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ईसाई आदि मत कहते हैं कि यह संसार दुःख का समुद्र है जिसमें हम अल्प काल तक के लिये इस कारण डाल दिये गये हैं कि नाना प्रकार के क्लेशों द्वारा अपनी आत्माओं को शुद्ध करें जिससे परलोक में अनंत सुख के अधिकारी हों। यह परलोक कहाँ है ? इसका सुख किस प्रकार का है ? यह सब ये मत कुछ भी नहीं बतलाते। जब तक लोग पृथ्वी के ऊपर असंख्य नक्षत्रों से दीप्त नीलमंडल को ही स्वर्गधाम समझते थे, तबतक तो उनकी कल्पना में यह बात किसी प्रकार आ सकती थी कि वहाँ देवता लोग नित्य विहार किया करते हैं। पर अब ये सब देवता और अमर जीव बिना ठौरठिकाने के हो गए हैं; क्योंकि अब यह बात ज्योतिर्विज्ञान द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट हो गई है कि इस नीलमंडल में उस ईथर या आकाशद्रव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिसमें असंख्य लोकपिंड बनते और बिगड़ते हुए चक्कर मार रहे हैं।

वे स्थान जहाँ लोग अपनी धर्मभावनाओं की पुष्टि और ईश्वर या देवता की उपासना के लिये जाते हैं अत्यंत पवित्र माने जाते हैं और 'मंदिर', 'मसजिद' या 'गिरजे' कहलाते हैं। उनमें जाकर लोग जीवन के झंझट और हाय हाय को भूल एक उच्च भावमय जगत् में प्रवेश करके शांति पाते हैं। वर्तमान शताब्दी के 'कला और विज्ञानसंपन्न' शिक्षित मनुष्य को इस बात के लिये दीवारों से घिरे हुए किसी संकीर्ण स्थान की आवश्यकता न होगी। उसके लिये संपूर्ण प्रकृति का पवित्र क्षेत्र खुला हुआ है। वह जिधर आँख उठा कर देखेगा उधर उसे 'जीवन की हाय हाय' तो मिलेगी पर उसके साथ ही साथ सर्वत्र 'सत्य, सत्व और सौंदर्य' की शांतिदायिनी दिव्य प्रभा का भी साक्षात्कार होगा।

———

उन्नीसवाँ प्रकरण

तत्वाद्वैतदृष्टि से धर्म

या कर्माकर्मव्यवस्था[1]

जीवन के व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं जो तभी पूरे हो सकते हैं जब कि वे उसके जगत्संबंधी सिद्धांत के अनुकूल हों। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी कर्माकर्म व्यवस्था उस अद्वैत भाव के अनुकूल होनी चाहिए जो प्राकृतिक नियमों के समुन्नत ज्ञान द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार हम इस अनंत विश्व को एक अखिल अद्वितीय सत्ता या समष्टि मानते हैं उसी प्रकार मनुष्य के आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन को भी उसी विश्वविधान का एक अंग मानते हैं। आध्यात्मिक और भौतिक दो अलग अलग जगत् नहीं हैं।

पर अधिकांश दार्शनिकों और धर्ममीमांसकों का मत इसके विरुद्ध है। जैसे कांट ने कहा है वैसे ही वे भी कहते हैं कि धार्मिक और आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् से सर्वथा अलग और स्वतंत्र है अतः मनुष्य की सदसद्विवेक बुद्धि भी उस ज्ञान से सर्वथा स्वतंत्र है जो विज्ञान द्वारा जगत् के संबंध में हमें प्राप्त होता है। सदसद्विवेक बुद्धि

---

१. धर्म से अभिप्राय आचरण पर शासन रखनेवाले नियमों से है, मत या मजहब से नहीं। मनु ने धर्म के दस मूल लक्षण बतलाए हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

इस लक्षण में स्वार्थ (धृति, शौच दम) और परार्थ (क्षमा, अक्रोध, सत्य) दोनों आ गए हैं।

अपने मत के विश्वास पर अवलंबित होती है। कांट के कथन के अनुसार सदसद्विवेक का आभास केवल व्यवसायात्मिका बुद्धि को होता है, शुद्ध बुद्धि को नहीं जिसपे भौतिक या दृश्य जगत् का बोध होता है, जिसमे चिंतन, तर्क और अनुमान आदि किए जाते हैं। ज्ञान की यह द्वैध भावना कांट के दर्शन का बड़ा भारी दोष है। इससे अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं। पहले तो कांट ने 'शुद्ध बुद्धि' का एक अपूर्व और विशाल भवन खड़ा करके अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि उसमें ईश्वर अर्थात् पुरुषविशेष तथा स्वतंत्र और अमर आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है, उसकी सत्ता का कोई प्रमाण नहीं है। पीछे उसने भी प्रमाणहीन कल्पना का सहारा लिया और 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का एक दूसरा हवाई महल खड़ा करके उसमें इन कल्पित वस्तुओं के लिए जगह की।

विश्वास के आधार पर स्थित इस भवन में उसने 'कर्माकर्म की व्यवस्था' प्रतिष्ठित की। इस व्यवस्था के अनुसार सदसत्संबंधी व्यापक नियम सर्वथा स्वतंत्र और स्वतःप्रमाण हैं, वे और किसी वस्तु की प्रामाणिकता पर निर्भर नहीं। भौतिक या दृश्य जगत् में जो नियम दिखाई पड़ते हैं उनके द्वारा उनका समाधान नहीं हो सकता। वे चिन्मय जगत् के अंतर्गत हैं। वे आत्मानुभूति के नियमों में दाखिल हैं अर्थात् किसी कर्म के उपस्थित होने पर आत्मा उसके भले या बुरे होने के संबंध में अपनी स्थिति का आप जो बोध करती है वह सदा एक ही प्रकार का होता है। इसी आदेश पर चलना धर्म या सदाचार है। कांट का सिद्धांत यदि ठीक मानें तो संसार के सब मनुष्यों में एक ही प्रकार की कर्तव्यबुद्धि होनी चाहिए। पर इधर जो पृथ्वी पर की भिन्न भिन्न जातियों का अनुसंधान किया गया है उससे यह बात पाई नहीं जाती। अनुसंधान से यही पाया जाता है कि भिन्न भिन्न जातियों में, विशेषतः असभ्य जातियों में, कर्तव्य की भावनाएँ भिन्न

भिन्न हैं। वे कर्म और रीतिरिवाज जिन्हें हम घोर पाप और अपराध समझते हैं, कुछ जातियों द्वारा कुछ अवस्थाओं में धर्म और कर्तव्य माने जाते हैं।

कांट ने बुद्धि के जो दो परस्परविरुद्ध भेद किए उसका खंडन यद्यपि पीछे से लोगों ने किया पर उसे बहुत से लोग अभीतक मानते जाते हैं। बात यह है कि उससे मतवादियों और ख्याली पुलाव पकानेवालों की निराधार कल्पनाओं को बहुत कुछ सहारा मिला है। इसीसे यह द्वैधभाव उन्हें अत्यंत प्रिय है। पर कांट ने 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का जो आडंबर खड़ा किया था उसे आधुनिक विज्ञान ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। परमतत्व की अज्ञता के नियम द्वारा जगद्विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि कोई पुरुषविशेष रूप ईश्वर नहीं है। भिन्न भिन्न जंतुओं के मनोव्यापारों के मिलान और अंतःकरण के क्रमागत विकास के निरीक्षण द्वारा जिस आधुनिक मनोविज्ञान की स्थापना हुई है, उसने प्रमाणित कर दिया है कि अमर आत्मा कोई वस्तु नहीं। शरीरव्यापार शास्त्र द्वारा 'कर्मसङ्कल्पवृत्ति' के स्वातंत्र्य का भी खंडन हो गया है। विकास सिद्धांत से यह अच्छी तरह स्थिर हो गया है कि प्रकृति के उन्हीं अविचल या शाश्वत नियमों के अधीन सजीव सृष्टि तथा उसके धर्म आदि सब व्यापार भी हैं जिनके अधीन जड़ सृष्टि है। अस्तु, मनुष्य तथा उसका कोई व्यापार, क्या मानसिक, क्या धर्म और क्या आचारसंबंधी, उन नियमों के परे नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने कांट के द्वैधभाव का खंडन ही नहीं किया है उसके स्थान पर सच्ची कर्तव्याकर्तव्य व्यवस्था भी स्थापित की है। इस व्यवस्था के अनुसार कर्तव्यबुद्धि कल्पना के आधार पर स्थित नहीं है बल्कि 'सामाजिक प्रवृत्ति' पर निर्भर है जो समुदाय में रहनेवाले सब जंतुओं में पाई जाती है। धर्म या सदाचार का सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि स्वार्थ और परार्थ के बीच सामंजस्य स्थापित हो।

दोनों के पलड़े इस प्रकार तुले रहें कि व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा न पड़े, अपनी भलाई और दूसरे की भलाई दोनों का साधन बराबर होता जाय, दोनों के बीच विरोध न आने पावे। प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने विकास सिद्धांत की दृढ़ नींव पर इस प्रकार की तात्त्विक कर्तव्याकर्तव्य व्यवस्था स्थापित की है।[1]

मनुष्य समुदाय में रहनेवाला प्राणी है अतः समुदाय में रहनेवाले और दूसरे जंतुओं के समान उसके दो प्रकार के कर्तव्य हैं; एक अपने प्रति और दूसरा उस समाज के प्रति जिसमें वह रहता है। एक का साधन स्वार्थ कहलाता है और दूसरे का परार्थ या परोपकार। मनुष्य के लिए दोनों उचित हैं। यदि मनुष्य को समाज में रहना है तो उसे केवल अपना ही भला न देखना चाहिए, दूसरों का भला भी देखना चाहिए जिनके साथ उसे रहना है। उसे यह समझना चाहिए कि समाज के हित से उसका भी हित है। यदि समाज का कोई भी

---

१. पाश्चात्य दर्शन में कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र के संबंध में कई प्रकार के सिद्धांत पाए जाते हैं—(इन्ट्यूशनल थ्योरी) 'विवेकबुद्धिवाद' जो सदसत् का भेद करनेवाली बुद्धि को स्वभावसिद्ध मानता है, 'प्रेरणावाद' (मॅटिवेटल ऑर इमोशन लथ्योरी) जो कर्मों के प्रति स्वाभाविक रुचि और घृणा की प्रेरणा को सदसद्भेद का मूल बतलाता है, सुखवाद (युडेमिटेरियन थ्योरी) जो समाज के लाभालाभ की दृष्टि से, अर्थात् किस कर्म से जिसे अधिक लोगों के जितने अधिक सुख का साधन होता है, कर्माकर्म का निर्णय करता है। प्रथम दो सिद्धांतों के अनुयायियों में ही कुछ आध्यात्मिक दृष्टि रखनेवाले दार्शनिक हुए हैं जो धर्म और आचार के नियमों को नित्य और स्वतंत्र मानते हैं। पर प्रायः सब दार्शनिकों ने शब्दों पर ही तर्कवितर्क करके भारी वाग्जाल खड़ा किया है। पर जब से आधिभौतिक शास्त्रों के विविध अंगों की अपूर्व उन्नति होने लगी तब से विचारपद्धति बदल गई। व्यवहार और समाजविकास की दृष्टि से धर्म और आचार इन दोनों की व्याख्या की गई।

अनिष्ट होगा तो उस समाज में रहने के कारण वह उस अनिष्ट से बच नहीं सकता। सिद्धांत रूप में तो इसका खंडन कोई नहीं कर सकता पर इसके विरुद्ध व्यवहार लोग बराबर करते हैं।

'स्वार्थ' और 'परार्थ' दोनों पर समान दृष्टि रखना हमारे तत्वाद्वैत धर्म का मुख्य तत्व है। आत्मोपकार और परोपकार दोनों इस धर्म के अंतर्गत हैं। 'दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें', ईसाई धर्म की इस शिक्षा में यह बात स्पष्ट है कि हमारे लिए अपने प्रति भी वैसे ही पवित्र कर्तव्य हैं जैसे दूसरों के प्रति। ये युगपद् धर्म कुटुंब और समाज की रक्षा के लिए परम आवश्यक प्राकृतिक नियम हैं। आत्मभाव से व्यक्ति की रक्षा होती है और परार्थभाव से व्यक्तियों से बनी हुई जाति की। प्राणियों के समूहबद्ध होने के लिए उनमें एक प्रकार की सामाजिक प्रवृत्ति सजीव सृष्टि की आदिम अवस्था में ही उत्पन्न हुई। यह वंशपरंपरागत प्रवृत्ति समूह में रहनेवाले छोटे बड़े सब जंतुओं में पाई जाती है। विकास परंपरानुसार उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के जीवों की उत्पत्ति के साथ साथ यह प्रवृत्ति भी वृद्धि को प्राप्त होती गई। लोक के प्रति जो हमारे धर्म हैं वे इसी मूल प्रवृत्ति के उन्नत या प्रवर्द्धित रूप हैं जो धीरे धीरे वर्तमान अवस्था को पहुँचे हैं।

सभ्य मनुष्यों के बीच सदाचार संबंधी जो नियम पाए जाते हैं वे बहुत कुछ उनकी उस धारणा के अनुसार होते हैं जो जगत् के विषय में होती है। अतः उन नियमों का संबंध किसी न किसी मत या मजहब से रहता है।

धर्म का मुख्य तत्व उस सिद्धांत में है जिसे ईसाई लोग भी अपने मत की प्रधान शिक्षा मानते हैं। 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो दूसरे तुम्हारे साथ करें', इस कथन में धर्म

का संपूर्ण सार है पर यह बात भी समझ रखनी चाहिए कि इस धर्मतत्व की स्थापना ईसा के जन्म से हजारों वर्ष पहले प्राचीन सभ्य देशों में हो चुकी थी। सबसे पहले इस तत्व का निरूपण भारत[1] और चीन में हुआ। ईसा से ५०० वर्ष पहले कनफूची ने जो पुरुष-विशेष ईश्वर और अमर आत्मा नहीं मानता था, उपदेश दिया था कि 'हर एक आदमी के साथ वैसा कर जैसा तू चाहता है कि वह तेरे साथ करे, दूसरे के साथ वैसा कभी न कर जैसा कि तू चाहता है कि वह तेरे साथ न करे। तुझे एकमात्र इसी उपदेश की आवश्यकता है।' इसी प्रकार यूनान के कई तत्वज्ञों ने इस सिद्धांत को प्रकट किया था। अरस्तू का कथन है कि 'हमें दूसरों के साथ वैसा ही करना चाहिए जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें।' सारांश यह कि ईसाई मत ने इस सिद्धांत को भी अपने और सिद्धांतों के समान, अपने से पूर्व के मतों से विशेषतः बौद्धमत से लिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस सिद्धांत का महत्व हमारा तत्वाद्वैत धर्म भी स्वीकार करता है; क्योंकि इसमें स्वार्थ और परार्थ दोनों पर समान दृष्टि रखी गई है। पर ईसाइयों की तथा और और मतों की पुस्तकों में बहुत से विरुद्ध वाक्य मिलते हैं जिनमें स्वार्थ का एकदम परित्याग करने को कहा गया है और परार्थ ही की ओर लक्ष्य रखा गया है। पर स्वरक्षा के लिये स्वार्थ पर दृष्टि रखना आवश्यक है। आत्मरक्षा पहला धर्म है। ईसाई मत की शिक्षा है कि 'जो तुम्हें एक गाल में चपत मारे उसके लिए दूसरा गाल भी फेर दो, अपने वैरियों से प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दें उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुम्हें सतावें

१. शरशय्या पर भीष्म ने जो उपदेश दिए हैं उनमें एक यह भी है कि "जो अपने को अच्छा लगे उसे दूसरों के लिए भी अच्छा समझे और जो अपने को अप्रिय हो उसे दूसरों के लिए भी अप्रिय समझे।" बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धांत कई जगह कहा गया है।

उनके कल्याण के लिये प्रार्थना करो' इत्यादि। ये बातें सुनने में तो बहुत अच्छी लगती हैं पर अस्वाभाविक हैं और व्यवहार में नहीं चल सकतीं। यदि कोई दुष्ट धूर्तता करके हमारा आधा माल उठा ले जाय तो क्या हमें यही चाहिए कि हम बाकी आधा भी उसके आगे उठाकर रख दें। यदि व्यापार, राजनीति आदि में इन उपदेशों का पालन किया जाय तो क्या दशा होगी। अतः यही कहना पड़ता है कि ईसाई आदि मत एकांगदर्शी हैं। उनमें परार्थभाव को तो बढ़ाकर कल्पित आदर्श खड़े किए गए हैं पर स्वार्थ का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है। यही कारण है कि 'पर उपदेश कुशल' लोगों की बातें मनुष्य समाज के बीच कहीं नहीं पाई जातीं।

दूसरी बात यह है कि ईसाई धर्मपुस्तक में शरीर को एक क्षण-भंगुर पिंजरा मात्र समझने के कारण उसकी रक्षा के लिये शौच आदि नियमों का समावेश नहीं है। हिंदूधर्म में नित्यस्नान आदि के जैसे नियम हैं वैसे ईसाई मत में नहीं। यहाँ तक कि कैथलिक संप्रदाय के बहुतेरे मठों में सबसे पवित्र और धार्मिक वह समझा जाता है जो शरीर के मैले कुचैले रहने की परवा नहीं करता, अपने कपड़े धोने-धुलाने की चिंता नहीं करता, किसी काम के किनारे नहीं फटकता और अनेक प्रकार के व्रत, उपवास तथा स्तुतिपाठ आदि में ही सारा समय व्यतीत करता है। जैन आदि कुछ मतों में शौच का इतना अभाव है और व्रत, उपवास आदि के नियम इस हद तक पहुँचाए गए हैं कि आश्चर्य होता है। शौचसंबंधी आचार प्रथम धर्म है—'आचारः प्रथमो धर्मः'। इसी प्रकार शरीररक्षा भी प्रधान कर्तव्य है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'।

एक और बड़ा भारी दोष ईसाई आदि पैगंबरी, शमई या इबरानी मतों में यह है कि उनमें मनुष्य सारी सृष्टि से अलग किया जाकर एक अतीत पद को पहुँचा दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि सारी

सृष्टि मनुष्य ही के लिये है, उसमें जो कुछ होता है सब मनुष्य ही के हानि लाभ के लिये। आदमी न होता तो शायद दुनिया भी न होती। इन मतों में मनुष्य की दृष्टि मनुष्य ही तक रह गई है, आगे सृष्टि के उस अपार विस्तार की ओर जरा भी नहीं गई है मनुष्य जिसका एक क्षुद्र से क्षुद्र अंश मात्र है। बाइबिल में मनुष्य ने अपने को 'ईश्वर की प्रतिमूर्ति' कहा है पर सच पूछिए तो ईश्वर को ही उसने अपनी प्रतिमूर्ति समझा है। अपनी प्रधानता के मद में इन मतप्रवर्तकों ने यह न समझा कि कुत्ते, बिल्ली, बंदर आदि जो सुखदुःख का अनुभव करनेवाले और प्रयत्नशील जीव हैं उन्हीं में से एक मनुष्य भी है। अहंकारवश यदि मनुष्य अपने को अलग समझे और अपने से छोटे जीवों के जी को जी न समझे तो यह उसकी सरासर भूल है। सम्यक् दृष्टि के अभाव से ही ईसाई आदि मतों में अन्य जीवों, गाय, भैंस, कुत्ते, बंदर इत्यादि के प्रति दया और स्नेह का वैसा भाव थोड़ा बहुत भी नहीं पाया जाता जैसा हिन्दू, बौद्ध आदि धर्मों में कूट कूट कर भरा हुआ है। ईसाई देशों में जाकर देखिए कि पशुओं के प्रति कितनी निष्ठुरता की जाती है, किस निर्दयता से उनके प्राण लिए जाते हैं। ईसाई लोग पशुओं के जी को जी ही नहीं समझते। इस विषय में हमारा तत्वाद्वैत धर्म कितना उदार है। डारविन ने अपने विकासवाद द्वारा हमें यह सुझा दिया है कि हमारी उत्पत्ति बनमानुसों से हुई है और सब जीव एक ही प्रकार के मूल अणुजीवों से क्रमशः विकास द्वारा उत्पन्न हुए हैं। अतः यों तो सभी जीव हमारे संबंधी हैं पर स्तनपायी पशु हमारे सगे हैं। आधुनिक शारीरिक या शरीरव्यापार विज्ञान ने हमें यह बतला दिया है कि हममें और उनमें एक ही प्रकार के संवेदन सूत्र हैं, एक ही प्रकार की इंद्रियाँ हैं और एक ही प्रकार की सुखदुःख का अनुभव करने की वृत्ति है। कोई तत्वाद्वैतवादी या प्रकृति-विज्ञानी पशुओं के प्रति वैसी निष्ठुरता और क्रूरता नहीं कर सकता

जैसी ईश्वर के संगे बनकर ईसाई लोग करते हैं। ईसाई मत हमें प्रकृति के प्रेम से दूर रखता है।

ईसाई आदि वैराग्यप्रधान मतों में सांसारिक जीवन तो कुछ समझा ही नहीं गया है, अतः उनकी शिक्षाओं पर लोग यदि चलें तो फिर वही दशा हो कि 'सकल पदारथ हैं जग माहीं। भाग्यहीन नर पावत नाहीं।' विज्ञान ने जो रेल, तार आदि के सुबीते कर दिए हैं; संगीत, चित्रकारी आदि में जो अपूर्व चमत्कार आविष्कृत हुए हैं, वे सब सभ्य मनुष्य के 'सांसारिक सुख' हैं अतः उनसे सच्चे ईसाइयों को, सच्चे विरक्तों को दूर ही रहना चाहिए। अस्तु, यही कहना पड़ता है कि ईसाई मत सभ्यता का शत्रु है। यहीं तक नहीं, उस पारिवारिक जीवन की भी ईसाई मत उपेक्षा करता है जो समूह में रहनेवाले समस्त उच्च कोटि के प्राणियों का प्रकृत लक्षण है। परलोक की ओर ही लौ लगाए रखने के कारण ईसा ने इस लोक के पारिवारिक कर्तव्यों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपने माता पिता के प्रति उनके स्नेह का कोई दृष्टांत पाया नहीं जाता। स्वयं घरबारी न होने के कारण दांपत्य प्रेम की वे निंदा ही करते रहे। उनके शिष्य पाल ने यहाँ तक कहा कि 'स्त्री का स्पर्श तक करना बुरा है।' यदि इस शिक्षा पर दुनिया चलती तो धर्म अधर्म का आधार ही नष्ट हो जाता। पारिवारिक जीवन ही उन्नति का प्रथम विकास है। पारिवारिक जीवन से सामाजिक जीवन का और सामाजिक जीवन से राजनैतिक या राष्ट्रीय जीवन का विकास होता है। स्त्रियों की उपेक्षा करने से संसार नहीं चल सकता। स्त्री और पुरुष दोनों समाज के अंग हैं, दोनों के मेल से ही अर्थ, धर्म आदि का साधन हो सकता है। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी स्त्री जाति का महत्व स्वीकार किया गया, स्त्री पुरुष की अर्द्धांगिनी कहलाई। स्त्रियों के रूप गुण आदि द्वारा मनुष्य में सौंदर्य की भावना का कितना विकास

हुआ है और काव्य तथा चित्रकला आदि में कितनी मोहिनी शक्ति आई है। पर स्त्रियों को 'पैर की धूल' समझनेवाली प्राचीन असभ्य जातियों का भाव ईसा में भी भरा था।

ईसा के इस भाव का परिणाम यह हुआ कि पोप द्वारा प्रवर्तित ईसाई मत में उपदेशकों और पादरियों के लिये अविवाहित रहने का कठोर नियम बनाया गया। पर इस कठोर नियम का फल क्या हुआ? व्यभिचार की घोर वृद्धि। पोप के अधीन धर्माचार्य लोग जिस समय नास्तिकों के दंड की व्यवस्था देने बैठते थे उस समय वे व्यभिचारिणी स्त्रियों से घिर कर बैठते थे। पादरियों के व्यभिचार की सीमा इतनी बढ़ी कि प्रजा घबरा गई। अब भी योरप के उन देशों में जिनमें कैथलिक संप्रदाय के ईसाई बसते हैं, अविवाहित रहने के नियम के विरुद्ध आंदोलन चला करते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि संसार में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों या मजहबों के प्रति वर्तमान सभ्य राज्यों का क्या कर्त्तव्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अब वह समय आ गया है जब राज्य से किसी मतविशेष से कोई लगाव न रहे। न राज्य अपनी ओर से किसी मत को आश्रय दे, न सतावे। किसी मजहब के प्रचार आदि के लिये राज्य की ओर से कोई प्रयत्न नहीं होना चाहिए। सब मजहबवालों को अपने अपने विश्वास के अनुसार चलने देना चाहिए। हाँ यदि कोई संप्रदाय ऐसा है जिसके विधान व्यभिचारमय हैं और जिससे सदाचार को धक्का पहुँचने की संभावना है तो उस पर कुछ रोक रखनी चाहिए, बस। दूसरी बात यह है कि सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए जो व्यवस्था हो वह मतमतांतरों से सर्वथा स्वतंत्र रहे। विद्यालय में मतमतांतरों की शिक्षा को स्थान न देना चाहिए। यह बालकों के मातापिता का काम होना चाहिए कि वे उनका विश्वास जिस मत या मजहब पर चाहे जमावें। स्कूलों और कालिजों को

मजहबी झगड़ों से अलग रखना चाहिए। वे शुद्ध ज्ञान के मंदिर हैं। उनमें मानसिक शक्ति की वृद्धि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उनमें से निकले हुए लोगों को अन्वीक्षण द्वारा सृष्टि के नाना रहस्यों को समझने में सहायता मिले। सर्वसाधारण की शिक्षा के संबंध में नीचे लिखी बातों का ध्यान यदि रखा जाय तो बहुत अच्छा हो।

(१) अबतक शिक्षा का जो क्रम रहा है उसमें मनुष्य की कृतियों का परिचय कराने की ओर ही अधिक प्रवृत्ति रही है। व्याकरण, कानून, धर्मशास्त्र आदि पर अधिक जोर रहा है जिनमें मनुष्यों के बनाए हुए नियम संगृहीत हैं। प्रकृति के अध्ययन की ओर उतना ध्यान नहीं रहा है।

(२) अब जो विद्यालय होंगे उनमें अध्ययन की प्रधान वस्तु होगी प्रकृति। यह जगत् किस प्रकार का है इस बात को अब शिक्षा प्राप्त करके लोग समझेंगे। वे अपने को प्रकृति से अलग करके न देखेंगे बल्कि उसी का एक सर्वोच्च विकास समझेंगे।

(३) अबतक संस्कृत, अरबी, लैटिन, यूनानी इत्यादि पुरानी भाषाओं के पठनपाठन में बहुत लोगों का बहुत अधिक समय लगाया जाता था। इन भाषाओं का जानना जरूरी है पर एक हदतक, सो भी सबके लिये नहीं। अब इन भाषाओं के बिना भी ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। दर्शन, विज्ञान आदि के नवीन तत्व अब प्रचलित भाषाओं में ही लिखे जाते हैं।

(४) अब प्रचलित देशभाषाओं की उन्नति की ओर ही ध्यान होना चाहिए, उनमें नई पुरानी सब बातों का समावेश होना चाहिए।

(५) इतिहास की शिक्षा में ऊपरी बातों जैसे, राजवंश परंपरा, युद्ध इत्यादि की ओर उतना ध्यान न होना चाहिए जितना किसी

जाति की आभ्यंतर दशा तथा उसकी सभ्यता और ज्ञान की वृद्धि और ह्रास के क्रम की ओर।

(६) विकासशास्त्र की शिक्षा की पूर्णता के लिये यह आवश्यक है कि जगद्विकास विज्ञान की शिक्षा हो। भूगोल के साथ भूगर्भशास्त्र, प्राणिविज्ञान और मानवविज्ञान जिसमें मनुष्यजाति के विकास आदि का विस्तृत वर्णन होता है, की भी शिक्षा अवश्य होनी चाहिए।

(७) प्राणिविज्ञान के स्थूल तत्वों का ज्ञान प्रत्येक शिक्षित पुरुष को होना चाहिए। वैज्ञानिक शिक्षा द्वारा अन्वीक्षण की शक्ति प्राप्त हो जाने से उनकी ओर चित्त आप से आप आकर्षित होगा। पीछे शारीरिक अर्थात् शरीरव्यापारविज्ञान और अंगविच्छेदशास्त्र का भी कुछ अभ्यास कराना चाहिए।

(८) पदार्थविज्ञान और रसायनशास्त्र की शिक्षा भी गणित के साथ साथ अवश्य होनी चाहिए।

(९) रेखाओं द्वारा आकृतिलेखन (ड्राइंग) और यदि हो सके तो थोड़ी बहुत चित्रकारी का अभ्यास भी प्रत्येक छात्र को होना चाहिए। फूलपत्ते, पशु, पक्षी, समुद्र, मेघ आदि के अपने हाथ से बनाए चित्रों के द्वारा मनोरंजन भी होगा और प्रकृति के अन्वीक्षण की उत्कंठा और उसके रहस्यों को समझने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न होगी।

(१०) छात्रों के व्यायाम की ओर भी अधिक ध्यान रखना होगा। कसरत करने और तैरने का अभ्यास सबको रहना चाहिए। पर सबसे अच्छा तो यह होगा कि कम से कम सप्ताह में एक दिन दूर दूर तक भिन्न भिन्न स्थानों में पैदल सैर करने जाया करें। इससे उन्हें प्रकृति के नाना पदार्थों के अन्वीक्षण का अवसर मिलेगा। इस प्रकार के अन्वीक्षण द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह अधिक स्थायी होगा।

अबतक शिक्षा का उद्देश्य यही समझा जाता रहा है कि छात्र ऐसे व्यवसायों और ऐसे राजकीय पदों के लिये तैयार हो जायँ जो

समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। अब से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह होगा कि उनमें स्वतंत्र विचार करने की और सीखी हुई बातों को स्पष्ट रूप से समझने की शक्ति आवे। यदि ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना वांछनीय है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय सदस्य आदि चुनने का अधिकार हो, तो यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि इस प्रकार उन्नत और परिष्कृत कर दी जाय कि वह राज्य का हित अहित समझ सके।

———

बीसवाँ प्रकरण

जगत् के रहस्यों का उद्घाटन

अब यह देखना है कि विज्ञान के अनेक अंगों की अपूर्व उन्नति से जगत् के रहस्यों का कहाँ तक उद्घाटन हुआ है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इधर सौ वर्षों के बीच प्रकृति के नाना क्षेत्रों का जितना सूक्ष्म अनुसंधान हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। बहुत से ऐसे नए नए शास्त्रों और विज्ञानों की स्थापना हुई है जिनकी ओर सौ वर्ष पहले किसी का ध्यान भी न गया था। अब विचारने की बात यह है कि ज्ञानविज्ञान की इस उन्नति से हम जगत् के नाना विधानों को समझने में अधिक समर्थ हुए हैं अथवा जैसे पहले थे वैसे ही हैं। मेरा कहना यह है कि हम कहीं अधिक समर्थ हैं। विज्ञान ने दिखा दिया है कि कार्यकारण का भौतिक नियम समस्त जगत् में चलता है और समस्त जगत् को चलाता है। कोई वस्तु उसके बाहर नहीं। मनुष्य का अंतःकरण भी इसी कार्यकारण परंपरा द्वारा उत्पन्न हुआ है और चल रहा है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि विज्ञान के मुख्य मुख्य क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व उन्नति हुई है उसका संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाय।

१ ज्योतिर्विज्ञान की उन्नति

मनुष्य ने अपने विकास आदि का ज्ञान तो अब प्राप्त किया है पर आकाश के नक्षत्रों और ग्रहों की स्थिति के संबंध में सभ्य जातियों ने पाँच हजार वर्ष पहले भी बहुत जानकारी प्राप्त की थी। हिंदू, चीनी, मिस्री इत्यादि प्राचीन पूर्वीय सभ्य जातियों को ज्योतिष की जितनी

जानकारी थी उतनी योरप के ईसाइयों को उनसे चार हजार वर्ष पीछे भी नहीं प्राप्त थी। चीन देश में ईसा से २६१७ वर्ष पहले एक सूर्य ग्रहण का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया था और ११०० वर्ष पहले क्रांतिवृत्त का धरातल शंकु के प्रयोग द्वारा निश्चित किया गया था। बेचारे ईसा को ज्योतिष का कुछ भी ज्ञान न था। वे आकाश और पृथ्वी को किसी के हाथ की बनाई चीजें समझते थे। पृथ्वी ही को वे संपूर्ण जगत् का केंद्र और मनुष्य ही को सब कुछ समझते थे। अतः ईसाई मत के कारण योरप में ज्योतिष के संबंध में बहुत दिनों तक कुछ उन्नति नहीं हो सकी। अंत में सन् १५०० में जब कोपरनिकस ने टालमी के सिद्धांत का खंडन करके यह सिद्धांत स्थापित किया कि सूर्य ही केंद्र है जिसकी पृथ्वी इत्यादि ग्रहपिंड परिक्रमा कर रहे हैं, तब ईसाई धर्माचार्यों में बड़ा कोलाहल मचा, क्योंकि ईसाई मत की दृष्टि में पृथ्वी ही जगत् का केंद्र है और मनुष्य ही उसका एकमात्र अधिष्ठाता देवता है। पीछे गैलीलियो और केप्लर ने कोपरनिकस के सिद्धांत को पुष्ट करते हुए ग्रहों की गति आदि का भौतिक नियमानुसार निरूपण किया। अंत में सन् १६८६ में न्यूटन ने अपने आकर्षणसिद्धांत द्वारा गति की मीमांसा की और आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान की दृढ़ नींव डाली।

सन् १७५५ में प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने संपूर्ण जगत् के प्राकृतिक विकास का क्रम न्यूटन के सिद्धांत के आधार पर निरूपित किया। लाप्लेस अपनी स्वतंत्र परीक्षाओं द्वारा उसी सिद्धांत पर पहुँचा जिस पर कांट पहुँचा था। उसने संपूर्ण जगत् की गति को प्राकृतिक या भौतिक विधान सिद्ध कर दिया और नए नए अनुसंधानों के लिये मार्ग खोल दिया। फोटोग्राफी और रश्मिविश्लेषण के द्वारा ज्योतिष के साथ भौतिक विज्ञान और रसायन का योग हुआ जिससे एक बड़ा भारी सिद्धांत निकला। यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि समस्त विश्व

में एक ही द्रव्य का प्रसार है। जिस द्रव्य से हमारा यह भूपिंड बना है उसी द्रव्य से सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध इत्यादि सब ग्रह, नक्षत्र आदि बने हैं और उस द्रव्य के भौतिक और रासायनिक गुण हम यहाँ देखते हैं, वे ही सर्वत्र हैं।

ज्योतिष के साथ विज्ञान के मिलने से जिस ज्योतिर्विज्ञान की सृष्टि हुई उसकी सहायता से अब हमें निश्चय हो गया है कि समस्त विश्व वस्तुतः एक है, एक ही अद्वितीय तत्व का प्रसार सर्वत्र है। यह नहीं है कि जिस द्रव्य को अनेक रूपों में हम इस पृथ्वी पर पाते हैं उससे परे या सर्वथा भिन्न कोई और तत्व दूसरे लोकों या ग्रहनक्षत्रपिंडों में है। द्रव्य के गुण जो यहाँ हैं वे ही अंतरिक्ष के सब भागों में हैं। जो भौतिक नियम यहाँ चलते हैं वे ही सर्वत्र चलते हैं। जगत् की गति नित्य है। उसके प्रत्येक भाग में रूपांतर या परिवर्तन का क्रम सदा चलता रहता है। प्रकृति के भीतर विकृति का क्रम अलग अलग बराबर जारी रहता है। भारी भारी दूरबीनों से यदि हम अंतरिक्ष में चारों ओर देखते हैं तो कहीं कहीं लपट के रूप का अत्यंत सूक्ष्म और पतला ज्वलंत वायव्य पदार्थ फैला दिखाई पड़ता है जिसे ज्योतिष्क नीहारिका कहते हैं। इसके ताप और तेज का अनुमान तक हमलोग नहीं कर सकते। इसी को हम हिरण्यगर्भ[1] कह सकते हैं जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी तेजःपुंज के जमने से ग्रह, नक्षत्र आदि के पिंड बनते हैं। यह द्रव्य का वह प्रारंभिक रूप है जो रासायनिक मूल द्रव्यों में विभक्त नहीं हुआ रहता। सबसे मूल साम्यावस्था में तो द्रव्य ग्राह्य अर्थात् ईथर या आकाश द्रव्य इन दो रूपों में भी विभक्त नहीं रहता। जिस प्रकार आकाश में कहीं कहीं

१. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। अर्थात पहले हिरण्यगर्भ था और उस हिरण्यगर्भ से सब सृष्टि उत्पन्न हुई।

लोकों के उपादान तेजःपुंज दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार कहीं कहीं ऐसे तारे भी दिखाई पड़ते हैं जो ज्वलंत वायव्य पदार्थ के कुछ ठंढे पड़ने से देदीप्यमान द्रवपदार्थ जैसे गरमी से पिघलकर पानी से भी पतला होकर बहता हुआ लाल लोहा, के रूप में हो गए हैं। कहीं ऐसे तारे मिलते हैं जो बिलकुल ठंढे पड़ गए हैं; जिनमें कुछ भी गरमी नहीं रह गई है। शनि के समान बहुत से ऐसे तारे भी देखे जाते हैं जो चारो ओर घूमते हुए ज्योतिर्वलय से वेष्टित रहते हैं। ज्योतिष्क-नीहारिका के ये वलय क्रमशः जमते जमते चंद्रमा बन जायँगे जो उन तारों की परिक्रमा किया करेंगे। हमारा चंद्रमा वलय के रूप में था जो जमकर पृथ्वी से उसी प्रकार अलग हुआ है जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य से अलग हुई है। कौन सा तारा विकास की किस अवस्था में है इसका बहुत कुछ पता हमें उसके रंग से लग सकता है।

बहुत से नक्षत्र, जिनके प्रकाश के यहाँतक पहुँचने में हजारों वर्ष लगते हैं, हमारे सूर्य के ही समान हैं। उनके अधीन भी अनेक ग्रह, उपग्रह हैं जो उनकी परिक्रमा किया करते हैं। इन ग्रहों में से हजारों लाखों ऐसे होंगे जो उसी अवस्था में होंगे जिस अवस्था में हमारी पृथ्वी है, अर्थात् उनके ऊपर न तो इतना उग्र ताप ही होगा कि जल वाष्प के रूप में ही रहे, और न इतनी गहरी सरदी ही होगी कि वह ठोस होकर ही जमा रहे, उनमें भी जल द्रव अवस्था में होगा। जल की इसी अवस्था में अंगारक द्रव्य में वह अपूर्व संयोग संभव होता है जिससे कललरस का प्रादुर्भाव होता है। यही कललरस जीवनतत्व है। अत्यंत सूक्ष्म जीवाणु कललरस रूप ही होते हैं और अंगारक और नाइट्रोजन के संयोगविशेष से स्वतः उत्पन्न होते हैं। बहुत संभव है कि पृथ्वी से मिलतीजुलती अवस्थावाले ग्रहों में भी जीवोत्पत्ति उसी क्रम से हुई हो जिस क्रम से पृथ्वी पर हुई है। जीवोत्पत्ति के लिये जल का द्रव रूप में होना आवश्यक है। जो तारे तरल तेजःस्वरूप

हैं उनमें जल भाप के ही रूप में रहता है और जो नक्षत्र या सूर्य जीवनशक्ति का विसर्जन करके बिलकुल ठंढे हो गए हैं उनमें जल जब रहेगा तब ठोस बर्फ के रूप में। ऐसे तारों में जीव नहीं रह सकते। अपने वर्तमान ज्ञान के अनुसार हम नीचे लिखी बातों का अनुमान कर सकते हैं—

१. यह बहुत संभव है कि जिस प्रकार क्रमशः हमारी पृथ्वी पर जीवोत्पत्ति हुई है उसी प्रकार हमारे इस सूर्य के और ग्रहों में जैसे, मंगल और शुक्र तथा दूसरे सूर्यों के ग्रहों में भी हुई हो, अर्थात् आदि में कललरस के अणुरूप जीव मोनरा और फिर उनसे एकघटक अणुजीव पहले अणूद्भिद और फिर कीटाणु उत्पन्न हुए हों।

२. यह बहुत संभव है कि इन एकघटक अणुजीवों से पहले घटकों के समूहपिंड जैसे, स्पंज आदि बने हों और फिर तंतुजाल द्वारा एकीभूत अनेकघटक जीवों का प्रादुर्भाव हुआ हो।

३. यह बहुत संभव है कि पौधों में पहले निरवयव निष्पुष्प पौधे जैसे, भुकड़ी, खुमी आदि जिनमें जड़, डाल, पत्ते, फूल आदि नहीं होते केवल घटकों की तह पर तह मात्र होती है, उत्पन्न हुए हों फिर दलकांडयुक्त निष्पुष्प पौधे जैसे, पानी के ऊपर की काई, सेवार आदि जिनमें डाल, पत्ते तो होते हैं पर जड़ नहीं होती, हुए हों और सब के पीछे पुष्पवान् पौधे।

४. यह बहुत ही संभव है कि जंतुओं की उत्पत्ति भी इसी क्रम से हुई हो अर्थात् पहले कललात्मक अणुजीवों से कलात्मक अनेकघटक जीव जिनके शरीर में घटकजाल की दो झिल्लियों से बना केवल एक कोठा होता है, जैसे स्पंज, मूँगा आदि हुए हों और उनसे द्विकोष्ठ जीव जिनके शरीर के कोठे से पेट का कोठा अलग होता है, उत्पन्न हुए हों।

५. पर इसमें बहुत संदेह है कि इस पृथ्वी पर जीवधारियों की भिन्न भिन्न शाखाएँ जिन जिन रूपों में प्रकट हुई हैं, ठीक उन्हीं रूपों

२. भूगर्भशास्त्र की उन्नति

भूगर्भशास्त्र का यथार्थ ज्ञान न होने से प्राचीनों को पृथ्वी की उत्पत्ति आदि के संबंध में पक्की जानकारी नहीं थी। बहुत दिनों तक लोग धर्मग्रंथों में दी हुई कथाओं पर ही संतोष किए बैठे थे। यहूदी और ईसाई यही समझे हुए थे कि पृथ्वी को बने केवल छ हजार वर्ष हुए। पृथ्वी बनी किस प्रकार इसका उत्तर देने के लिये वे मूसा की कहानी का ही सहारा लेते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि मूसा ने जो सृष्टिकथा लिखी है वह प्राचीन असुरों और हिंदुओं की पौराणिक कथाओं से ली गई है। सन् १७५० के उपरांत पृथ्वी की नाना तहों की जाँच शुरू हुई जिससे बहुत सी नई बातों का पता लगा। भूगर्भशास्त्र के संस्थापक बर्नर का कहना था कि पृथ्वी की जितनी तहें हैं सब की सब जल के भीतर बनी हैं। पर १७८८ में हटन आदि वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया कि केवल पर्तवाली तहें या चट्टानें जल के भीतर बनी हैं, इसीसे उनमें पूर्वकाल के प्राणियों के पंजर पाए जाते हैं। बाकी जो ढोंकों की आग्नेय पर्वतश्रेणियाँ हैं उनकी चट्टानें आग से पिघले हुए द्रव्य के ठढे पड़कर जमने से बनी हैं। सन् १८३० में लायल ने यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी का तल लगातार होनेवाले प्राकृतिक व्यापारों के द्वारा बहुत धीरे धीरे अपने वर्तमान रूप को पहुँचा है। फिर इस विश्वास के लिये कोई जगह नहीं रह गई कि किसी दैवी प्रेरणा से पृथ्वी बात की बात में बन गई।

सब से बड़ा काम उन अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा हुआ जो पृथ्वी की नाना तहों के भीतर पाए गए। पृथ्वी के भिन्न भिन्न कल्पों का भोगकाल और उन कल्पों के प्राणियों का बहुत कुछ ब्योरा इस परीक्षा द्वारा मालूम हुआ। यह बात पूर्णतया निश्चित हो गई कि पृथ्वी की वह ठोस पपड़ी जिसपर हमलोग बसते हैं, द्रव अग्नि के

गोले क्रमशः ठंढे पड़कर जमने से बनी है। कहीं पपड़ी के सुकड़ने, पिघले हुए आग्नेय द्रव्य के ठंढी सतहपर आने तथा जल की क्रीड़ा से ही पृथ्वी की परतें और पहाड़ आदि बने हैं। ये शक्तियाँ अब भी बराबर कार्य कर रही हैं पर उनका कार्य इतने धीरे होता है कि हमें उसका कुछ भी पता नहीं लगता।

आधुनिक भूगर्भ विद्या की दो बातें तो सब दिन के लिये सिद्ध हो गईं। एक तो यह कि इस भूतल और उसपर के पहाड़ों आदि की रचना किसी भूतातीत चेतन शक्ति द्वारा बात की बात में नहीं हुई है। दूसरी यह कि इस सृष्टि को हुए जितना काल पैगंबरी मतवाले समझते थे उससे कहीं अधिक काल एक एक पहाड़ या चट्टान की तह बनने में लगा है।

३. भौतिकविज्ञान और रसायन की उन्नति

इन सौ वर्षों के बीच विज्ञान में जो उन्नति हुई है वह किसी से छिपी नहीं है। भाप और बिजली के द्वारा मनुष्य के नाना व्यापारों में जो अपूर्व चमत्कार आ गया है उससे सत्यज्ञान का प्रभाव प्रत्यक्ष है। व्यवहार के जितने अंग हैं, क्या व्यापार, क्या कृषि, क्या शिल्प, क्या चिकित्सा सब में विज्ञान द्वारा अपूर्व उन्नति हुई है। व्यवहारदृष्टि से भी कहीं अधिक तत्त्वदृष्टि से इस उन्नति का महत्व हमें स्वीकार करना पड़ता है। प्रकृति का अधिक ज्ञान होने से अब हम जगत् के रहस्यों पर पहले से कहीं अधिक ठीक विचार कर सकते हैं। विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर जो दार्शनिक सिद्धांत स्थिर किए जायँगे, वे कहीं अधिक सुसंगत होंगे।

४. प्राणिविज्ञान की उन्नति

इस विद्या का पहले लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं था। इधर सौ वर्षों के बीच प्राणियों के संबंध में जितनी बातों का पता लगा है, पुराने समय के लोगों के अनुमान तक में वे नहीं

आई थीं। अंगविच्छेद शास्त्र, शरीर व्यापार विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, जंतु विभाग शास्त्र, जंतुविकासशास्त्र, जातिविकासशास्त्र में इतनी नई नई बातों का पता लगा है कि हमारी आँखें खुल गई हैं। प्राणिविज्ञान की उन्नति दो रूपों में हुई है, एक तो बहुत सी बातों के अलग अलग और ठीक ठीक ब्योरे मालूम हुए हैं जिनसे बहुत कुछ काम निकलता है। दूसरे इन बातों की संगति मिलाकर देखने से प्राणतत्व तथा उसके कारण आदि के संबंध में हम सुव्यवस्थित सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं। इस क्षेत्र में डारविन ने सबसे बढ़कर काम किया। उसने यह दिखला दिया कि किस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कललकणिकारूप जीवों में से प्राकृतिक ग्रहण द्वारा क्रमशः अनेक रूपों के जीव प्रकट हुए हैं। अब हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि क्षुद्र कीटाणुओं से लेकर मनुष्य तक में एक ही तत्व का विधान नाना रूपों में हुआ है, किसी में कहीं से और किसी अतिरिक्त तत्व की योजना नहीं हुई है। मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार क्रमशः बनमानुसों से हुई है यह अब अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है और आदिम क्षुद्र जीवों से लेकर मनुष्य तक की शृंखला दिखाई जा चुकी है।

उपसंहार

प्रकृति परिज्ञान की उन्नति होने से इधर जगत्संबंधी बहुत से गुप्त भेद खुल गए हैं। अब केवल परमतत्व का भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्व कहते हैं और भक्तजन ईश्वर या कर्ता कहते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान की अपूर्व उन्नति से इस 'परमतत्व का भेद' खुल गया है अथवा कुछ खुलनेवाला है? इस अंतिम प्रश्न के विषय में यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिस प्रकार ढाई हजार वर्ष पहले के तत्वज्ञों

के सामने था। बल्कि यों कहना चाहिए कि इधर इस परमतत्व के अनेकानेक व्यक्त रूपों का जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है, उसके दृश्य व्यापारों का जितना ही अधिक पता हमें लगता जाता है उतना ही उसका रहस्य हमारे लिये अभेद्य और अपार होता जाता है। वही कहावत है कि 'ज्यों ज्यों भीजै कामरी त्यों त्यों भारी होय।' इस नामरूपात्मक दृश्य जगत् की ओट में वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर इस 'वस्तुतः' के फेर में हम क्यों पड़ने जायँ, उसके लिये हम क्यों हैरान रहें जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व तक है या नहीं। अतः इस काल्पनिक 'वास्तव सत्ता' के पीछे 'कल्पनात्मक दार्शनिक' ही पड़े रहें, हमें 'सच्चे वैज्ञानिकों' के समान प्रकृति के संबंध में अपने उत्तरोत्तर बढ़ते हुए ज्ञान पर आनंद मनाना चाहिए।

वर्तमान समय में सबसे बड़ी बात यह हुई कि द्रव्य और शक्ति की अचरता सिद्ध हो गई। परमतत्व नित्य गतिशील और परिवर्तनशील है अतः विकास का चक्र भी नित्य और विश्वव्यापी है। संपूर्ण विश्व इस विकास नियम का वशवर्ती है। कोई वस्तु इससे परे नहीं, अतः प्रकृति की अद्वैत सत्ता हमें माननी पड़ती है। हमारा यह अद्वैतवाद इस बात की स्पष्ट घोषणा करता है कि समस्त जगत् प्रकृति के अटल और शाश्वत नियमों पर चल रहा है। हमारे इस अद्वैतवाद द्वारा द्वैतभावापन्न दार्शनिकों के पुरुषोत्तम रूप ईश्वर, आत्मा के अमरत्व और आत्मस्वातंत्र्य इन तीन वितंडावादों का खंडन हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि हममें से बहुतों का उन देवताओं के सब दिन के लिये बिदा हो जाने पर बहुत दुःख होगा जो हमारे पुरखों को इतने प्रिय थे। उनका वियोग हमें बहुत दिनोंतक खटकेगा। पर अब यह समझ कर ढाढ़स बाँधना होगा कि पुरानी बातें सब दिन नहीं बनी रह सकतीं।

दुःख की कोई बात भी नहीं है। यदि परोक्षवाद और अंधविश्वास की पुरानी इमारत गिरी तो उसके स्थानपर विज्ञान की नई नींवँपर प्रकृति का भव्य और विशाल मंदिर खड़ा हुआ। यदि 'पुरुषविशेष ईश्वर, आत्मस्वातंत्र्य और अमरत्व' का विश्वास हमने खोया तो उसके स्थानपर 'सत्य, सत्व और रजस् अर्थात् सौंदर्य' की उपासना का प्रकृत धर्म स्थापित हुआ।

अबतक जो कुछ कहा गया उससे हमारे विज्ञानानुमोदित तत्वाद्वैतवाद की व्याख्या स्पष्ट रूप से हो गई। इस अद्वैततत्ववाद का आजकल के प्रायः उन सब वैज्ञानिकों ने अनुमोदन किया है जिनमें सुसंगत सिद्धांत स्वीकार करने का साहस है। पर अब भी बहुत से ऐसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता हैं जो द्वैतभाव को नहीं छोड़ सके हैं; जो द्रव्य और शक्ति, शरीर और आत्मा, जगत् और ईश्वर, प्रकृति और पुरुष को परस्पर भिन्न और स्वतंत्र कहते चले जाते हैं। इस दशा में भी इस बात की पूरी आशा है कि इस विरोध का आगे चलकर बहुत कुछ परिहास हो जायगा और अंत में एक अखंड, अद्वितीय सत्ता सब को मान्य होगी। सबसे विलक्षण बात तो यह है कि अधिकांश तत्ववेत्ता एक ओर तो प्रत्यक्षाश्रित विशुद्ध ज्ञान को स्वीकार करते जाते हैं, दूसरी ओर संस्कारवश परोक्षवाद और अंधविश्वास के लिये मार्ग ढूँढ़ते रहते हैं। पर विज्ञान द्वारा नए नए रहस्यों के उद्घाटन से हमारा प्रकृतिसंबंधी ज्ञान दिन दिन बढ़ रहा है, जिससे आशा होती है कि यह विरुद्ध स्थिति न रहेगी, और एक ही अद्वितीय विश्व की भावना के भीतर सब भेदों का अंतर्भाव हो जायगा।

———